कविवर रत्नाकर

(बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की रचनाओं का
आलोचनात्मक परिचय)

लेखक—

पं० कृष्णशंकर शुक्ल एम. ए.

प्रकाशक

देवेन्द्रचन्द्र विद्याभास्कर

विद्याभास्कर बुकडिपो

ज्ञानवापी बनारस सिटी

प्रथम संस्करण   सम्वत् १९९२   मूल्य २।)

प्रकाशक—

देवेन्द्रचन्द्र विद्याभास्कर

विद्याभास्कर बुकडिपो

ज्ञानवापी, बनारस सिटी।

मुद्रक—

बजरंगबली "विशारद"

श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी।

उपक्रमणिका

कविवर रत्नाकर

काव्य-भूमि

हमारा मानस भावनाओं से तरल रहता है। कुछ बाह्य परिस्थितियाँ अपने आघात से उसमें आंदोलन तथा गति उत्पन्न कर देती हैं। जब आघात साधारण होता है तो छोटी-छोटी लोल लहरियाँ ही उठ कर रह जाती हैं। जब उस आघात का स्वरूप गंभीर होता है तो संपूर्ण मानस चंचल तथा आंदोलित हो उठता है। बड़ी-बड़ी लहरें एक दूसरी से टकराती हुईं उमड़ने लगती हैं। ये आघात पहुँचाने वाली परिस्थितियाँ क्या हैं? हमने अपने स्वतंत्र अस्तित्व के अभिमान के सूत्र को पकड़ कर चक्कर काटते-काटते अपने चारो ओर एक घेरा सा बना लिया है जिसके भीतर आनेवालों को हम अपना

कहते हैं कुछ हमारे कुटुंबी हैं, जैसे माता पिता, पुत्र पौत्र आदि। कुछ हमारे बंधु-बांधव तथा इष्ट-मित्र हैं। इन अपनों पर पड़नेवाली दुःखद परिस्थितियों से हम क्षुब्ध हो उठते हैं। इनके सुख से हम आनंदित होते हैं। संक्षेप में, अपने प्रियजनों की इष्टानिष्ट अवस्थाओं से हम प्रभावित होते रहते हैं।

उसी अहंकार के सहारे हमने अपना एक और जगत् बनाया है जिसमें वे लोग रहते हैं जिनसे हम घृणा अथवा वैर करते हैं और जिनके अनिष्ट करने को हम तत्पर रहते हैं। इस प्रकार हमने मित्रों और शत्रुओं के रूप में अपने चारो ओर दो घेरे बना लिए हैं। दोनों के भीतर हमारे अपने लोग निवास करते हैं। भेद इतना ही है कि कुछ हमारे प्रिय हैं तथा कुछ अप्रिय। कुछ मित्र तथा बंधु, कुछ शत्रु आदि। कुछ के सुख से हम सुखी होते हैं। कुछ की विपत्तियों से भी हम दुखी नहीं होते, प्रत्युत, कभी-कभी तो आनंदित भी होते हैं।

इसी प्रकार अहंकार प्रेरित घेरे पशु जगत् में भी होते हैं। भेद इतना ही है कि हमारे घेरे अपेक्षाकृत बड़े तथा विस्तृत होते हैं; पशु पक्षियों के छोटे तथा संकुचित। पर उनके भीतर मोह समान रूप से काम करता है। अपनापन वहाँ भी वैसा ही है जैसा हमारे यहाँ। जिस प्रकार हम अपने बालक के लिए सुखद परिस्थितियों के उत्पन्न करने में तथा दुःखद परिस्थितियों के बचाने में या दूर करने में लगे रहते हैं उसी प्रकार वृक्षों की टहनियों में रहनेवाले पक्षी भी। प्रभात होते ही वे चहचहाते हुए दाने लाने को उड़ जाते हैं तथा

लौट कर बड़े लाड़ से अपने चंचुपुट से अपने बच्चों को चुगाते हैं। हमलोगों के लिये भयानक प्रतीत होती हुई बाघिन भी अपने बालक की माता ही है। सिंह के बालक को भी अपनी माँ से वैसा ही लाड़ प्राप्त होता है जैसा मनुष्य के बच्चों को। यह पशुओं तथा पक्षियों के प्रेम का संसार है। इसके अतिरिक्त उनका भी एक वैर का संसार है जिसके भीतर अप्रिय, शत्रु आदि निवास करते हैं। अपने बालक को दुलार करते समय भोली सी प्रतीत होती हुई सिंहनी अपने शत्रुओं के सामने अपनी मातृ-सुलभ कोमलता छोड़ भयानक बाघिन हो जाती है। उसी प्रकार पक्षी भी अपने शत्रुओं को पह-चानते हैं और अवसर अनुसार आक्रमण करने से नहीं चूकते। जो दुर्बल होने के कारण आक्रमण में समर्थ नहीं हैं वे भी कम से कम अपने को बचाने ही में यत्नशील रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इष्टानिष्ट विशेषणा विशिष्ट जगत् का जाल जैसा हमारे चारो ओर फैला है वैसा ही पशु-पक्षियों के चारो ओर भी। हमारा जाल कुछ विस्तृत है, उनका कुछ संकुचित। भेद मात्रा में है, प्रेरक निमित्त में नहीं। यदि मनुष्य कहलानेवाले यहाँ विश्राम ले लेते हैं तो हमें कहना होगा कि वे पशुओं से बहुत आगे नहीं बढ़ पाए हैं। पर सौभाग्य से ऐसा नहीं है। मनुष्यों ने इस अहंकार प्रेरित जगत् के साथ ही एक और पवित्र जगत् की सृष्टि की है। पर यह सृष्टि कृत्रिम नहीं है। जैसे पशुओं के लिए उनका जगत् स्वाभाविक है वैसे ही मनुष्यों के लिए यह जगत्। अपने भावनामय स्वभाव की प्रेरणा से हम एक अद्भुत सृष्टि रचते

हैं जिसमें पहुँच कर हमारा स्वतंत्र अस्तित्व मग्न हो जाता है तथा हमारे जगत् की व्याप्ति उतनी ही हो जाती है जितना इस विश्व का तथा हमारी कल्पना के द्वारा प्रस्तुत किए हुए जगत् का विस्तार है। इस ऊँची भूमि पर पहुँचकर हम पशु जगत् से बहुत ऊपर उठ जाते हैं।

उस जगत् का स्वरूप कैसा है ? पहले हमें यह देख लेना है कि मनुष्य स्वभाव में कुछ भावात्मक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो पशु जगत् में नहीं पाई जातीं। जब तक हम अपना तथा अपने बंधुओं का अनिष्ट करनेवाले को शत्रु समझते हैं तब तक हम उसी भूमि पर हैं जहाँ पशु पत्ती हैं, पर जब हम उस व्यक्ति को मारने को झपटते हैं जिसने किसी अनाथ बालक या अनाथा अबला का अनिष्ट किया है तो हम उस सामान्य भाव-भूमि पर आते हैं जहाँ मनुष्यता निवास करती है तथा जहाँ पशुता—चाहे वह पशुओं की हो चाहे मनुष्यों की—कभी आ ही नहीं सकती। इसी प्रकार प्रेम, अमर्ष, जुगुप्सा, हास्य, वात्सल्य इत्यादि अन्य भावों की सामान्य भाव-भूमि है जिसमें मनुष्यता अपने सुंदर क्षणों में विचरण किया करती है। पत्ती केवल अपने बच्चों को दाना चुगाते हैं पर हम, जब किसी अपरिचित के भी सुंदर बालक को देखते हैं तो लाड़ से उसे गोद में उठा लेते हैं। कभी कभी तो ऐसा होता है कि हम अपने शत्रु के, जिसने हमारे अनिष्ट ही किए हैं तथा जो हमें अपमानित करने को सदा प्रस्तुत रहता है, बालक को देखकर गोद में उठा लेने को आतुर हो उठते हैं। यहाँ हम पशुओं से ही आगे नहीं

बढ़ जाते प्रत्युत देवताओं को भी बहुत पीछे छोड़ देते हैं। पशु केवल अपना अनिष्ट करनेवाले को शत्रु मानते हैं पर मनुष्य प्रत्येक अन्यायी अत्याचारी को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसी प्रकार और भावों में भी। अब हम सामान्य भाव-भूमि तक पहुँच गए। स्वतंत्र अभिमान से प्रेरित भाव-भूमि संकुचित थी, वहाँ केंद्र में हम बैठे थे। पर अहंकार को छोड़ कर अथवा उसका इतना विस्तार कर कि उसके भीतर संपूर्ण विश्व आ सके हम सामान्य भाव-भूमि पर आते हैं। इन सब बातों का काव्य से क्या संबंध है? हमें काव्य-भूमि का स्वरूप जानना अभीष्ट है क्योंकि हम किसी कवि की कृतियों का अध्ययन करने को अग्रसर हो रहे हैं। अब हम काव्य-भूमि के स्वरूप के बहुत पास तक पहुँच गए हैं। यही सामान्य भाव-भूमि काव्यभूमि है। काव्य हमें सामान्य भाव-भूमि तक पहुँचाता है। कवि हमें हाथ पकड़ कर अहंकार जनित संकुचित क्षेत्र से बाहर निकालता है और क्रमशः ऊपर चढ़ाता हुआ वहाँ ले चलता है जहाँ हम स्वच्छ वायु में साँस लेने लगते हैं। फिर सब अपने से लगने लगते हैं। तात्पर्य यह कि जिस अनुभूति तक ज्ञानी साधक बुद्धि के द्वारा उन्मुख होता है उसी तक काव्य-प्रेमी भावना के प्रसार के द्वारा पहुँचता है। इसीलिए न काव्यानंद को 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' कहा गया है!

पर कुछ लोगों को अपने छोटे जगत् का इतना मोह होता है कि वे बाहर आ ही नहीं सकते। इन्हीं को तपस्वी भर्तृहरि ने बिना पूँछ और सींग का पशु कहा है। इस कथन में केवल काव्य की

अतिशयोक्ति ही नहीं है, सूक्ष्म विचार-धारा भी है। अभावुक तथा असहृदय व्यक्ति वास्तव में पशु ही हैं क्योंकि वे उसी छोटे संसार में क्रीड़ा किया करते हैं जिसमें अन्य पशु तथा पक्षी समूह।

किसी कवि विशेष की कविताओं का अध्ययन करते समय हमें यही देखना है कि वह उनके द्वारा हमें सामान्य भाव-भूमि तक पहुँचाने में कहाँ तक समर्थ हुआ है अर्थात् सामान्य भावालंबन प्रस्तुत कर हमें कितने भावों में तथा कितनी गंभीरता तथा तन्मयता से मग्न करने में सफल हुआ है। उसके द्वारा प्रस्तुत की गई काव्य सामग्री से हमारे मानस में कहाँ तक आन्दोलन उठते हैं तथा उनका विस्तार कितना तथा वेग कैसा है ? हमें यह भी देखना होगा कि वह किसी विशेष भाव-धारा के अंतर्गत आनेवाली कितनी वृत्तियों का निरीक्षण तथा अभिव्यंजन कर सकता है। ये सब कवि के साध्य हैं। इनके साथ ही हमें कवि के साधनों का भी अध्ययन करना होगा। उसने भावाभिव्यंजन के लिए कैसी शैलियों का अनुसरण किया है ? हमें देखना होगा कि कवि की कला के साधनीभूत उपादान क्या हैं ? इसीलिए सबसे पहले हम रत्नाकर जी की प्रमुख अभिव्यंजन शैलियों के अध्ययन की ओर अग्रसर होते हैं।

अभिव्यंजन शैलियाँ

कवि का लक्ष्य अपने पाठकों के हृदय में कुछ भावों का उद्रेक करना है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसके साधन क्या हैं? आचार्यों ने कहा है कि रस तथा भाव व्यंजना सिद्ध हैं, व्यंग्य हैं। ऐसा कहने से उनका यह तात्पर्य नहीं है कि तात्पर्यादि वृत्तियों में परिगणित व्यंजना नामक वृत्ति से ही रस निष्पत्ति होती है। इसमें संदेह नहीं कि व्यंजना वृत्ति से कवि को बहुत सहायता प्राप्त होती है; पर आचार्यों का तात्पर्य उन संपूर्ण युक्तियों से है जिनसे काम लेने से कवि अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। वे संपूर्ण युक्तियाँ न गिनी जा सकी हैं न गिनी जा सकेंगी। कुशल तथा भावुक कवि अपनी प्रतिभा तथा कल्पना के बल नित्य नई युक्तियाँ निकालते रहेंगे। पर कुछ मूल युक्तियों की ओर संकेत अवश्य किया जा सकता है जिनके मार्गदर्शक सूत्र को पकड़ कर कवि आगे बढ़ते हैं।

कवि को जीवन तथा प्रकृति के अध्ययन से सहायता मिलती है। जिन विधानों से हम अपने जीवन में भाव ग्रहण करते हैं उन्हीं विधानों की काव्योचित प्रतिष्ठा कर कवि अपना कार्य सिद्ध करते हैं। क्रोधाविष्ट व्यक्ति यदि अपने क्रोध की घोषणा न भी करे तो भी हम जान लेते हैं कि उसे क्रोध है। किसी के हृदय की प्रसन्नता को

भी हम मुँह देख कर ही समझ लेते हैं। इसी प्रकार और भावों को भी हम मुखाकृति आदि से ही पहचान लेते हैं। हरिश्चन्द्र काव्य का एक प्रसंग ले लीजिए। एक दिन नारद मुनि इंद्र की सभा में पहुँचे। राजा हरिश्चंद्र के उदार चरित्र से उनको अत्यन्त हर्ष था। उस हर्ष का उनके मुख पर भी इतना प्रभाव पड़ा कि इंद्र ने देखते ही पूछा :—

पुनि पूछ्यौ सुरराज "आज मुनि आवत कित तैं।
लोकोत्तर आह्लाद परत छलक्यौ जो चित तैं॥"

नारद को भी इंद्र के इस प्रश्न के उत्तर में कहना पड़ा:—

"अहो सहस-दृग साधु! बात साँची अनुमानी।"

जिस प्रकार इंद्र ने मुखाकृति से ही हृदय की प्रसन्नता को समझ लिया, उसी भाँति अन्य जन भी कर सकते हैं। हृदय के भाव तो स्वयं छलकने लगते हैं। मुख ही नहीं, हमारे संपूर्ण शरीर की चेष्टाएँ हमारा भेद खोल देती हैं। भारतीय दृष्टि ने इन दशाओं का जितना अध्ययन तथा निरीक्षण किया है उतना यूरोप के कवि नहीं कर सके। अनुभावों की योजना में जितनी सूक्ष्मता हमें प्राप्त हुई उतनी संसार की कम जातियों को प्राप्त हुई होगी। उदाहरण के लिए हम क्रोध ही को ले लें। अँगरेजी कवियों ने प्रायः क्रोध दशा में मुख के लाल होने तथा उग्र वचन कहने आदि ही का वर्णन किया है। पर हमारे यहाँ के कवियों ने नेत्रों के लाल होने, भृकुटियों के मिल जाने, मस्तक पर सिकुड़न पड़ने, नथुनों के फूल जाने, शरीर के काँपने, ओंठों के फड़कने, पैरों के पटकने, हाथ

मलने इत्यादि अनेक अनुभावों का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण कर काव्य में उपयोग किया है। रत्नाकर जी की दृष्टि अनुभावों के निरीक्षण करने में बहुत सफल रही है। यों तो संख्या गिनाने को अनेक कवियों ने इनकी योजना की है, पर परंपरा पालन रूप में। रूढ़ि का अंध अनुसरण करनेवालों की रचना में वह बात नहीं आ पाती। स्वतंत्र अनुभूति तथा निरीक्षण से प्राप्त योजना में स्वाभाविकता तथा प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। सुने सुनाए अनुभावों की योजना करने में वह बात कहाँ आ सकती है जो आँखें खोलकर स्वयं निरीक्षण करनेवाले की कृतियों में। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अनुभावों की सफल योजना करने में हिंदी के बहुत कम ही कवि रत्नाकर जी से आगे बढ़ पाए होंगे। कितने कवि इनसे पीछे छूट गए हैं कह कर झगड़ा कौन मोल ले। कवि की इस विशेषता का अध्ययन भाव-व्यंजना के अध्ययन के प्रसंग में होगा। पर यहाँ भी कुछ उदाहरण देख लेना प्रासंगिक ही होगा। हरिश्चंद्र काव्य से देखिए। इंद्र ने अपना कार्य सिद्ध करने को विश्वामित्र के क्रोध को भड़का दिया। हमारे सामने बेचारा हरिश्चंद्र क्या है यह सोचते हुए विश्वामित्र क्रोध में भरे हुए अयोध्या की ओर जा रहे हैं। कवि ने क्रोध का नाम नहीं लिया। पर ऋषि जी की अवस्था को देख कर उनके हृदय में धधकने वाली क्रोधाग्नि को देखिए:—

"देखौ बेगिहि जौ ताकौ नहिं तेज नसावौं।
तौ पुनि पन करि कहौं न विश्वामित्र कहावौं"॥

यौं कहि आतुर दै असीस लै बिदा पधारे।
चपल धरत पग धरनि किये लोचन रतनारे॥

अब दूसरा प्रसंग देखिए। विश्वामित्र हरिश्चंद्र से संपूर्ण पृथ्वी का दान प्राप्त कर चुके हैं। अब दक्षिणा मागने का प्रसंग है। राजा ने अपने मंत्री को बुला कर एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा लाने की आज्ञा दी। संपूर्ण पृथ्वी के दान में महाराज का ख़ज़ाना भी दिया ही जा चुका है। तब फिर उनका उस पर क्या अधिकार रहा जो उसी में से अब मुद्राएँ देने की आज्ञा दे रहे हैं। बस ! विश्वामित्र इसी पर क्रुद्ध हो उठते हैं। उनका स्वरूप देखिए:—

यह लखि ऋषि बिकराल लाल लोचन करि बोले।
भृकुटी जुगल मिलाइ किये नासा - पुट पोले॥

हृदय की प्रसन्नता, उदारता आदि भी बाहर ही से लक्षित हो जाती हैं। सरस्वती प्रसन्न होकर अपने उपासक रत्नाकर को वर दे कर निहाल करने आ रही हैं। देखिए उनके भाव कैसे बाहर छलके पड़ते हैं:—

आवति गिरा है रतनाकर निवाजन कौं,
आनँद-तरंग अंग ढहरति आवै है।
हिय-तमहाई सुभ सरद-जुन्हाई सम,
गहब गुराई गात गहरति आवै है।
बर बरदाननि के बिबिध बिधाननि के,
दान की उमंग धुजा फहरति आवै है।

लहरति आवै दृग कोरनि कृपा की कानि,
मंद मुसकानि-छटा छहरति आवै है।

और देखिए। भक्त अपने प्रभु को अन्य भक्तों के दुःख दूर करने में लगा देख कर अपनी दुःख गाथा नहीं सुनाता। पर प्रभु उसकी उदास मुखाकृति से ही सब समझ लेते हैं। इस चित्र में भक्त तथा प्रभु दोनों के हृदयों को स्पष्ट देख लीजिए। कवि ने केवल आकृति के चित्रण तथा भाव प्रेरित स्वाभाविक कार्य कलापों की योजना से भावों को हमारे सामने प्रत्यक्ष खड़ा कर दिया है:—

याही तैं हँकारत हुते ना हनुमान होति
हलबल भारी तुम्हैं जन-रखवारी मैं।
कहै रतनाकर पै आनन उदास चाहि
लीनी थाहि बात जो न सकुचि उचारी मैं॥
कर भुजदंडनि न फेरौ औ न हेरौ गदा
इतनौ बखेरौ ना हिमायत हमारी मैं।
दलिमलि जाइहैं विपच्छिनि के पच्छ सबै
तनक सरीखी तीखी ताकनि तिहारी मैं॥

गंगा बड़े वेग से आकाश से नीचे उतर रही हैं। चारो ओर महा मेघों के एक साथ गर्जने का-सा घोर शब्द भर गया है। देवता आदि सब डर गए हैं। नीचे सुर-सुंदरियों की भय-मुद्राओं को देखिए जो आँखें फाड़-फाड़ कर घबड़ाई हुई इधर-उधर देख रही हैं। वे कानों पर हाथ रखकर अपने पुण्यों का स्मरण कर रही हैं:—

सुर-सुंदरी ससंक बंक दीरघ दृग कीने।
लगीं मनावन सुकृत हाथ काननि पर दीने॥

जब पशु डर जाते हैं तो अपने पिछले पैरों के बीच पूँछ दबा-कर कान ऊपर को उठाए हुए भागने लगते हैं। रत्नाकर जी पशु जगत् में प्राप्त भावानुभावों का निरीक्षण करने में भी चूके नहीं हैं। देखिए जिस डर से सुर-सुंदरियाँ कानों पर हाथ रखे हैं उसी से व्याकुल पशु क्या कर रहे हैं:—

बिसद बितुंड दबाइ कुंडलित सुंड भुसुंडनि।
भय भरि नैन भ्रमाइ धाइ पैठत जल-कुंडनि॥
चीते तिंदुवे बाघ भभरि निज आघ भुलाए।
जित तित दौरत दाबि पुच्छ अरु कान उठाए।

पक्षियों में भी अनुभाव होते हैं। देखिए गंगावतरण में अंशु-मान की वाणी सुन कर गरुड़जी क्या कर रहे हैं:—

अंसुमान की मंजु बचन-रचना चतुराई।
सुनि खगपति मति-सींव फड़कि धुनि ग्रीव हलाई॥

सात्विकों से भी—जिन्हें आचार्यों ने केवल विवेचन सौकर्य के लिए अलग माना है, पर जो अनुभाव ही हैं—हृदय के भावों का प्रत्यक्षीकरण होता है। पर इनकी योजना के लिए भी एक विशेष कौशल अपेक्षित है। कुछ कवियों ने इनकी समुचित योजना पर ध्यान न देकर अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं इनकी प्रदर्शनी लगाई है। देव ने तो अपने एक कवित्त में संपूर्ण सात्त्विकों तथा एक दूसरे में तेंतीसो संचारी भावों को ठूँस-ठूँस कर भर दिया है। पर

ऐसी अस्वाभाविक योजना से काव्य-कला कोई संबंध नहीं रखती। रत्नाकर जी ने सात्विकों की स्वाभाविक योजना का बड़ा ध्यान रखा है तथा जिस कार्य को साधारण कवि सारी करामातें दिखा कर भी नहीं कर पाते उसे अपने सूक्ष्म कौशल से संपन्न कर लिया है।

हृदय के शोक, पीड़ा, हर्ष व्याकुलता आदि को आँसू कितनी सरलता तथा निष्कपटता से प्रकट कर देते हैं। जो काम वाणी नहीं कर पाती उसे पानी की छोटी छोटी बूँदें कर लेती हैं। इतना ही नहीं, आँसू शोक आदि भावों को प्रकट करने के साथ ही दर्शक के हृदय पर प्रभाव डालते हैं। दर्शक केवल यही नहीं जान लेता कि अमुक को दुःख है, वह उस दुःख से स्वयं दुखी होता है तथा प्रायः उस दुःख को दूर करने का भी प्रयत्न करता है। कभी कभी किसी के मुख से कही हुई दुःख गाथा पर हमें विश्वास नहीं होता, पर उसी को जब कुछ क्षणों के पश्चात् हम फूट फूट कर रोते देखते हैं तो हमें उसके दुःख का पूर्ण निश्चय हो जाता है। यह बात दूसरी है कि झूठमूठ इच्छानुसार कृत्रिम आँसू बहा कर काम चलाने वालों के संपर्क में आते आते अब लोग कुछ अधिक सतर्क हो चले हैं। रत्नाकर जी ने आँसुओं से अपनी भाव-व्यंजना में बहुत सहायता ली है। कुछ उदाहरण देख लेना उचित होगा। कृष्ण उद्धव से गोपियों के प्रेम की बातें कहना चाहते हैं। पर यह निश्चय नहीं कर पाते कि इस प्रेम-कहानी को कैसे तथा किन शब्दों में कहें। इस विकट स्थिति में आँसू उनकी सहायता करते हैं।

देखि दूरि ही तैं दौरि पौरि लगि भेंटि ल्याइ,

आसन दै साँसनि समेटि सकुचानि तैं।

कहै रतनाकर यौं गुनन गुबिंद लागे

जौ लौं कछू भूले से भ्रमे से अकुलानि तैं॥

कहा कहैं ऊधौ सौं कहैं हूँ तौ कहाँ लौं कहैं

कैसैं कहैं कहैं पुनि कौन सी उठानि तैं।

तौलौं अधिकाई तैं उमगि कंठ आइ भिंचि

नीर ह्वै बहन लागी बात अँखियानि तैं॥

उद्धव गोपियों को ज्ञानोपदेश देने जा रहे हैं। कृष्ण उनके द्वारा अपना कुछ प्रेम-संदेश भेजना चाहते हैं। कंठ गद्गद हो जाता है, कुछ कह नहीं पाते हैं। पर आँखों का पानी वाणी बनकर सब बातें कह देता है। यदि उद्धव और कुछ न कह कर कृष्ण के नेत्रों के पानी की कही हुई मूक कहानी भी वल्लभियों से कह सके तो और संदेशे की आवश्यकता न रहेगी:—

बात चलैं जिनकी उड़ात धीर धूरि भयौ

ऊधौ मंत्र फूँकनि चले हैं तिन्हैं ज्ञानी ह्वै।

कहै रतनाकर गुपाल के हिये मैं उठी

हूक मूक भायनि की अकह कहानी ह्वै॥

गहबर कंठ ह्वै न कढ़न सँदेस पायौ

नैन-मग तौलौं आनि बैन अगवानी ह्वै।

प्राकृत प्रभाव सौं पलट मनमानी पाइ

पानी आज सकल सँवारयौ काज बानी ह्वै॥

कृष्ण ने यदि कुछ संदेश नहीं भेजा है तो गोपियाँ क्यों भेजने लगीं ! जिस प्रकार कृष्ण ने अपनी सारी वेदना आँसुओं से प्रकट कर दी उसी प्रकार गोपियाँ भी करती हैं। वे उद्धव से कहती हैं कि हमारा कोई संदेश जा कर मत कहना। बस, केवल जो दशा देखे जाते हो वही अनुकरण के द्वारा उन्हें दिखा देना।

औसर मिलै औ सर-ताज कछु पूछहिं तौ
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ।
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू
कहिबे कौं चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ॥

जब उद्धव कृष्ण के पास पहुँचते हैं तो वे भी संकेतों ही से व्रज की कुशल पूछते हैं। देखिए इस कुशल प्रश्न की शैली—

आप दौरि पौरि लौं अवाई सुनि ऊधव की
और ही बिलोकि दसा दृग भरि लेत हैं।
कहै रतनाकर बिलोकि विलखात उन्हैं
येऊ कर काँपत करेजैं धरि लेत हैं।
आवत कछूक पूछिबे औ कहिबे की मन
परत न साहस पै दोऊ दरि लेत हैं।
आनन उदास साँस भरि उकसौंहैं करि
सौंहैं करि नैननि निचौंहैं करि लेत हैं॥

कृष्ण तथा उद्धव दोनों एक दूसरे की मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन सूक्ष्म पर सार्थक बाह्य संकेतों से कर लेते हैं। इन संकेतों में कुछ तो कृतिसाध्य हैं जैसे हृदय पर हाथ रखना। पर अनेक

अयत्नज हैं जिन्हें मनुष्यों ने प्रकृति के मुक्तहस्त दान के रूप में पाया है तथा जो हमारे जीवन की सुकुमार अवस्थाओं में हमारी सहायता करते हैं। कुशल कवि इनका अनुकरण कर अपनी भाव-व्यंजना की आकांक्षा की पूर्ति करते हैं। गोपियों ने कृष्ण से संदेश कहने का जो प्रकार बताया था उसे उद्धव कितनी निष्कपटता से पूरा करते हैं:—

आँसुनि की धार और उभार कौं उसाँसनि के
तार हिचकीनि के तनक टरि लेन देहु।
कहै रतनाकर फुरन देहु बात रंच
भावनि के विषम प्रपंच सरि लेन देहु॥
आतुर ह्वै और हू न कातर बनावौ नाथ
नैसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु।
कहत अबै हैं कहि आवत जहाँ लौं सबै
नैंकु थिर कढ़त करेजौ करि लेन देहु॥

उद्धव की यह दशा देख कर आगे समाचार पूछने की आवश्यकता ही न रह गई होगी। किसी-किसी रचना में रत्नाकर जी ने एक साथ ही अनेक सात्विकों तथा अनुभावों की योजना की है पर कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। जब एक ही आलंबन में गिनती गिनाने को एक साथ ही अनेक सात्विकों की प्रदर्शनी की जाती है तो अस्वाभाविकता आ ही जाती है। पर नीचे अनेक गोपियों की दशा का वर्णन होने से—आलंबन भिन्न-भिन्न होने से—वर्णन स्वाभाविक ही हुआ है।

सुनि-सुनि ऊधव की अकह कहानी कान
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहिं थिरानी हैं।
कहै रतनाकर रिसानी, बररानी कोऊ
कोऊ बिलखानी, बिकलानी, बिथकानी हैं॥
कोऊ सेद-सानी, कोऊ भरि दृग पानी रहीं
कोऊ घूमि-घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं।
कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि बिललानी कोऊ
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी हैं॥

ऐसी ही कुछ दशा उद्धव के बिदा होते समय हुई थी। यहाँ परंपरा से प्राप्त कुछ अनुभावों की कवायद पूरी नहीं की गई है, प्रेम से आर्द्र-हृदय गोपकन्याओं तथा गोपों की सारी वेदना सामने कर दी गई है जिससे पाठक उसे कवि से केवल सुन ही न लें अपनी आँखों से देख लें। कहने की आवश्यकता नहीं, ऐसी आँखें केवल सहृदयों ही को प्राप्त रहती हैं। हृदयहीनों के सामने कवि भी बेचारा लाचार ही हो जाता है। अब उस दृश्य को देखिए:—

कोऊ चले काँपि संग कोऊ उर चाँपि चले
कोऊ चले कछुक अलापि हलबल से।
कहै रतनाकर सुदेस तजि कोऊ चले
कोऊ चले कहत सँदेस अबिरल से॥
आँस चले काहू के सु काहू के उसाँस चले
काहू के हियै पै चंदहास चले हल से।

ऊधव कैं चलत चलाचल चली यौं चल
अचल चले औ अचले हू भए चल से॥

रत्नाकर जी की काव्य-कला की दूसरी विशेषता उनकी चित्र प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता है। कवि स्वयं काव्य-मंच से दूर हट कर खड़ा हो जाता है तथा उन पुरुषों तथा स्त्रियों को सारी गोचर विशेषताओं के साथ, हमारे सामने लाकर खड़ा कर देता है जिनके भावों की व्यंजना अपेक्षित है। वे चित्र इतने पार-दर्शक होते हैं कि ऊपर के आवरण के भीतर से हृदय भी स्पष्ट झलकने लगता है। इन चित्रों के हम तीन विभाग कर सकते हैं। किसी भी भाव के लिए आलंबन आवश्यक होता है, पर सब भावों में आलंबन का महत्व एक-सा नहीं होता। कुछ रसों में-जैसे शृंगार, हास्य आदि में—व्यंजना आलंबन के प्रत्यक्षीकरण पर अधिक निर्भर रहती है। कुछ रसों में आलंबन का महत्व अपेक्षाकृत न्यून होता है, यहाँ कभी-कभी तो आलंबन केवल निमित्त मात्र होता है। इन सब बातों का अधिक विचार भाव-व्यंजना के प्रकरण में आवश्यक होगा। यहाँ तो केवल इतना जान लेना है कि कुछ रसों में व्यंजना के लिए आलंबन ही का मुख्य महत्व है। यदि कवि केवल उसको ही पाठकों के सामने उपस्थित कर सके तो वह अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है। ऐसे अवसरों पर कवि ने जो चित्र उपस्थित किए हैं उन्हें हम आलंबन-चित्र कहेंगे; इनमें कवि का उद्देश्य आलं-बन का बाह्य-स्वरूप उपस्थित करना मात्र रहता है। इसके सहारे पाठकों के हृदयों में कुछ भाव उत्पन्न होते हैं। दूसरे प्रकार के

चित्रों को हम भाव-चित्र कह सकते हैं। इनमें कवि को आलंबन की बाह्य रूप-रेखा प्रस्तुत करने के साथ ही हृदय की भाव-धाराओं को भी प्रत्यक्ष करना पड़ता है। इन भाव चित्रों के दो स्पष्ट विभाग हैं। एक में कवि आलंबनों को सात्विकों अनुभावों आदि की पूरी योजना के साथ हमारे सामने उपस्थित करता है। पर अनेक भाव ऐसे हैं जिनमें सात्विक, अनुभाव आदि उतने स्पष्ट नहीं होते फिर भी हृदय की विशेषताएँ कुछ साधारण पर सार्थक चेष्टाओं से प्रकट हो जाती हैं। अब हम उदाहरणों के द्वारा रत्नाकर जी के तीनों प्रकार के चित्रों का कुछ विशेष परिचय प्राप्त करें। वे विभाग ये ही हैं :—
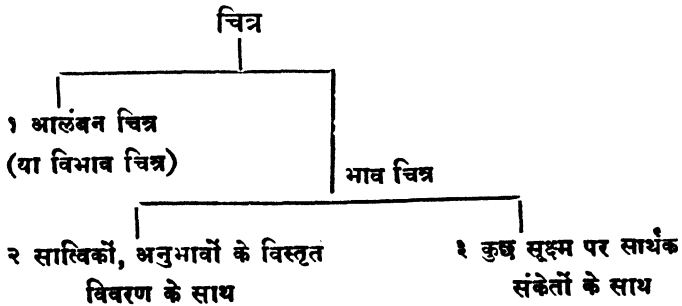
सबसे प्रथम हम रत्नाकर जी के विभाव चित्रों को लेते हैं जिनका नाम हमने आलंबन चित्र रखा है। सहृदयों के समक्ष बार-बार कहने की आवश्यकता नहीं कि कोई भी स्त्री यों हो शृंगार रस का आलंबन नहीं हो सकती। आलंबन होने के लिए रूप-संपत्ति की साधारण विशेषताओं के साथ कुछ और भी आवश्यक है। वह 'और' क्या है यह

अनिर्वचनीय है; उसमें सहृदयों के हृदय पर कुछ और ही प्रभाव डालने की शक्ति होती है। उस विशेषता का कुछ आभास बिहारी ने 'अनियारे दीरघ दृगनि' दोहे से दिया है।

कवि उस विशेषता को स्पष्ट करता है। देखने के या मुसक्याने के विशेष ढंग पर ध्यान ले जाता है। आचार्यों ने उन विशेषताओं का कुछ संकेत अयत्नज सात्विक अलंकारों में दिया है। ये अलंकार या विशेषताएँ शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य हैं। इन सातों के साथ ही भाव, हाव, हेला इन तीनों अंगज अलंकारों को भी ले लेते हैं। इन सबके चित्रण से कवि अपने चित्रों को पूरा करता है। इन सबका विशेष संबंध श्रृंगार रस से ही है अतः हम यहाँ केवल अपने काम भर की बातें देख आगे बढ़ें। इन अलंकारों का विशेष चमत्कार स्त्रियों में ही माना जाता है। पर जब से हिंदी कवियों की कृपा से कन्हैया नायक बन कर सामने आए तब से तो पुरुष ही आलंबन रूप में प्रतिष्ठित होने लगा तथा इन चेष्टाओं या स्वाभाविक विशेषताओं का वर्णन नायकों में भी होने लगा। रत्नाकर जी द्वारा अंकित कन्हैया को देखिए:—

सिंह-पौर सज्जित सौं लज्जित करत काम
बैन अभिराम स्याम जमकत आवै है।
कहै रतनाकर कृपा की मुसक्यानि मढ़्यौ
आनन अनूप चारु चमकत आवै है॥
माते मद-गलित गयंद लौं सु मंद-मंद
चलि चलि ठाम ठाम ठमकत आवै है।

दमकत दिव्य दिपत अनूप-रूप
झाँझरी मुकुट भूमि झमकत आवै है ॥

———

आवै इठलात नंद-महर-लड़ैतो लखि,
पग पग भाइ भीर अटकति आवै है।
रूप-रस-माती चारु चपल चितौनि कुल,
गैल गहिबे कौं हठि हटकति आवै है ॥
अवनि-अकास-मध्य पूरि दिग-छोरनि लौं,
छहरि छबीली छटा छटकति आवै है।
मटकत आवै मंजु मोर कौ मुकुट माथैं,
बदन सलोनी लट लटकति आवै है ॥

प्रथम प्रकार के भाव चित्रों के—जिनमें सात्विकों अनुभावों आदि की पूरी योजना रहती है—अनेक उदाहरण पाठकों को रत्नाकर जी की रचनाओं में स्थान स्थान पर मिलेंगे। यहाँ केवल भगवान् शंकर के दर्शन कर लीजिए जो आँखें बन्द-सी किए हुए मधुबन में कन्हैया की मधुर झाँकी ले रहे हैं। उनके हृदय का आनंद तो बाहर छलका पड़ता है। आनंद-मग्न व्यक्ति की मुद्राओं, चेष्टाओं आदि का कवि ने कैसा सूक्ष्म तथा सच्चा निरीक्षण किया है:—

डारे कहूँ शृंगी भृंगी-गन गुनि टारे कहूँ,
बरद बिचारे कौं बिसारे बिचरन मैं।

आनँद-अपार-पारावार के हलोरनि मैं,
दौरि डगमग पग धारत लगन मैं॥
पुलक गँभीर प्रेम-बिह्वल सरीर छुए,
नीर, अधखुले अनिमेष दृग-तन मैं।
चूमि चटकाइ अँगुरीनि रस-घूमि झूमि,
झाँकी लेत ललकि पिनाकी मधुबन मैं॥

दूसरे प्रकार के भाव-चित्रों को कवि कुछ सूक्ष्म सार्थक रेखाओं से अंकित करता है। इनके द्वारा व्यक्त किए गए भाव भी साधारण होते हैं। ये पाठक के हृदय को आंदोलित नहीं करते। केवल किसी पात्र विशेष के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव विशेष का ज्ञान ही करा कर रह जाते हैं। इन चित्रों को प्रस्तुत करते समय भी कवि को अपने निरीक्षण में सतर्क रहना पड़ता है। अनुभावादि समन्वित भाव-चित्रों में तो वह परंपरा से भी सहायता ले सकता है पर इन चित्रों को अंकित करते समय उसे अपने ही पर निर्भर रहना पड़ता है। दो एक चित्र देखिए। गंगावतरण में अश्वमेध का प्रसंग है। महाराज को घोड़े के चोरी जाने का समाचार दिया गया है, जिसे सुन कर सब लोग स्तब्ध हो गए हैं। उनसे कुछ कहते सुनते नहीं बनता। मूक-से होकर एक दूसरे का मुँह देखने लगते हैं। अकस्मात विपत्ति पड़ने पर लोगों की ऐसी ही दशा होती है:—

तब भूपति-ढिग आनि ब्यवस्था बिषम बखानी।
बिस्मय-ब्रीड़ा-त्रास-हास-लटपट मृदु बानी॥

परयौ रंग मैं भंग ढंग है सकल बिचारत।
मूक भाव सौं एक एक कौ बदन निहारत॥

देखिए इसी समाचार को सुन कर उपाध्यायगण कैसे मुँह लटकाए हुए महाराज से निवेदन कर रहे हैं:—

उपाध्याय गन धाइ धवल आनन लटकाए।
त्रिकुटी ऊँचै ससंक बंक भ्रकुटी भभराए॥
भरि गँभीर स्वर भाव भूप सौं कियौ निवेदन।
गयौ पर्ब-दिन अस्व भयौ भारी हित-छेदन॥

भावों को व्यक्त करनेवाली स्वाभाविक चेष्टाओं के सहारे रत्नाकर जी ने कभी कभो बड़ी मार्मिक कल्पनाओं की सृष्टि की है। एक-आध उदाहरण देखिए। कृष्णचंद्र ने दीन सुदामा के आने का समाचार पाया है। दौड़ते हुए द्वार पर पहुँचते हैं। अपने प्रिय बालसखा की हीनावस्था देख कर व्याकुल हो उठते हैं। करुणा के अधिक उद्रेक से स्तब्ध हो जाते हैं, मित्र का आलिंगन करने की सुधि ही नहीं रहती। पर सुदामा कृष्ण की यह दशा देखकर समझते हैं कि इन्होंने हमें पहचाना नहीं इसीसे यह उपेक्षा भाव है। बस! लौटने को प्रस्तुत हो जाते हैं:—

दीन हीन सुहृद सुदामा की अवाई सुनैं,
दीनबंधु दहलि दया सौं मया-पागे हैं।
कहै रतनाकर सपदि अकुलाइ उठे,
भाइ गुरुगेह के सनेह-जुत जागे हैं॥

आइ पौरि दौरि देखि दृगनि अलेख दसा,
धीर त्यागि औरहू बिसेष दुख-दागे हैं।
ये तौ करुना सौं छकि छिन अगुवाने नाहिं,
जानि वे पिछाने नाहिं पलटन लागे हैं॥

जब सुदामा प्रासाद के भीतर पहुँचते हैं तो एक दूसरे को न समझने से ऐसी ही एक भ्रम की स्थिति और उपस्थित होती है। रुक्मिणी शीतल जल से भरी एक कंचन की झारी पैर धुलाने को लाती हैं। जब कृष्ण पैर धोने लगते हैं तो प्रेम से गद्गद होने से सुदामा के नेत्रों में जल आ जाता है। उधर उन्हें संकोच भी होता है। बस वे अपने पैर पीछे को हटाने लगते हैं। कृष्ण समझते हैं कि हमने इनके पैरों को संभवतः कुछ जोर से से मल दिया जिससे इन्हें कुछ कष्ट पहुँचा, इसलिए और भी धीरे धीरे मलना आरंभ करते हैं:—

आप दौरि पौरि लौं सुदामा नाम स्याम सुनैं,
भुज भरि भेंटि भए पूरन प्रनै प्रनै।
कहै रतनाकर पधारे बाँह धारे भौन,
बेना उपरेना कौ डुलावत बनै बनैं॥
रुकमिनि धाई धारि झारी कर कंचन की,
सीतल सुहाएँ जल पूरित छनै छनै।
वै तौ पाय पैंचत सकुचि चख नीर आनि,
पीर जानि धोवत ये और हूँ सनै सनै॥

इस प्रकार भाव-चेष्टाओं तथा अनुभावों का सूक्ष्म निरीक्षण

कर रत्नाकर जी ने अपने चित्र प्रस्तुत किए हैं। इन चित्रों का कुछ परिचय विभाव-चित्रण नामक प्रकरण में अभी प्राप्त होगा। यहाँ उनकी चित्र-कला की ओर साधारण संकेत कर दिया गया है। कवि की भाव-व्यंजना के अध्ययन की ओर अग्रसर होते समय बीच बीच में इसका ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि यह प्रस्तुत कवि के काव्य-कौशल की एक ऐसी विशेषता है जो अपनी भाषा के कवियों में बहुत कम पाई जाती है।

नेत्रों के द्वारा हृदय के भावों को व्यक्त करने की परिपाटी का कवियों के जगत् में बहुत पुराने समय से व्यवहार होता आया है। यह भी वास्तविक जीवन ही से ग्रहण की गई एक विशेषता है। प्रायः कवियों ने नेत्रों की भाषा का उपयोग शृंगार रस ही में किया है। पर क्रोध, उत्साह, हर्ष, घृणा आदि भाव भी नेत्रों के द्वारा व्यक्त होते हैं। छोटे छोटे बालक भी अपने पिता की अप्रसन्नता को नेत्रों ही से ताड़ लेते हैं। रत्नाकर जी सबसे पहले तुलसीदास जी के 'नैन बिनु बानी' का खंडन कर आगे बढ़ते हैं:—

नैन बिन बानी कहि कबिनि बखानी बात
ये तौ पर सकल कहानी कहि देत हैं।

रत्नाकर जी ने भिन्न भिन्न प्रकार के नेत्रों का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया है। राधा तथा कृष्ण के नेत्रों के सूक्ष्म भेद पर ध्यान दीजिए:—

जदपि दुहुनि के नैन नैन-अभिलाष-सील-मय,
तदपि सुनहु कछु भेद गुनहु मन सूच्छम अतिसय।

उनके सफरी स्वच्छ, अच्छ पाठीन सु इनके,
उनके संध्या-कुमुद, कंज इनके पुनि दिन के ॥
उनकैं लाज सकोच लोच की कछु अधिकाई,
इनकैं हौस-हुलास-रासि की आतुरताई।
दोउनि की छबि पै दोऊ ललकत ललचौहैं,
पै इक सौंहैं लखत एक करि नैन निचौहैं ॥
'हिंडोला'

बिहारी की उस नायिका को सहृदय न भूले होंगे जिसने उस दिन कृष्ण की बाँसुरी चुरा ली थी। दोनों में बहुत देर तक नेत्रों ही के द्वारा न जाने क्या क्या बातें होती रहीं। रत्नाकर जी के राधा-कृष्ण भी नेत्रों से ऐसी ही कुछ बातें कर लेते हैं। पाठक स्वयं अनुमान करें कि ये क्या बातें कर रहे हैं:—

सावधान ह्वै छूटि भुजनि सौं पुनि बिलगाई,
भ्रकुटी-कुटिल-कमान ढिठाई जानि चढ़ाई।
करि गँभीर रचना चतुराई सौं बैननि मैं,
छमा कराई छैल छबीली सौं सैननि मैं ॥
पुनि मन मैं कछु गुनि गोपाल मंद मुसुकाने,
निरखि नबेली ओर कटाच्छनि सौं ललचाने।
अति अद्भुत उत्तर ताकौ तब दियौ रसीली,
ओठ हलाइ ग्रीव मटकाइ रही गरबीली ॥
'हिंडोला'

नेत्रों की भाषा का एक चित्र और देख कर आगे बढ़िए:—

कबहुँ लतनि मैं लगि कोउ अंग उघारति सारी,
चौंकि चकाइ तुरत तिहिं सकुचि सम्हारति प्यारी।
लखति लाल की ओर लाज-ल्हेसित नैननि सौं,
कछु जाननि की चाह जाति जानी सैननि सौं॥

तथा

बैठत उठत लाड़िली के लालन कछु मन कहि,
ग्रीव हलाइ नचाइ भौंह बिहँसे उतकौं चहि।
चित चोरिनि चितवनि सौं चपल चितै सकुचानी,
मुसक्यानी मुख मोरि मंद मन की मन जानी॥

'हिंडोला'

अब रत्नाकर जी की काव्य-कला की एक और विशेषता पर हम ध्यान दें। जिन कवियों को भावों की गंभीर तथा मार्मिक अनुभूति नहीं होती वे प्रायः किसी भाव के पास पहुँच कर बहुत कुछ कहने का हौसला रखते हैं। इस हौसले की प्रेरणा से कभी अद्भुत अप्रस्तुत विधान करने लगते हैं, कभी दूर की सूझ दिखाने को करामाती कल्पनाओं की सृष्टि रचते हैं। पर ज्यों ज्यों कवि दूर की कौड़ी लाने को आगे बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों वे भाव केंद्र से भी दूर भटकते जाते हैं। पर जिन कवियों के पास अनुभूति पोषित मार्मिकता है वे दूर न जाकर अपने पास ही की वस्तु को कुछ सूक्ष्मता तथा सहृदयता से देखते हैं। ऐसे कवि बड़े संयम से बहुत कुछ कहने के प्रलोभन को रोक लेते हैं। संयम कहना पड़ा, क्योंकि साधारण कवियों से ऐसे अवसरों पर रुका ही नहीं जाता। श्रेष्ठ

कवि इसका विचार करते हैं कि किसी बात को थोड़े से शब्दों में कैसे प्रकट करें। भाव की अनिर्वचनीयता जैसे उन्हें मूक कर देती हो। जिन कवियों के वाणी है उनके नेत्र नहीं हैं, जिनके नेत्र हैं उनके वाणी नहीं रहती। जो बड़बड़ाते हैं उनके हृदय के नेत्र नहीं हैं, जिन्होंने भावों की मार्मिक अनुभूति प्राप्त की है, वे फिर बड़बड़ाते नहीं:—

गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

तुलसी की इस मार्मिक उक्ति का संभवतः यही भाव है। रत्नाकर जी भी इसी बात को कुछ इसी ढंग से कहते हैं:—

ऊधौ ब्रह्मज्ञान कौ बखान करते ना नैंकु
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियानि तैं।

'हमारी अँखियानि तैं' कहने से क्या गोपियों का यह तात्पर्य है कि उद्धव के नेत्रों में कोई दोष है अथवा गोपियों के नेत्रों में कुछ ज्योति अधिक है। ऊपर से देखने में तो उद्धव तथा गोपियाँ दोनों नेत्रवाले हैं पर हृदय में पावन तथा स्निग्ध प्रेमधारा के प्रवाहित होने से गोपियों के नेत्रों में जो एक प्रकार की विशेषता आ गई है वह उद्धव को प्राप्त नहीं है। वेदना तथा अनुभूति की संपत्ति के प्राप्त न होने से उद्धव बखान करने ही में लगे हैं। इसीलिए गोपियाँ कहती हैं:—

मोर पँखियाँ कौ मौर-वारौ चारु चाहन कौं
ऊधौ अँखियाँ चहैं न मोर-पँखियाँ चहैं।

वे कहती हैं कि 'आकार-प्रकार में तो मोर के पंखों में भी आँखें होती हैं पर हे ज्ञानी उद्धव, उन नेत्रों से वह बेचारा देखने का

काम नहीं कर पाता। इसी प्रकार यद्यपि तुम्हारे नेत्र दिखाई पड़ते हैं पर उनमें वह ज्योति कहाँ जिससे मोर मुकुटवाले को देखा जा सके'।

गंभीर भावों की व्यंजना करते समय रत्नाकर जी ने भी तुलसीदास इत्यादि की भाँति इस बात का अनुभव किया है कि वियोग-व्यथा आदि सुकुमार भावों की गंभीरता अनिर्वचनीय है:—

बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीन सौं।

तथा

कहै रतनाकर पै बिषम बियोग-बिथा
सबद-बिहीन भावना की भाववारी है।

इसी प्रकार तुलसीदास जी ने भी कहा है:—

कौसल्या के बिरह बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी।
तुलसिदास रघुबीर बिरह की पीर न जाति बखानी॥

तथा

तुम्हरे बिरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु राम! करुनानिधि! जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न।

विषय अनिर्वचनीय है कह कर इस बात की ओर संकेत किया जाता है कि वर्ण्य विषय बहुत गंभीर है तथा जो बात जैसी कहनी है वैसी शब्दों के द्वारा नहीं कही जा सकती। इन भावों को व्यक्त करने के लिए सहृदय कवियों के पास कुछ मधुर संकेत होते हैं जिनसे वे भाव-व्यंजना का काम बड़ी कुशलता से कर ले जाते हैं।

भावोत्कर्ष की उच्च भूमि तक पाठकों को पहुँचा कर वे मूक होकर खड़े हो जाते हैं और बड़ी भावुकता से कोमलतर करुणतर भावों की ओर केवल उँगली उठा कर संकेत मात्र कर देते हैं, क्योंकि यहाँ संकेत से अधिक कुछ किया ही नहीं जा सकता। इस कला को मूक भाव-व्यंजना कह सकते हैं। इसका प्रयोग रत्नाकर जी ने अनेक शैलियों से किया है। कृष्ण उद्धव को ब्रज की ओर पहुँचाने जा रहे हैं। वे गोपियों से कुछ कहवाना चाहते हैं। पर उनके पास शब्द नहीं हैं। वे बड़ी दूर तक रथ के साथ लगे चले जाते हैं। दूसरे कवि अपनी कल्पना से यहां पर अनेक प्रेम-संदेशे गढ़ लेते। पर इन कल्पनाओं से जो बात न हो पाती वह कृष्ण के इस प्रकार रथ के साथ लगे चले चलने से हो गई। कुछ कहना तो अवश्य चाहते हैं तभी न रथ के साथ लगे चले जा रहे हैं। पर क्या कहें, कैसे कहें इत्यादि का निर्णय न कर पाने से कुछ कहते भी नहीं:—

उससि उसाँसनि सौं बहि बहि आँसनि सौं
भूरि भरे हिय के हुलास न उरात हैं।
सीरे तपे बिबिध सँदेसनि की बातनि की
घातनि की झोंक मैं लगेई चले जात हैं॥

इसी प्रकार उधर गोप-गोपियाँ भी कुछ संदेश भेजना चाहती हैं। पर वे 'जरा हमारी सुन लो' इससे अधिक कुछ नहीं कह पातीं:—

सबद न पावत सो भाव उमगावत जो
ताकि ताकि आनन ठगे से ठहि जात हैं।

रंचक हमारी सुनौ रंचक हमारी सुनौ

रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हैं ॥

यह तो उद्धव के विदा होते समय की दशा है। इससे पहले भी संदेश कहने का कुछ प्रयत्न किया गया है:—

नाम कौ बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस

स्याम सौं हमारी राम राम कहि दीजियौ।

न जाने इन संदेशों से उद्धव ने क्या समझा होगा और कन्हैया को जाकर क्या सुनाया होगा! इस प्रकार रत्नाकर जी ने गंभीर परिस्थितियों में अपने पात्रों से कुछ न कहवाकर उन्हें मौन ही रहने दिया है। पर उनकी मूकता जो कह सकी वह वाणी न कह पाती। अंशुमान अश्वमेध के घोड़े का पता लगाकर तथा राजा के साठ सहस्र पुत्रों के मरने का समाचार लेकर लौटे हैं। महाराज के कुशल प्रश्न करने पर देखिए क्या उत्तर देते हैं:—

परयौ करेजौ थामि थहरि त्यौं रोइ कुँवर बर।

निकसे सकसि न बचन भयौ हिचकिनि गद्गर गर ॥

महाराज इस शोक समाचार को सुन कर व्याकुल हो उठते हैं, उनके मुँह से कोई शब्द नहीं निकलते:—

भयौ भूप जड़-रूप अंग के रंग सिराए।

बज्राघात सहस्र साठ संगहिं सिर आए ॥

कढ़यौ कंठ नहिं बैन न नैननि आँसु प्रकास्यौ।

आनन भाव बिहीन गाँव ऊजड़ लौं भास्यौ ॥

इस मूक-व्यंजना कौशल से कवि ने अलंकार-विधान में भी

काम लिया है। श्यामा श्याम का वर्णन प्रस्तुत है। वर्णन क्रम से कवि बताना चाहता है कि ये युगलमूर्त्ति भक्तों के क्या हैं। पर यहाँ पर आकर वह रुक जाता है। वह कुछ कह कर भावना को सीमावद्ध नहीं करना चाहताः—

सुभ सोभा सौभाग्य सुभग संकर-उर-पुर के,
सकल समृति अरु बेद-सार सरनालय सुर के।
कलपलता चिंतामनि चारु सुकाव रसिकनि के,
जिय जानत न कहात कहा अनन्य भक्तनि के।

'हिंडोला'

इस मूक भाव-व्यंजना से मिलती हुई एक दूसरी शैली के विषय में भी कुछ जान लेना आवश्यक है। भावों को व्यक्त करने में शब्दों की सामर्थ्य कितनी कम है इस बात का अनुभव वैज्ञानिक उतना नहीं करते। यह बात दूसरी है कि कुछ पदार्थों के नाम किसी भाषा में नहीं हैं अथवा उष्णता शैत्य आदि के भिन्न भिन्न परिमाणों को व्यक्त करने के लिए संकेत नहीं रचे गए। पर एक बार वैज्ञानिक-जगत् के उपकरणों का नामकरण हो जाने पर वैज्ञानिक इस दशा में तो कम से कम निश्चित हो जाता है। फिर उसे यह नहीं कहना पड़ता कि हमारे भाव शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किए जा सकते। जब कोई कवि किसी भाव को व्यक्त करना चाहता है तो उसे पद पद पर इस बात का अनुभव होता है कि भाषा की सामर्थ्य उतनी तथा वैसी नहीं है जितनी तथा जैसी वह चाहता है। उच्च से उच्च पर्वत शिखरों तथा गंभीर से

गंभीर समुद्रों को नापने के लिए वैज्ञानिकों ने माप-दंड बना डाले हैं, पर उनसे कवि का काम नहीं चलता। प्रातःकाल उषा की रंजित छाया के नीचे किसी उद्यान में खिले हुए गुलाब के पुष्प को देख उसके हृदय में जो भाव उठते हैं उन्हें वह कैसे व्यक्त कर पावे ? पुष्प सुंदर है, अत्यंत सुंदर है आदि कहने पर भी कवि अनुभव करता है कि उस पुष्प विशेष के सौंदर्य में जो अनोखापन है उसे व्यक्त करने में वह असमर्थ रहा। साधारण स्वरूप के प्रत्यक्षीकरण कराने में शब्द उतने हीन-शक्ति नहीं प्रतीत होते पर सौंदर्य के वैशिष्ट्य की व्यंजना करते समय उनकी शक्ति बहुत पीछे छूट जाती है। इसके लिए कवियों ने कुछ युक्तियों का अनुसरण किया है। ये युक्तियाँ भावुकों को भावुकता के दिए हुए साधारण प्रसाद रूप में प्राप्त होती हैं। वे मुसक्याते हुए भोले शिशु के मुख पर मुग्ध हो कर कभी हमारा ध्यान निर्मल सरोवर में प्रफुल्लित कमल की ओर ले जाते हैं; कभी शरद् ऋतु के पूर्णचंद्र की ओर। कभी वह भोला शिशु का मुँह प्रकृति की इन विभूतियों की समानता प्राप्त करता है, कभी जगन्नियंता की सृष्टि की ये विभूतियाँ कवि के प्रस्तुत सौंदर्य के सम्मुख फीकी पड़ जाती हैं।

इन साधारण युक्तियों से—जिनके नाम आचार्यों ने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक अपह्नुति इत्यादि रखे हैं—आगे बढ़ते बढ़ते इस बात का अनुभव होता है कि जिस कमनीयता की अभिव्यक्ति वांछित थी, जिस मधुर लावण्य का प्रत्यक्षीकरण कराना था, वह इन युक्तियों का आश्रय लेने से भी पूर्ण रूप से नहीं हो पाया।

ऐसी अवस्था में कवि कभी तो कहता है कि उस भोले मुख के समान वह मुख ही है, संसार में उस-सा दूसरा नहीं ; कभी कहता है कि उस मुँह की शोभा कुछ और ही है। इस 'औरही' प्रयोग से स्थूल दृष्टि से तो यह प्रतीत होता है कि कवि का अधिकार पर्य्याप्त शब्दों पर नहीं था। पर भावना की दृष्टि से देखने से पता लगता है कि इस 'और ही' की अस्पष्ट व्यंजना के द्वारा हमारे हृदयों में स्थित परम कल्पना की ओर बड़ा तीक्ष्ण संकेत किया गया है। यद्यपि 'और ही' का वाच्यार्थ तुच्छ ही है पर इसकी व्यंजना कितनी दूर तक है इसका अनुभव भावुक ही कर सकते हैं। इस युक्ति का आश्रय सभी श्रेष्ठ कवियों ने लिया है। बिहारी भी अपनी उस प्रसिद्ध नायिका की चितवन के विषय में अन्त में यही कहते हैं कि उसकी चितवन कुछ 'और ही' है:—

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान;
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।

रत्नाकर जी ने भी इस भावुक प्रणाली का ऐसे ही गंभीर स्थानों पर उपयोग किया है। देखिए व्रजभूमि के समीप पहुँचते ही ज्ञानी उद्धव की क्या दशा हुई है:—

औरै मुख-रंग भयौ सिथिलित अंग भयौ
बैन दबि दंग भयौ गर गरुवाने मैं।
पुलकि पसीजि पास चाँपि मुरझाने काँपि
जानैं कौन बहति बयारि बरसाने मैं॥

इस 'औरै मुख-रंग' की कैसी सुंदर व्यंजना है। अंतिम पंक्ति 'जानैं कौन बहति बयारि बरसाने मैं' के 'कौन' शब्द से यह भाव नहीं निकलता कि रत्नाकर जी को इसका पता नहीं है कि वृंदावन के आस पास के गाँवों में कौन सी वायु चलती है अतः भूगोल के पंडितों से पूछ रहे हैं कि भाई बताना तो बरसाने में कौन सी वायु बहा करती है। यहाँ पर तो बयारि शब्द भी अपने मुख्यार्थ को छोड़े बैठा हुआ है क्योंकि उसका अर्थ यहाँ पर 'प्रभाव' है। 'कौन' शब्द से कवि की अनभिज्ञता नहीं प्रकट होती। उस स्थान विशेष के प्रभाव को व्यक्त करने के लिए यह एक काव्योचित ढंग है। लोक में भी ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। लोग प्रायः कहा करते हैं 'न जाने वह कैसा भला आदमी है कि अपने शत्रुओं के साथ भी भलाई करता है, 'न जाने वह कैसा दुष्ट है कि बिना बोले ही छेड़ छाड़ करने लगता है।' 'औरै' का आनंद इन पंक्तियों से एक बार फिर लेकर आगे चलिए:—

गोकुल के गाँव की गली मैं पग पारत हीं
भूमि कैं प्रभाव भाव औरै भरिबै लगे।
ज्ञान-मारतंड के सुखाए मनु मानस कौं
सरस सुहाए घनस्याम करिबै लगे॥

इसी प्रकार कवियों के पास और भी प्रयोग हैं जो देखने में छोटे और साधारण प्रतीत होते हुए भी दूर तक मार करते हैं। नीचे की पंक्तियों में 'वा' की करामात देखिए:—

जब जब पनिघट जात सखी री ! वा जमुना के तीर

भरि भरि जमुना उमड़ि चलति है इन नैननि के नीर।

अथवाः—

सघन कुंज-छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।

मनु ह्वै जातु अजौं वहै वा जमुना के तीर॥

यमुना कोई गिनती में दो चार तो थीं नहीं कि किसी ख़ास की ओर कवि को 'वा' शब्द से संकेत करना पड़ा। वास्तव में 'वा' शब्द से किसी विशेष यमुना की ओर संकेत करने का तात्पर्य नहीं है। कवि केवल उस सुख की ओर संकेत कर रहा है जो गोपियों ने कृष्ण के साथ यमुना तट पर भोगा था। इस प्रकार अनेक व्यंजना-शैलियों की सहायता से कवि ने भाव-व्यंजना की है, जिनका विशेष विस्तृत अध्ययन भिन्न भिन्न प्रकरणों में प्रसंगानुसार होता रहेगा। पर भाव-व्यंजना के अध्ययन के पहले हम विभावों की स्थापना देख लें क्योंकि भाव बहुत कुछ इन पर निर्भर रहते हैं।

—

विभाव-चित्रण

कवि का परम साध्य भाव-व्यंजना है। इस तक पहुँचने को उसे अनेक साधनों से सहायता लेनी पड़ती है। कुछ साधन अनिवार्य होते हैं जिनके बिना रस-निष्पत्ति तक पहुँचा ही नहीं जा सकता। कुछ ऐसे होते हैं जो साध्य की प्राप्ति को सुकर तथा सुसाध्य बनाते हैं कुछ उसमें विशेष प्रकार की रमणीयता संपादित करने में समर्थ होते हैं। बाह्य दृश्यों का चित्रण भी उसी भाव-स्थापना नामक साध्य के साधन हैं। कुछ बाह्यदृश्यों का चित्रण काव्य के लिए अनिवार्य होता है, जैसे, आलंबन के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण। कुछ रसों में आलंबन का महत्व अपेक्षाकृत अधिक होता है, इन्हें हम आलंबन-प्रधान रस कह सकते हैं। जब कवि को ऐसे रसों की व्यंजना करना अभीष्ट होता है तो उसके लिए यह अनिवार्य है कि वह आलंबनों के स्वरूप का कल्पना द्वारा निरीक्षण करे तथा अपने कौशल से पाठकों को उनका प्रत्यक्षीकरण कराए। प्रत्यक्षीकरण कराते समय उसको इसका ध्यान रखना होगा कि प्रत्यक्ष की हुई वस्तु की कौन-कौन महत्व की विशेषताएँ हैं जिनका चित्रण वर्ण्य के संपूर्ण चित्र को प्रत्यक्ष कर सकेगा।

इस कार्य के लिए उसमें चित्रकार ऐसा कौशल अपेक्षित है। यदि ऐसा नहीं है तो वह बहुत सी ऐसी बातें कह जायगा जिनकी आवश्यकता न थी अथवा जो संभव है अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने

में बाधा पहुँचावें अथवा वह बहुत सी ऐसी बातें छोड़ सकता है जिनके बिना चित्र पूरा उतर ही न पावेगा। इसके लिये उसे ऐसी बाह्यदृष्टि तथा अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है जो व्यापारों का, दृश्यों का, आवश्यकतानुसार संशोधन कर सकें, जो छोड़ना चाहिए उसे अवश्य छोड़ दें जो अनिवार्य हो उसे अवश्य ग्रहण कर लें। कभी कभी तो ऐसा होता है कि किसी एक ही केन्द्रीय वस्तु के वर्णन से संपूर्ण दृश्य प्रत्यक्षवत् गोचर हो जाता है। यदि किसी व्यक्ति के विषय में कहा जाय कि जब देखो तब वह पेट खलाए आ खड़ा होता है तो हमारे सामने उसका खलाया हुआ पेट ही न आवेगा उसकी संपूर्ण हीनावस्था स्वरूप धारण करके सामने खड़ी हो जायगी। ऐसी ही विशेष बातें काव्य के लिए केन्द्रीय हैं। कुशल कवि इनको छाँट लेता है और अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होता रहता है। रत्नाकर जी में हम ऐसा कौशल अच्छी मात्रा में पाते हैं। वे दृश्यों का निरीक्षण बड़ी सूक्ष्मता से करते हैं तथा उनका प्रत्यक्षीकरण बड़ी कला तथा सहृदया और भावुकता से करते हैं। कला से कहने का तात्पर्य यह है कि उनके चित्र पूर्ण तथा स्पष्ट होते हैं तथा सहृदयता और भावुकता की आवश्यकता उन दृश्यों को भावोपयोगी बनाने में होती है। अब, हम रत्नाकर जी के कुछ चित्रों को देख लें। सामने कृष्णसखा दीन सुदामा खड़े हैं। वे साक्षात् दारिद्र्य हैं। उनके पास सिवा एक लँगोटी के कोई वस्त्र नहीं, वह लँगोटी भी फटी हुई है जो उनके तन को भलीभाँति ढँके हुए नहीं है। वे अत्यंत दुर्बल है, सीधे खड़े भी नहीं हुआ जाता।

एक लांठी के सहारे अपनी काया को किसी प्रकार टेके खड़े हैं। उनकी देह को शरीर क्या कहा जाय वह तो काठी ही है। उनके कंधे दीनता तथा संकोच के भार से झुके हैं जिनके ऊपर एक छोटी सी लुटिया लटक रही है उसमें भी छेद हुए हैं जो दूर से देखे जा सकते हैं। रत्नाकर जी ने इस चित्र में वे सब सार्थक रेखाएँ अंकित की हैं जो चित्र के लिए आवश्यक हैं:—

जै जै महाराज जदुराज दुजराज एक,
सुहृद सुदामा राजद्वार आज आए हैं।
कहै रतनाकर प्रगट ही दरिद्र-रूप,
फटही लँगोटी बाँधि बाध सौं लगाए हैं॥
छीनता की छाप दीनता की थाप धारे देह,
लाठी के सहारैं काठी नीठि ठहराए हैं।
संकुचित कंध पै अधौटी सी कँधौटी किए,
तापर सछिद्र छोटी लोटी लटकाए हैं॥

इस चित्र में रत्नाकर जी ने दीनता के चित्र को पूरा करने वाली अनेक बातें जान बूझ कर बचा दी हैं। कवि ऐसा चित्र अंकित करना नहीं चाहता था जिससे एक साधारण भिक्षुक का रूप प्रत्यक्ष हो। साधारण भिक्षुक तो जिस-तिस के सामने हाथ फैलाता है। पर सुदामा सारी दीनता के होते हुए भी स्वाभिमानी हैं। कृष्ण ऐसे सखा के होते हुए भी वह कभी माँगने नहीं गए। आज अपनी स्त्री के बहुत समझाने बुझाने से वह इस हीन कर्म को करने को उद्यत हुए हैं, पर तब भी उन्होंने अपना स्वाभिमान छोड़ नहीं दिया

है। यदि यह चित्र एक साधारण भिक्षुक का होता तो रत्नाकर जी उसका पेट खलाना, बाएँ हाथ को कमर पर रख दहना माँगने को आगे बढ़ाना और संभवतः दाँत 'निपोरना' भी अवश्य चित्रित करते। इन सब बातों को छोड़ देने से रत्नाकर जी ने अपनी कुशलता का प्रमाण दिया है। यहीं व्यापार-संशोधन तथा कार्य की मर्यादा और आवश्यकता का ध्यान रखना है। नीचे एक कापालिक के स्वरूप को देखिए:—

करि कापालिक बेस धर्म तब तिहिं ठाँ आयौ।
बसन गेरुआ अंग भंग कैं रंग समायौ॥
छूटे लाँबे केस नैन राजत रतनारे।
सिर सेंदुर कौ तिलक भस्म सब तन मैं धारे॥
एक हाथ खप्पर चिमटा दूजैं कर भ्राजत।
गरैं हाड़ के हार सहित तरिवार बिराजत॥

कापालिक प्रायः देखने में नहीं आते अतः कवि ने उसका चित्र संकेतात्मक नहीं रखा है उसे पूरे वर्णन से युक्त किया है। स्वरूप को प्रत्यक्ष करानेवाली कुछ बातों की ओर यदि संकेत ही कर दिया जाता तो चित्र पूरा न उतरता क्योंकि पाठक कल्पना से अपनी ओर से यहाँ कुछ न मिला पाते पर डोम चौधरी का चित्र संकेतात्मक शैली से अंकित किया गया है क्योंकि पाठक थोड़े से सकेतों ही से दृश्य को ग्रहण कर लेंगे। उनका अपना निरीक्षण तथा कल्पना भी चित्र को स्पष्ट करने में सहायक होंगी।

डोम-चौधरी मरघट कौ तिहिं अवसर आयौ।
इक सेवक कैं संग सुरा कैं रंग रँगायौ॥
कारौ तन बिकराल बदन लघु दृग मतवारे।
लाल भाल पै तिलक केस छोटे घुँघरारे॥
अकबक बोलत बैन— इत्यादि

'हरिश्चंद्र'

नीचे गंगावतरण से शंकर का भव्य-रूप देख लीजिएः—

हेम-बरन सिर जटा चंद-छबि छटा-भाल पर।
कलित कृपा की कटा-घटा लोचन बिसाल पर॥
फनि-पति-हार-बिहार-भूमि बच्छस्थल राजै।
जग-अवलंब प्रलंब भुजनि फरकति छबि छाजै॥
दृढ़ कटि-धाम ललाम चाम सुभ दुरद्-दुवन कौ।
गूढ़ जानु जो भार भरत सहजहिं त्रिभुवन कौ॥
अरुन-कोकनद चरन सरन जो असरन जन के।
जिनकौ गुन गुंजार करत मन-अलि मुनि-गनके॥
गौर सरीर बिभूति भूति त्रिभुवन की सोहै।
आनन परम-उदार-प्रकृति-छबि-छलक बिमोहै॥
उमगि कृपा कौ बारि पगनि डगमग उपजावत।
तकि तकि तांडव नचत दमकि दम डमरु बजावत॥

यहाँ चित्रण तथा साधारण वर्णन मिले हुए हैं। कवि को इसका भी ध्यान रखना पड़ा है कि स्वरूप प्रत्यक्षीकरण के साथ ही शंकर का ईश्वरत्व छूटने न पावे। यह स्वरूप भक्ति-भावना जाग्रत

करने को सामने आता है केवल बाजारू चित्रों की भाँति नहीं। ऐसे चित्र संस्कृत-साहित्य में विशेषतः पुराणों में तो बहुत मिलते हैं पर हिंदी काव्यों में प्रायः बहुत कम पाए जाते हैं। नीचे एक ऐसा चित्र देखिए जैसा हिंदी-साहित्य में दूसरा न मिलेगा। शंकर आकाश से गिरनेवाली गंगा को सिर पर रोकने के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं। इसमें उन सब मुद्राओं तथा चेष्टाओं का वर्णन है जो इस कार्य्य के लिए आवश्यक हैं। इसमें कवि का निरीक्षण तथा कौशल दोनों देखे जा सकते हैं। एक भी चेष्टा कवि ने बचने नहीं दी है:—

भए सँभरि सन्नद्ध भंग कैं रंग रँगाए।
अति दृढ़ दीरघ सृंग देखि तापर चलि आए॥
बाघंबर कौ कलित कच्छ कटि-तट सौं नाध्यौ।
सेसनाग कौ नागबंध तापर कसि बाँध्यौ॥
ब्याल-माल सौं भाल बाल-चंदहिं दृढ़ कीन्यौ।
जटा-जाल कौ झाल-ब्यूह गह्वर करि लीन्यौ॥
मुंडमाल यज्ञोपवीत कटि-तट अटकाए।
गाड़ि सूल सृंगी डमरू तापर लटकाए॥
बरबाहँनि कर फेरि चाँपि चटकाइ आँगुरिनि।
बच्छस्थल उमगाइ ग्रीव उचकाइ चाय भिनि॥
तमकि ताकि भुज-दंड चंड फरकत चित चोपे।
महि दबाइ दुहुँ पाय कछुक अंतर सौं रोपे॥
जुगल कंध बल-संध झुमकि झुमसाइ उचाए।

दोउ भुज-दंड उदंड तोलि ताने तमकाए॥
कर जमाइ करिहायँ नैन नभ-ओर लगाए।

प्रत्येक संभार की ओर कवि की दृष्टि है। जिन वस्तुओं की, जैसे डमरू इत्यादि, आवश्यकता नहीं, उन्हें अलग किया जा रहा है। शरीर को अच्छी भाँति देखा भाला जा रहा है। किसी अत्यंत पुरुषार्थ के कार्य को करते समय की अवस्थाओं का कैसा सटीक चित्र है। अखाड़े में उतरते हुए पहलवानों को तो लोगों ने देखा ही होगा।

अब हम रत्नाकर जी के कुछ ऐसे चित्रों को देखेंगे जिनमें उन्होंने स्वरूप की पूरी रेखाएँ स्पष्ट नहीं की हैं केवल कुछ सार्थक के केंद्रीय वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण किया है जो संपूर्ण चित्र की कल्पना करने में सहायक होती हैं। नीचे वृषभान की किशोरी के चित्र की कल्पना करिए जो कन्हैया से होली खेलने को निकली हैं—

घाघरे की घूमनि समेटि कै कछोटी किए,
कटि-तट फेंटि कोछी कलित पिधान की।
झोरी भरे रोरी घोरि केसरि कमोरी भरे,
होरी चली खेलन किसोरी बृषभान की॥

नीचे की पंक्तियों के शृंगारोपयोगी चित्रों को भी देख लीजिए। यह वृंदावन में हिंडोले के समय का लिया हुआ है:—

काछि कछौटा बाँधि फेंट पटुली पर ठाढ़ी,
लंक लचाइ देति मचकी दुहरी अति गाढ़ी।

कबहुँ लतनि मैं लगि कोउ अंग उघारति सारी,
चौंकि चकाइ तुरत तिहिं सकुचि सम्हारति प्यारी ॥
लखति लाल की ओर लाज-लहेसित नैननि सौं,
कछु जाननि की चाह जाति जानी सैननि सौं।

ये चित्र जड़ वस्तुओं के नहीं हैं सजीव नर नारियों के हैं जो कुछ कार्य कर रहे हैं तथा जिनके मानस में कुछ भाव-लहरियाँ उठ रही हैं। रतनाकर जी के चित्रों में हम केवल बाह्य दृश्यों तथा क्रीड़ाओं का प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते हृदय की भाव-लहरियों की गति-विधि को भी प्रत्यक्ष देखते हैं। कभी कभी तो एक-आध सार्थक रेखा से ऐसे जीते-जागते चित्र अंकित किए हैं कि कवि के कौशल पर मुग्ध होना पड़ता है। नीचे व्याकुल दुर्वासा को देखिए जो सुदर्शन चक्र के आगे भागे जा रहे हैं, न इधर देखते हैं न उधर। बस, नाक की सीध साधे शीघ्र गति से उड़े चले जा रहे हैं। इस चित्र में उनके हृदय की घबराहट, भय, उतावली इत्यादि सब स्पष्ट हैं—

पावैं कहूँ ओक ना त्रिलोक माहिं धावैं फिरे,
सुरति भुलाए भूरि भूख औ पिपासा की।
कहै रतनाकर न इत उत चाहैं नैकु,
चपल चलेई जात साधे सीध नासा की॥

नीचे महाराज हरिश्चंद्र की महारानी को देखिए जो बीच बाज़ार में बिकने को आई हैं और नीची दृष्टि किए कुछ मंद बोलती हुई उधर खड़ी हैं। उनकी स्त्रियोचित लज्जा, मर्यादा

कुलीनता इत्यादि मानों स्वरूप धारण करके उनके साथ फिर रही हों:-

रूप-सील-गुन-खानि सुघर सबही बिधि सोहति।
लाजनि बोलति मंद नैंकु सौंहैं नहिं जोहति॥

इस स्वरूप ने स्वयं ही उनके उच्च कुल की घोषणा कर दी तभी तो उस वृद्ध उपाध्याय को जो उन्हें मोल लेने आया था बिना परिचय के भी कहना पड़ा:—

साँचहिं यह कोउ अति पुनीत कुल की कुलनिधि है।

जिस स्वरूप तथा चित्र से हृदय तथा शील झलकते हुए नहीं दिखाई पड़ते वह स्वरूप तथा वह चित्र भ्रामक और झूठे हैं। ये ही महा-रानी आगे चलकर केवल अपने देखने के ढंग से अपने हृदय की संपूर्ण वेदना प्रत्यक्ष कर देती है:—

चली बटुक के संग उछंग लिए बालक कौं।
फिरि फिरि करुना सहित बिलोकति नर-पालक कौं॥

इसी हरिश्चंद्र-काव्य में मरघट का प्रसिद्ध दृश्य है। उसका विशेष उल्लेख तो भावव्यंजना में होगा पर चित्र कला की दृष्टि से हम उसके एक अंश को फिर देख लें। चिता इत्यादि की ओर हम इस समय न जायँगे, हमें तो उस पुराने पीपल के वृक्ष को ही पास से देख लेना है। कवि ने ऐसी शब्द-योजना की है जो हमें दृश्य के आस पास की ध्वनि को भी प्रत्यक्ष सुना देती है, श्रवणगोचर-सा कर देती है:—

हरहरात इक दिसि पीपर कौ पेड़ पुरातन।
लटकत जामैं घंट घने माटी के बासन॥

बरषा ऋतु के काज औरहू लगत भयानक।
सरिता बहति सबेग करारे गिरत अचानक॥

कभी-कभी कवि को कुछ कार्यों की संश्लिष्ट योजना को प्रत्यक्ष करने के लिए चित्र अंकित करने पड़ते हैं। इस समय कवि के सामने किसी व्यक्ति के कुछ कार्य-कलाप रहते हैं जिनका प्रत्यक्षी करण भाव-व्यंजना के लिए आवश्यक होता है। पर ऐसे अवसरों पर कवि प्रत्येक गति का नामोल्लेख करके काम नहीं चला सकता। उसे उन क्रियाओं को ऐसे संबद्ध तथा संश्लिष्ट रूप में सामने लाना पड़ता है कि उनकी अनुभूति चित्रात्मकता से की जा सके। नीचे हरिश्चंद्र की आत्महत्या करने को उद्यत होते समय की तैयारियाँ देखिए। प्रत्येक क्रिया का ऐसा कुशल उल्लेख हुआ है कि हम कुछ बातों का केवल ज्ञान ही नहीं प्राप्त करते हैं, प्रत्युत अनुभव करते हैं कि ये कार्य हमारी इन्हीं आँखों के सामने हो रहे हैं:—

यह बिचार दृढ़ करि पीपर के पास पधारे।
लीन्हीं डोरी खोलि द्वैक घंटनि करि न्यारे॥
मेलि तिन्हैं पुनि एक छोर पर फाँद बनायौ।
चढ़ि इक साखा बाँधि छोर दूजौ लटकायौ॥

अब तक के चित्र रस-परिपाटी के अनुसार आलंबन विभाव के भीतर माने जायँगे। प्रस्तुत भाव को उद्दीप करने को जिन दृश्यों का विधान किया जाता हैं उन्हें उद्दीपन विभाव में लेते हैं। ऐसे उद्दीपनों के भीतर उपवन, पुष्प, लताएँ, चंद्रमा, ज्योत्स्ना इत्यादि

प्रकृति के रमणीय उपादान आते रहते हैं। ऐसे दृश्यों को उद्दीपन के भीतर लिया जाता है। इसी परंपरागत परिपाटी से हम अनुमान कर सकते हैं कि भारतीय काव्य-दृष्टि प्रकृति की रमणीयता से सदा प्रभावित होती रही है। हमारा अप्रस्तुत विधान भी मनोहर प्राकृतिक दृश्यावली की सहायता से होता आया है। कमल, सरोवर, मेघ, विद्युत्, चंद्र, इत्यादि अप्रस्तुत विधान के लिए सदा आते रहते हैं। हिंदीवालों ने संस्कृत कवियों का प्रकृति-प्रेम तो उतना नहीं अपनाया पर इस विशेष मनोवृत्ति की प्रेरणा से उद्भूत रमणीय प्राकृतिक उपमानों की परंपरा हिंदी के कवियों को भी प्राप्त हुई। उनका भी ध्यान पीतांबर धारी कृष्ण को देखकर ऐसे सजल नीले मेघों की ओर जाता रहा जिनके अंक में पीत कांति वाली बिजली क्रीड़ा करती रहती है। यह रमणीय काव्य-दृष्टि यद्यपि पीछे चलकर रीति के तंग कठघरे में सड़ सड़कर कलुषित हो गई पर इससे इतना संकेत तो स्पष्टता से मिलता है कि हमारी मनोवृत्तियाँ अपने चारो ओर फैली हुई रमणीयता से रागात्मक संबंध स्थापित करने को सदा उत्सुक रही हैं। इस प्रकृति-प्रेम का कारण क्या है? हमारी संस्कृति का पोषण ही प्रकृति देवी की सुकुमार लाड़भरी गोद में हुआ है। जहाँ पृथ्वी की अन्य जातियाँ अपने पैरों चलने योग्य होते ही वनों, पर्वतों, निर्झरों तथा कछारों को छोड़ कर बड़े बड़े नगरों में भागने लगीं वहाँ भारतीयों ने सभ्यता के चूडांत आदर्श को हस्तामलक करके भी अरण्याश्रमों में मृगों तथा पक्षियों की संगति में रहने में ही सुख माना। हमारे आदर्शों के अनुसार तो

केवल गृहस्थाश्रम में ही नगर-वास विहित है। जीवन का तीन-चौथाई भाग तो अरण्यों में ही बिताना चाहिए। मानों हमारे पूर्वजों का मन ही नगरों में न लगता रहा हो, वे भाग निकलने को व्याकुल तथा उतावले बैठे रहते हों। इसी स्वाभाविक संपर्क के कारण भारतीयों के हृदयों में प्रकृति के प्रति स्नेह-भरी दृष्टि सदा बनी रही। पर हिंदीवालों की दृष्टि मनुष्यों के कार्य-कलापों में इतनी आबद्ध रही कि उन्हें इधर उधर देखने का अवसर ही न मिला। इसी दृष्टि संकोच के कारण प्रकृति को केवल उद्दीपन विभावों में ही स्थान मिला। उसका कोई स्वतंत्र महत्व ही न रहा। पर संस्कृत के प्राचीन धार्मिक काव्यों (पुराणों) तथा भवभूति कालिदास इत्यादि के ग्रंथों में ऐसे सुन्दर प्राकृतिक वर्णन आए हैं जिनसे उनके प्रति कवि के हृदय का अनुराग स्पष्ट लक्षित होता है। ऐसे वर्णनों को हम उद्दीपन ही मानकर अन्याय करेंगे। वे तो कवि की वृत्तियों के आलंबन रूप में आए हैं। उनका अपना स्वतंत्र महत्व है। वे साध्य हैं केवल साधन नहीं। उनके प्रति भी अनुराग जाग्रत होता है, केवल दूसरे प्रसंग-प्राप्त भावों को जाग्रत करने, उद्दीप्त करने ही को उनकी योजना नहीं की गई। कहीं कहीं प्रबंधगत पात्र का अनुराग प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति दिखाया गया है। ऐसे स्थलों पर वे दृष्य पात्रों तथा कवि दोनों के आलंबन रूप में सामने आते हैं।

हमारा प्रस्तुत साध्य रतनाकर जी के प्राकृतिक दृश्यों का अध्ययन करना है। सब से प्रथम हमें यह कहना है कि उनकी दृष्टि प्रकृति के प्रति अनुरागपूर्ण है। उनके स्वतंत्र प्राकृतिक वर्णन

जिन्हें हम आलंबन के भीतर लेंगे, उनके किसी भाव को जाग्रत करने को नियोजित किए हुए सुंदर दृश्य जिन्हें उद्दीपन माना जायगा तथा प्रस्तुत वस्तुओं की शोभा-वृद्धि के लिए नियोजित दृश्यावली जिसे हम आलंकारिक विधान के अंतर्गत ही ले सकते हैं, इत्यादि कवि के मानस में निवास करनेवाली उस सुकुमार वृत्ति की ओर संकेत करते हैं जो प्रकृति की रमणीयता पर अनुरक्त है, मुग्ध है।

प्राकृतिक दृश्यों की रमणीयता से प्राप्त होनेवाली संवेदनात्मक अनुभूति दो प्रकार की होती है, एक साधारण, तथा दूसरी विशेष। साधारण को हम सत्य तथा स्वाभाविक अनुभूति कहेंगे। विशेष को हम आरोपित तथा अवास्तविक मानते हैं। साधारण अथवा सत्य अनुभूति वह है जो सहृदयों को प्रायः प्राप्त होती रहती है। आरोपित अनुभूति की सृष्टि तब होती है जब हमारा हृदय पहले से किसी भाव से प्रभावित रहता है तथा उस भाव की प्रतिकूलता या अनुकूलता के अनुसार हम अनुभूति का स्वरूप ग्रहण करते हैं। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि किसी रमणी का अपने प्रिय से संयोग है तो उसे चमकती हुई बिजली ऐसी मालूम होगी मानों मेघों से सोने की वृष्टि होती हो। रत्नसेन के साथ संयोग होने पर पद्मावती पावस की शोभा का कैसा अनुभव कर रही है:—

चमक बीजु, बरसै जल सोना।
दादुर मोर, सबद सुठि लोना॥ (पद्मावत-जायसी)

पर नागवती को वियोगावस्था में चमकती हुई बिजली खड्ग-सी लगती है तथा वर्षा की बूँदें बाण-सी प्रतीत होती हैं:—

खड्ग बीजु चमकै चहुँ ओरा।
बुंद-बान बरसहिं चहुँ ओरा॥ (पद्मावत-जायसी)

इस प्रकार का संवेदन आरोपित है जिसका आरोप किसी भाव में मग्न मनोवृत्ति स्वयं कर लेती है। ऐसे आरोप उद्दीपन रूप में लाए हुए दृश्यों पर ही होते हैं। आलंबन रूप में आए हुए प्राकृतिक दृश्यों पर ऐसा अवास्तविक आरोप नहीं किया जाता है। ऐसे बहुत से आरोप प्रसंग प्राप्त भावों की प्रेरणा से आलंकारिक शैली से किए जाते हैं जिसमें ऋतुओं इत्यादि के अपने वास्तविक संवेदन छिपा दिए जाते हैं। कभी वसंत पर समुद्र का आरोप किया जाता है जिसमें सांग रूपक की सहायता से बड़वाग्नि इत्यादि सब उपस्थित हो जाते हैं और बेचारी नायिका उस अनंत अथाह समुद्र में डूबती उतराती दिखाई पड़ती है। इन पंक्तियों में इस 'बिबस वियोगिन' को देखिए:—

बारिधि बसंत बढ्यौ चाव चढ्यौ आवत है,
बिबस बियोगिनि करेजौ थामि थहरैं।
कहै रतनाकर त्यौं किंसुक-प्रसून जाल,
ज्वाल बड़वानल की हेरि हियैं हहरैं॥
तुम समुझावति कहा हौ समुझौ तौ यह,
धीरज-धरा पै अब कैसे पग ठहरैं।

भौंर चहुँ ओर भ्रमैं एकौ पल नाहिं थम्हैं,
सीतल सुगंध मंद मारुत की लहरैं ॥

यहाँ पर बेचारा वसंत पीछे पड़ गया है, नायिका का वियोग ही हमारी दृष्टि की ओर किया गया है। अलंकार-विधान की विशेषताओं पर इस प्रसंग में ध्यान न देने से संभवतः किसी को बुरा न लगेगा। दूसरे प्रकार के वे वर्णन हैं जिनमें ऋतु-सुलभ दृश्य तथा व्यापार अपना वास्तविक स्वरूप संरक्षित रखते हुए भी भावोद्दीपन में सहायक होते हैं। जैसा इस वसंत-वर्णन में हुआ है:—

पथिक तुरंत जाइ कंतहिं जताइ दीजौ,
आइगौ बसंत उर अमित उछाह लै।
कहै रतनाकर न चटक गुलाबन की,
कोप कै चढ़त तोप मैन बादसाह ल ॥
कोकिल के कूकनि की तुरही रही है बाजि,
बिरहिनि भाजि कहौ कौन की पनाह लै।
सीतल समीर पै सवार सरदार गंध,
मंद-मंद आवत मलिंद की सिपाह लै ॥

इसमें भी सेना का आरोप किया गया है पर ऋतु-सुलभ दृश्यों का कुछ अधिक ध्यान रखा गया है। सीधे उद्दीपन रूप में वसंत का वर्णन यहाँ हुआ है:—

पल पल दूजैं पल आवन की आस जिया,
ताहू पर पत्र आइ बिष बरसान्या है।

अवधि बदी है कल आवन की कंत अरु,
आज आइ ब्रज मैं बसंत दरसान्यौ है॥

पर रत्नाकर जी के सब ऋतु-वर्णन इसी उद्दीपन परिपाटी पर नहीं हुए हैं, बहुत से ऐसे वर्णनों में कवि का अनुराग स्पष्ट लक्षित होता है जिनमें वह दृश्यों को अपने हृदय के सामने रख कर रचना करने में प्रवृत्त हुआ है। ऐसे वर्णनों में कवि ने बिंब ग्रहण कराने का प्रयत्न करने के साथ ही उनका संवेदनात्मक अनुभव भी प्रत्यक्ष किया है। रत्नाकर जी बिंब ग्रहण कराने का कार्य दो शैलियों से करते हैं, एक तो संश्लिष्ट चित्रण से तथा दूसरे केंद्रीय व्यापार के संशोधन से। नीचे वर्षा ऋतु का एक चित्र देखिए:—

झूमि झूमि झुकत उमंडि नभ-मंडल मैं,
घूमि घूमि चहुँधा घुमंडि घटा घहरैं।
कहै रतनाकर त्यौं दामिनि दमंकैं दुरैं,
दिसि बिदिसानि दौरि दिव्य छटा छहरैं॥

घटाओं के झूम झूम के झुकने से तथा बिजली के चमक कर बादलों में छिप जाने से वस्तु का चित्र सजीव हो गया है। कवि ने इन दो केंद्रीय व्यापारों को परखा और इनका काव्योचित उपयोग कर अपनी चित्र-कला का परिचय दिया। दूसरी पंक्ति के छः घकारों की घर्राहट से बादलों का गरजना भी कुछ कुछ श्रवण-गोचर हो जाता है।

अब वृंदावन की रमणीय वसुंधरा में पावस का स्वरू देखिए:—

चहुँ दिसि तैं घन घोरि घेरि नभ-मंडल छाए,
घूमत, झूमत, झुकत औनि अतिसय नियराए।
दामिनि दमकि दिखाति, दुरति पुनि दौरति लहरैं,
छूटि छबीली छटा-छोर छिन छिन छिति छहरैं॥
पाइ प्रसंग प्रमोद-पौन कौ सो हलि हलकैं,
पल पल औरै प्रभा-पुंज अद्भुत-गति झलकैं।
कहुँ तिनकैं बिच लसति सुभग बग-पाँति सुहाई,
मुकता-लर की मनौ सेत झालर लटकाई॥
कहूँ साँझ की किरनि करति कछु कछु अरुनाई,
मनु सिंगार की रासि राग-रुचि की रुचिराई।

'हिंडोला'

घूमत, झूमत, झुकत इत्यादि के द्वारा मेघों की गतियों का प्रत्यक्षीकरण किया है। 'औनि अतिसय नियराए' कथन की योजना द्वारा जल से भरे हुए, झुके हुए, मेघों का स्वरूप प्रत्यक्ष-सा किया गया है। चारो दिशाओं से मेघ आकर पृथ्वी पर लटकते हुए छाए हुए हैं कह कर कवि पाठक की दृष्टि को चारों ओर से खींच कर एक केंद्र पर टिकाता है तथा पृथ्वो के 'बहुत पास तक' कह कर उसकी दृष्टि को कुछ विश्राम देता है जिससे वह उनका स्वरूप कुछ रुक कर अच्छी तरह देख ले।

'छहरैं' शब्द कैसा सार्थक है जो हम को कौंधे की छटा को पृथ्वी पर फैलता हुआ दिखा देता है। सुभग बक-पंक्ति ने उस चित्र का 'फिनिशिंग टच' पूरा कर दिया है, जिससे वह निखर आया है।

वर्ण विरोध से (मेघों का नीला रंग, बगुलों का श्वेत) वर्ण्य के रंगों को कितनी स्पष्टता से प्रत्यक्ष किया गया है। 'मुकता-लर' के विधान से सौंदर्य की वृद्धि ही हुई है।

चित्र उपस्थित करने में वस्तुओं के नाम गिना देनेवाली परिपाटी से काम नहीं चलता। उसके लिए संश्लिष्ट योजना की आवश्यकता होती है। यदि कवि किसी वृक्ष पर बैठे हुए पक्षियों की ओर हमारा ध्यान ले जाना चाहता है तो यह कह देना पर्याप्त न होगा कि वृक्ष पर पक्षी बैठे हैं। उसे संभवतः कहना होगा कि हरी पत्तियों से लदे वृक्ष की झुकी हुई टहनियों पर पक्षी फुदक रहे हैं, कुछ उड़ उड़ कर बैठ रहे हैं, कुछ उड़ जाने को पर फैला रहे हैं, कुछ ऊपर उड़ कर मँड़रा रहे हैं, कुछ कलरव करते हुए अपने चंचुपुटों के अग्र भाग से दूसरों के कंठ-प्रदेश में गुदगुदा रहे हैं। ऐसा ही कुछ स्वरूप रत्नाकर जी के "बैठत उड़त मँड़रात कल बोलत औ डारनि पै डोलत बिहंग बहु भाए हैं" से सामने आता है। देखिए:—

छोटे बड़े बृच्छनि की पाँति बहु भाँति कहूँ
सघन समूह कहूँ सुखद सुहाए हैं।
कहै रतनाकर बितान बन-बेलिनि के
जहाँ तहाँ बिबिध बिधान छबि छाए हैं॥
बैठत उड़त मँडरात कल बोलत औ
डारनि पै डोलत बिहंग बहु भाए हैं।
बिचरत बाघ बृक पूरत अतंक कहूँ
कहूँ मृग ससक ससंक फिरैं धाए हैं॥

यहाँ सब बातों को प्रधानता नहीं दी गई है। जो बात आवश्यक है वह सामने की गई है। वृक्षों की 'पाँति' को 'छोटे बड़े' कह कर कैसा स्वरूप प्रत्यक्षीकरण किया गया है। वृक्षों की लंबाई के इस छोटे बड़े पन ने हमारी दृष्टि को दृश्य पर टिकने का सहारा दिया है। बाघों और भेड़ियों का निडर हो कर फिरना तो उनके 'विचरने' से ही प्रतीत होता है। उधर उन से त्रस्त मृग इत्यादि दौड़ते फिरते हैं। इस चित्र से केवल बिंब ग्रहण ही नहीं होता, पाठक प्राप्त भाव को भी ग्रहण करते चलते हैं।

ऐसा ही एक चित्रण शिशिराष्टक में आया है। ठंढक से सिकुड़े हुए पक्षीगण अपने नीड़ों में-से गला निकाल कर इधर-उधर देख लेते हैं और फिर जाड़े के मारे मौन होकर उसी में दबक कर बैठ जाते हैं। जाड़े का स्वरूप इस चित्र से कैसा प्रत्यक्ष हुआ है। ठंढक अधिक है यह न कह कर कवि एक प्राकृतिक दृश्य खोज ले आता है जिससे जाड़े का अनुभव स्वयं प्रत्यक्षवत् हो जाता है:—

धाइ धाइ सिंधुर मदंध फूले लोधनि सौं,
गंध-लुब्ध ह्वै कै कंध रगरत गात हैं।
कहै रतनाकर प्रभात अरुनाई माहिं,
बाघनि के लेरुवा लरत लुरियात हैं॥
उठि उठि धूम बनबासिनि के बासनि तैं,
त्रासनि तैं सीत के तहाँई मँडरात हैं।
पंछीगन सीस काढ़ि बिटप-बसेरनि तैं,
उमहि कछूक मौन गहि रहि जात हैं॥

जाड़े के दिनों में पाला पड़ने से धुआँ कुछ घना होकर आग के चारो ओर मँडराता रहता है। कवि कल्पना करता है कि वह भी शीत के डर से आग के पास से दूर नहीं हटता। ऐसी ही कल्पना काव्य की सहायक होती है।

रत्नाकर जी के ऋतु वर्णन दो प्रकार के हैं, एक परंपरा-भुक्त, दूसरे अनुभूति-पोषित। परंपरा के अनुसार किए गए प्राचीन ढंग के वर्णनों में भी कवि ने ऋतुओं की विशेषताओं आदि की उपेक्षा नहीं की है। जो वर्णन प्राचीन रूढ़ि को छोड़ कर किए गए हैं उनमें वस्तुओं तथा स्वरूपों का प्रत्यक्षीकरण, ऋतु-सुलभ विशेषताओं का निरीक्षण तथा चित्रण इत्यादि अधिक पाए जाते हैं। नीचे की पंक्तियों में ग्रीष्म की प्रचंडता का कैसा वर्णन है:—

छायौ ऋतु ग्रीषम कौ भीषम प्रचंड दाप,
जाकी छाप सब छिति-मंडल सही लगी।
कहै रतनाकर बयारि बारि सीरे कहूँ,
पैयै नैंकु एक रहै अहक यही लगी॥
करवट लै लै बरवट ही बिताई राति,
पलक लगाए हूँ न पलक रही लगी।
अबहीं सिरान्यौ ना सँताप कल ही कौ फेरि,
ताप सौं तपाकर के तपन मही लगी॥

नीचे ग्रीष्म की झुलसती हुई लू का वर्णन है। वर्णन आलंकारिक शैली पर है पर लू का संवेदनात्मक स्वरूप पीछे नहीं पड़ा है, प्रत्युत, 'संदेह' योजना से उसमें वृद्धि ही हुई है:—

कैधौं अति दुसह दवागि की दपेट कैधौं,
बाड़व की बिषम झपेट-झर-झार है।
कहै रतनाकर दहकि दाह दारुन सौं,
उगिलत आगि कैधौं पावक-पहार है॥
रुद्र-दृग तीसरे की कैधौं बिकराल ज्वाल,
फेकत फुलिंग कै फनिंद फुफुकार है।
कैधौं ऋतुराज-काज अवनि उसास लेति,
कैधौं यह ग्रीषम की भीषम लुआर है॥

शरदाष्टक में क्वार की चाँदनी के वर्णन बहुत सुंदर हुए हैं। चारो ओर धवलिमा सी बिखरी रहती है। उसको देखने से हमारे नेत्रों को जो सुख प्राप्त होता है तथा हृदय पर जो शांत-प्रभाव पड़ता है उन सब का प्रत्यक्षीकरण हुआ है। कवि कहता है मानों स्वच्छ सुषमा तथा सुधा के फुहारे फूट फूट कर निकले पड़ते हों:—

छिटकति सरद-निसा की चाँदनी सौं चारु,
दीपति के पुंज परैं उचटि उछारे हैं।
स्वच्छ सुखमा के परिपूरित प्रभा के मनौ,
सुंदर सुधा के फूटि फबत फुहारे हैं।

यह चाँदनी क्या है इस विषय में कवि कल्पना करता है कि चंद्रमा ने अब बादलों के समूहों को जीत लिया है इसी विजय-हर्ष से कालिंदी के किनारे आज चाँदी की वृष्टि कर रहा है:—

क्वार-चाँदनी मैं रौन-रेती की बहार हेरि,
याही निरधार ही हुलास भरि धारै है

जीति दल बादल के परब पुनीत पाइ,

कूल कालिंदी के चंद रजत बगारै है ॥

अथवा वर्षा भर की संचित चाँदनी अब चंद्रमा से सौगुनी होकर निकली पड़ती है:—

चमकति रेती चारु जमुना-कछार-धार,

बिपिन अगार झलमल झुमड़ी परै।

राखी संचि चंद्रिका मनौ जो बरषा भर की,

सोई चंद तैं ह्वै सतचंद उमड़ी परै।

ये कल्पनाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ प्रस्तुत वस्तुओं की उपेक्षा करने को नहीं नियोजित की गई हैं इनसे कवि के हृदय का वह अनुराग प्रकट होता है जो प्रकृति की इन विभूतियों को देख कर उमड़ कर बहना चाहता है।

उद्धव-शतक में जो षट्-ऋतु वर्णन हैं वे वास्तव में ऋतु-वर्णन नहीं हैं। कृष्ण के वियोग में व्याकुल गोपियों की अवस्था की व्यंजना करने को उनकी अवतारणा हुई है। नीचे वर्षा की कुछ बहार देखिए:—

रहति सदाई हरियाई हिय-घायनि मैं,

ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है।

पीव पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति हैं,

सोई रतनाकर पुकार पपिहा की है॥

लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ उठै

चित मैं चमक सो चमक चपला की है।

बिनु घनस्याम धाम-धाम ब्रजमंडल मैं
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है ॥

वर्षा में सर्वत्र हरियाली छाई रहती है। यहाँ भी गोपियों के हृदय के घाव कभी सूखने नहीं पाते, सदा हरे बने रहते हैं। साम्य का आधार केवल यह मुहावरा ही है। पर यहाँ कवि का लक्ष्य ऋतु वर्णन नहीं है अतः हमें अधिक बुरा नहीं मानना चाहिए।

सायं तथा प्रभात के वर्णन भी प्राकृतिक सौंदर्य में गिने गए हैं। प्राचीन परिपाटी के कवियों को भी मन न होते हुए भी अपने काव्यों में ये वर्णन रखने पड़े हैं। बेचारे केशवदास ने भी बड़े दुःख से रामचंद्रिका में इनको रखा है। पर वे वर्णन कैसे हैं यह कहने की संभवतः यहाँ आवश्यकता नहीं। हमें तो रत्नाकर जी के वर्णन देखने हैं जिनसे कवि के हृदय का उल्लास फूटा पड़ता है। पहले हम प्रभात को देख लें। रत्नाकर जी ऐसा कह कर कि 'अँधेरा हट गया और उजेला फैल गया' विषय को चलता नहीं कर देते। वे उस दृश्य को बड़ी सूक्ष्मता से सामने लाते हैं। ज्यों-ज्यों पूर्व में प्रकाश फैलता जाता है त्यों-त्यों तम-तोम पच्छिम की ओर भागा जाता है। ऐसे वर्णन से संपूर्ण दृश्य प्रत्यक्ष हो जाता है। हम यही नहीं जान लेते हैं कि 'अँधेरे के स्थान में उजाला हो गया, स्वयं इस परिवर्तन के व्यापार को अपनी आँखों देख लेते हैं:—

आयौ अगवानी कौं समीर धीर दक्खिन कौ,
चहकि बिहंग मंगलीक गान गायौ है।

ज्यौं-ज्यौं ब्यौम बढ़त प्रकास-पुंज पूरब सौं,
त्यौं-त्यौं तम-तोम जात पच्छिम परायौ है ॥

'प्रकास-पुंज', 'तम-तोम' इत्यादि प्रयोगों से उनका स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे हमारे सामने प्रखर प्रकाश फैलता आता हो और घनी अंधकार राशि हटती-सी दिखाई देती हो। इन पंक्तियों में अब प्रभात समय के अन्य दृश्य देखिएः—

ऊषा कौ प्रकास लाग्यौ लौकन अकास माहिं,
सुमन बिकास कैं हुलास भरिबे लगे।
कहै रतनाकर त्यौं बिटप निवासनि मैं,
द्विजगन चेति कसमस करिबे लगे॥
मुनिजन लागे लेन चुभकी गगन गंग,
गौन पौन-पथिक हिये मैं धरिबे लगे।
तमचुर-बंदी धरे अरुन-सुबाने सीस,
ताकौ राज-रोर चहुँ ओर भरिबे लगे॥

वृक्षों के नीड़ों में पक्षियों का कसमस करने लगना प्रभात काल का एक स्वाभाविक दृश्य है। बार-बार कहते संकोच लगता है, फिर भी कहे बिना नहीं रहा जाता कि रत्नाकर जी उस विशेषता को सदा परख लेते हैं जो किसी दृश्य का प्राण होती है। यह विशेषता संश्लिष्ट योजना नामक कौशल से भिन्न है। इसे हम चाहें तो केंद्रीय व्यापार का प्रत्यक्षीकरण कह सकते हैं। इस केंद्र को प्रत्यक्ष कर देने से संपूर्ण दृश्य दास की भाँति पीछे लगा चला आता है। पर यह कला हिंदी के कितने कवियों में है?

प्रभात काल में पुष्पों तथा हरी घास पर झलमल करते हुए ओस कण झूल रहे हैं। प्रभात पवन से आंदोलित होकर दूब हिल जाती है अतः ओस-कण झूलते से प्रतीत होते हैं। पर ये वास्तव में हैं क्या? सुषमा के जो फुहारे छूट रहे हैं उन्हीं के ये छिटक कर पड़े हुए छींटे हैं। चारो ओर स्वच्छ सुषमा फैली हुई है। ये हिम-कण भी चमक रहे हैं। अवश्य ये उसी सुषमा के कण हैं। कैसी मधुर कल्पना है:—

फूलनि पै मंजु महि-हरित-दुकूलनि पै,
ओस-कन झूलैं झलमल-दुतिवारे हैं।
स्वच्छ सुखमा के मनौ छूटत फुहारे ताके,
बिंदु छुटकारे चहुँ-ओरनि बगारे हैं।

अब उधर संध्या हो रही है उसे भी देख लीजिए। संध्या की श्यामलता बढ़ रही है। सूर्यास्त हो चुका है। ऊँचे मकानों के मुड़ेरों पर कुछ 'पियराई' अभी बची है। पूर्व से अँधेरा बढ़ता चला आ रहा है। वृक्षों की छाया भी उधर ही को बढ़ती जा रही है। संभवतः वह अँधेरे की अगवानी करने जा रही है। दोनों एक-से न ठहरे। वह भी काला, यह भी काली। कल्पना तथा उत्प्रेक्षा वास्तविकता से कैसी हिली-मिली आई हैं। कहाँ कल्पना का कृत्रिम रंग प्रारंभ होता है? कहाँ वास्तविकता की भूमि पीछे छूट जाती है? कौन कह पावे? :—

छाई छबि स्यामल सुहाई रजनी-मुख की,
रंच पियराई रही ऊपर मुरेरे के।

कहै रतनाकर उमगि तरु-छाया चली,
बढ़ि अगवानी हेत आवत अँधेरे के।

नीचे सूर्य के अस्त होने का एक और दृश्य देखिए:—

जानि नभ-नाथ कौ पयान सैन-मंदिर कौं,
मंगलीक गान मैं दुजाली भूरि भूली है।
कहै रतनाकर बिनोद चहुँ कोद बढ़यौ,
कामिनी तरुनि पै प्रमोद प्रभा झूली है।
मोती-माल वारतीं दिगंगना उमंग भरीं,
तारा है अकास-अंगना सो परै रूली है।
प्राचीमुख सेत उत खेत चाँदनी है कियौ,
तूली साजि अंबर प्रतीची इत फूली है।

रत्नाकर जी का भिन्न-भिन्न रंगों का निरीक्षण भी सूक्ष्म है। कवि को अपने काव्य में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रंगों के ज्ञान की भी आवश्यकता पड़ती है। यदि उसका प्रकृति निरीक्षण सत्य तथा सूक्ष्म नहीं है तो वह अपने वर्णनों में भ्रमपूर्ण बातें लिखेगा जिनसे दृश्यों का चित्रण अस्वाभाविक तथा मिथ्या होगा। संस्कृत-साहित्य के प्रमुख कवियों की दृष्टि इस विषय में बहुत सूक्ष्म रही। बाणभट्ट के समान रंगों का ज्ञान तो संभवतः किसी अन्य कवि का नहीं माना जा सकता। उनके वर्णनों को हम प्रामाणिक मान सकते हैं। अपने कादंबरी के चित्रों में उन्होंने बड़ी सफलता से तूलिका चलाई है। पर संस्कृत-साहित्य के पतन के दिनों में इस विषय में बड़ा प्रमाद फैल गया। कवि-शिक्षा पर लिखी गई पुस्तकों के लेखकों ने कवियों

को बहुत कुछ मनमानी करने की आज्ञा दे दी । उन्होंने, काले, श्याम, नीले, बैंजनी इत्यादि रंगों को एक ही मान लिया तथा लाल और पीले रंग भी एक मान लिए गए। ऐसे सिद्धांत कुंठित दृष्टि के लक्षण हैं। हिंदी के कवियों ने भी यही भ्रमपूर्ण प्रथा अपनाई। इसके फल स्वरूप कवियों के वर्णनों में अस्वाभाविकता आने लगी। यहाँ तक कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रंगों के भेदोपभेदोंका निरीक्षण सूक्ष्मता से नहीं किया । पिछले कवियों में संभवतः बिहारी का रंग निरीक्षण सूक्ष्म तथा स्वाभाविक है। उनके पहले ही दोहे में रंगों की केवल स्वाभाविक योजना ही नहीं है, कवि को यह भी ध्यान है कि किस रंग के योग से कौन रंग कैसा हो जाता है:—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित-दुति होइ ॥

ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में रत्नाकर जी का रंग निरीक्षण सच्चा हुआ है। पर कहीं कहीं परंपरा इनके मार्ग में भी बाधक हुई है। नीचे प्रभातकाल का एक दृश्य देखिए। सूर्य्य बिंब के फूट निकलने के पहले आकाश में घनी नीलिमा छाई रहती है। पहले सूर्य्य-बिंब फीके सफेद रंग का कुछ गुलाबी लाली लिए निकलता है। फिर वह गहरा लाल हो जाता है। तब लाली छँट जाती है, पर प्रकाश में प्रखरता नहीं आ पाती। क्रमशः और दिन चढ़े बिंब प्रखरता धारण करता है:—

देखत हीं देखत दिगंगना सु अंग पै,
बाजीगर-भानु कौ कला कौ कर छ्वै गयौ।
नीलम तैं मानिक पदुमराग मानिक तैं,
तातैं मुकता ह्वै पुनि हीरा-हार ह्वै गयौ॥

वर्णन बहुत सुंदर है। अप्रस्तुत विधान रंगों के सूक्ष्म ज्ञान तथा निरीक्षण पर निर्भर है। मानिक और पद्मराग यदि पद्मराग और मानिक के क्रम से आते तो अच्छा होता क्योंकि मानिक-सा लाल होने के पहले सूर्य्य फीका गुलाबी रहता है फिर गहरा लाल होकर गुलाबी होता हुआ फीका पड़ता है। छंद में अधिक स्थान नहीं था अतः संभवतः रत्नाकर जी एक दशा का उल्लेख न कर सके। मानिक तथा पद्मराग के रंगों में अंतर माना गया है। मानिक तोते की चोंच-सा गहरा लाल होता है। पद्मराग लाल कमल के रंग का होता है। तुरंत फूट कर निकले हुए सूर्य्य बिंब को कादंबरी में पद्मराग के रंग का कहा है। रत्नाकर जी ने हलके गुलाबी रंग के लिए प्रायः पद्मराग को ही रखा है। गोरे गालों की ललाई को नीचे पद्मराग-सा बताया गया है:—

दंत मुकताली मैं निराली लसै लाली बलि
अधर चुनी तैं प्रभा नीलम की छूटी है।
कहै रतनाकर कपोल पद्मरागनि पै
कल कुरुबिंद की छबीली छटा छूटी है॥

रत्नाकर जी ने अपने काव्य में नियोजित करते समय रंगों की स्वाभाविकता का प्रायः ध्यान रक्खा है पर जहाँ पर प्राचीन कवि

संप्रदाय की रूढ़ि का अनुसरण किया है वहीं कुछ अस्वाभाविकता आई है। कृष्णचंद्र का रंग श्याम माना जाता है तथा आलंकारिक विधान में उनके लिए कुवलय, दूर्वादल, तमाल, गगन, मेघ (श्याम) नीलमणि इत्यादि उपमान प्रस्तुत किए जाते हैं। दूर्वा दो प्रकार की होती है। एक पन्ना-सी हरी दूसरी नीलम-सी कान्तिवाली। कृष्ण के शरीर का उपमान नीलम रंग की दूर्वा ही होती है। मरकत-सो (पन्ना) हरी नहीं। नीचे की पंक्तियों में रत्नाकर जी ने हरी दूब को पन्ना सा ही माना है:—

हरित भूमि चहुँ कोद मोद मंडित अति सोहै,
नर की कहा चलाइ देखि सुर-मुनि-मन मोहै।
मानहु पन्नानि सिला संचि बिरची बिरंचि बर,
जेहिं प्रभाव नहिं करत नैंकु बाधा भव-विषधर॥

कादंबरीकार ने भी सुग्गे की देह को मरकतमणि सा कहा है। यह कहने की तो आवश्यकता नहीं कि यहाँ बड़े सुग्गे से तात्पर्य है, पहाड़ी छोटे सुग्गे से नहीं जिसे सुग्गी तथा किसी किसी प्रांत में टुइयाँ भी कहते हैं। पर प्राचीन कवि-परंपरा ने कृष्ण की भी मरकत मणि से उपमा दी है। यह उपमा निरीक्षण का अनुसरण करनेवाली नहीं है। तुलसीदास जी ने भी ऐसा किया है। देखिए:—

राजकुअँर दोउ सहज सलोने,
इन्हते लहि दुति मरकत सोने।

इसी परिपाटी के अनुसार रत्नाकर जी ने भी यहाँ अप्रस्तुत विधान किया है:—

आठौ जाम बाम मग जोहति मृगी-सी जब
चौंकै पाय आहट तिनूका खरकत की।
अनुराग रंजित अवाज सौं कढ़त स्याम
मानिक तैं मानहु मरीचि मरकत की॥

ऐसे अप्रस्तुत विधान का काव्य में क्या स्थान है इसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता। यहाँ तो केवल रंग का प्रश्न है। नीचे के यमुना वर्णन में भी मरकत आया है पर यह कुछ उचित माना जा सकता है क्योंकि यमुना का जल कुछ हरापन लिए हुए होता है:—

झलकति अंग तैं उमगि अनुराग-प्रभा,
तातैं सुभ स्याम-अंग रंग-ढरकत की।
मरकत मनि तैं मरीचि कढ़ै मानिक की,
मानिक तैं मानहु मरीचि मरकत की॥

रत्नाकर जी के प्रकृति-वर्णनों में हिंडोले का वृंदावन-वर्णन तथा गंगावतरण का गोलोक-वर्णन अच्छे हुए हैं। दोनों वर्णन विस्तृत हैं। यहाँ केवल वृंदावन वर्णन की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं:—

परम रम्य आराम सुखद वृंदावन नितहीं,
पर पावस-सुषमा असीम जानत कछु चितहीं।
हरित भूमि चहुँ कोद मोद-मंडित अति सोहै,
नर को कहा चलाइ देखि सुर-मुनि-मन मोहै॥

मानहु पन्नानि सिला संचि बिरची बिरंचि बर,
जेहिं प्रभाव नहिं करत नैंकु बाधा भव-विषधर।
इत-उत ललित लखाति चटक-रँग बीरबधूटी,
मनहु अमल अनुराग-राग की उपजीं बूटी॥
दूबनि पै झलमलत बिमल जलबिन्दु सुहाए,
मनु बन पै घन वारि मंजु मुकता बगराए।
तरुवर तहाँ अनेक एक सौं एक सुहाए,
नाना-बिध फल फूल फलित प्रफुलित मन-भाए॥
कहूँ पाँति बहु भाँति अमित आकृति करि ठाढ़े,
कहूँ झुंड के झुंड झुकैं झूमैं गथि गाढ़े।
मंजुल सघन निकुंज कहूँ सोभा सरसानी,
गुंजत मत्त मलिंद-पुंज जिन पै सुखसानी॥

वर्णन यद्यपि आलंकारिक शैली पर है पर अलंकारों की योजना ऐसी ही हुई है जिससे प्रस्तुत वर्ण्यों की शोभा-वृद्धि हुई है तथा उनके स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायता मिली है। संपूर्ण दृश्य चित्रपट सा हमारे सामने आता है। अलंकार स्वाभाविकता के सदा प्रतिकूल हैं ऐसा समझना भ्रम ही है। नीचे आलंकारिक शैली पर गंगा का कैसा सुंदर वर्णन हुआ हैः—

राका रजनी की सज नीकी गंग की यौं लसै
मानौ मुकता के भरे थार थलकत हैं।
कहै रतनाकर यौं कल धुनि आवै होति
मानौ कलहंसनि के गोत ललकत हैं॥

हिलि मिलि मंद लहरी के माल-जालनि पै
झिलिमिल चंद के अनंद झलकत हैं।
मानौ चारु चादरे बिसाल बादले के बने
पवन-प्रसंग सौं सुढंग हलकत हैं॥

चाँदनी छिटकी हुई है। गंगा का जल चमकता हुआ उछलता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों मोतियों से लबालब भरे थाल थलकते हों। मंद प्रवाह की कलध्वनि के लिए बोलते हुए कलहंसों की योजना की गई है। चंचल लहरों पर चाँदनी पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सोने के तार पवन से हिलाए जाते हों। यह अप्रस्तुत योजना गंगा के स्वरूप को कितनी सुंदरता से प्रत्यक्ष करती है।

रत्नाकर जी के बाह्यदृश्य-विधान के संबंध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। एक बात यहाँ फिर दोहरा दी जाती है। हमारे हृदय में जिस प्रकार भावों को ग्रहण करने की शक्ति है उसी प्रकार दृश्यों के स्वरूपों को कल्पना द्वारा प्रत्यक्षवत् करने की शक्ति है। किसी भाव-धारा में मग्न करने के लिए कवि में कौशल अपेक्षित है। यदि कवि में वह विशेष कला नहीं है तो वह कितना भी वाक् विस्तार करे, अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। उसी प्रकार दृश्यों को प्रत्यक्ष करने के लिए भी कला की आवश्यकता है। किसी दृश्य के अंग-प्रत्यंग की रेखा-रेखा का उल्लेख कर के कवि असफल हो सकता हैं यदि उसे इस बात का ज्ञान नहीं है कि किसी दृश्य की कौन बात केंद्रीय है जिसे अवश्य पकड़ लेना चाहिए।

रत्नाकर जी चित्रों के केंद्रों को परख लेते हैं। किसी घास के मैदान में गाएँ चर रही हैं। यदि केवल इसका उल्लेख ही कर दिया जाय तो चित्र न उतरेगा। यदि 'बछड़ों के साथ साथ गाएँ चर रही हैं' कहा जाय तो चित्र स्पष्ट उतर सकता है। बछड़ों सहित गाएँ चरने में जो आकर्षण है वह हमारी कल्पना को आकृष्ट कर केंद्रित कर लेता है। देखिए:—

जित-तित सुरभि सबत्स चरति बिचरति सुखसानी।

चरने के साथ ही उनके बिचरने का उल्लेख कर के चित्र को और भी व्यापक किया गया है। हमारी दृष्टि के सामने एक बड़ा हरी घास से आच्छादित स्थान आ जाता है जिसमें छोटे छोटे बछड़ों को लिए गौएँ पूँछ हिलाती तथा सिर नीचा किए चरती फिरती हैं। यह कला रत्नाकर जी में सर्वत्र पाई जाती है। जिस प्रकार वे भावों की व्यंजना करने में सफल हुए हैं उसी प्रकार बाह्य दृश्यों के चित्रण में। पाठक बाह्य-दृश्यों के गोचर रूपों पर दृष्टि टिका कर भाव-सत्ता की ओर अग्रसर होता है। आलंबनों के रूपों को अपने सामने देख कर फिर उनके भीतरी भावों से रागात्मक संबंध स्थापित करने में देर नहीं लगती।

विभावों की स्थापना का अध्ययन करके अब हम भाव-व्यंजना के अध्ययन की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

भाव-व्यंजना

शृंगार रस

स्वकीया-निष्ठ प्रेम की पावन प्रणाली रामचरित मानस, पद्मावत इत्यादि प्रबंध काव्यों में ही चल पाई। मुक्तकों में तो प्रेमी प्रेमिका समाज तथा कुल-मर्यादा के बंधनों को तोड़ कर मुक्त हो गए। इन मुक्तकों की उन्मुक्त प्रणाली में प्रारंभ के अभिलाष और उत्कंठा को तथा अंत के आह और कराह को कुछ अधिक क्षेत्र मिला। स्वकीया की योजना से भी पूर्वराग, प्रवास आदि में वियोग-जन्य विकलता और वेदना को पर्याप्त अवसर था, पर कवियों को उससे संतोष न हुआ। वे और खुल कर उड़ना चाहते थे। वे प्रेमलोक में प्रतिबंधों को स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। कहने का तात्पर्य यह कि मुक्तकों में, कुछ व्यतिरेकों को छोड़, स्वच्छंद प्रेम-कथाओं की प्रतिष्ठा होती आई थी। रत्नाकर जी भी मुक्तकों में इसी प्रणाली पर आगे बढ़े। इन कथाओं के प्रेमी संसार और समाज के बाहर एकांत में अपनी निराली कुटी छाते हैं। संसार में साधारणतः प्राप्त होने वाले सुख दुःख के साथ निर्वाह करने वाला प्रेम इनमें नहीं होता। इसे यदि हम लोक बाह्य प्रेम कहना चाहें तो कह सकते हैं। ऐसे प्रेम की भाव-धारा को निर्दिष्ट करने वाले संकेत-सूत्र को हम इन पंक्तियों में देख सकते हैं:—

अब न हमारौ मन मानत मनाएँ नैंकु,
टेक करि बापुरौ बिबेक नखि लेन देहु।
कहै रतनाकर सुधाकर-सुधा कौं धाइ,
तृषित चकोरनि अघाइ चखि लेन देहु॥
संक गुरु लोगनि के बंक तकिबे की तजि,
अंक भरि सिगरौ कलंक सखि लेन देहु।
लाज कुल-कानि के समाज पर गाज गेरि,
आज ब्रजराज की लुनाई लखि लेन देहु॥

इसके साथ ही इन प्रेमियों का यह भी दावा है कि समाज-विधान में जकड़े रहने वाले सीधे-साधे मनुष्यों ने इस दिव्य रस का अनुभव ही नहीं किया है, नहीं तो वे भी ऐसे न रहतेः—

देतिं हमैं सीख सिखि आईं सो कहाँ सौं कहौ,
सीखी सुनी नीति की प्रतीति नहिं पेखैं हम।
कहै रतनाकर रतन रूप औषध कौ,
जानत प्रभाव जो न तासौं कहा रेखैं हम॥
प्रानहूँ तैं प्यारी तौ प्रमानैं कुलकानि पर,
वह मुसकानि कानि हूँ तैं प्रिय लेखैं हम।
देखी जिन नाहिं तिन्हैं देखत दिखावैं कहा,
देखि कै न देखैं फेरि नैंकु तिन्हैं देखैं हम॥

अनेक सीख देने वालों की कुछ ऐसी ही दशा देखी जा चुकी है। ऐसी अवस्था में इन प्रेमियों की चुनौती का उत्तर ही क्या है!

यही न देखिए कल कुल-व्यवहार की शिक्षा देती थी और आज स्वयं बावली सी कुंजों में डोल रही है:—

देति ही काल्हि ही सीख हमैं पर आपु ही आज मलोलन लागी।
सामुहैं आयौ सुबोल बड़ौ अब तौ लघुता लिए बोलन लागी॥
रूप-सुरा रतनाकर की चखतैं अँखियाँ इमि लोलन लागी।
बावरी लौं बलि कुंजनि कुंजनि भाँवरी देत सी डोलन लागी॥

दो हृदयों में प्रेम की सरसता के स्वाभाविक उदय का चित्र निम्नलिखित पंक्तियों में बहुत सुंदर अंकित हुआ है। राधा दो एक दिनों से यशोदा के यहाँ जाने लगी हैं। न जाने क्यों बिना काम भी वहाँ रह जाती हैं। कृष्ण को संदेह होता है कि वे कहीं खिलौने न चुरा लें। खिलौने तो वैसे ही रहते हैं पर देखते ही देखते किसी और ही वस्तु की चोरी हो जाती है:—

आवन लगी है दिन द्वैक तैं हमारैं धाम
रहै बिनु काम जाम जाम अरुझाई है।
कहै रतनाकर खिलौननि सम्हारि राखि
बार बार जननी चितावत कन्हाई है॥
देखीं सुनी ग्वारिनि कितेक ब्रजवारिनि पै
राधा सी न और अभिहारिनि लखाई है।
हेरत हीं हेरत हरयौ तौ है हमारौ कछू
काहू धौं हिरानौ पै न परत जनाई है॥

प्रेम के अंतर्गत आनेवाली अनेक सूक्ष्म मानसिक वृत्तियों का कवि ने अनुभव किया है। प्रेम में संपूर्ण वृत्तियाँ एक-निष्ठ हो

जाती हैं। न मन किसी और की सोचता है, न आँखें किसी और की ओर देखना चाहती हैं। देखने की साध भी अनंत होती है। अनेक बार प्रिय को देख लेने पर भी फिर देखने की कामना बनी ही रहती है:—

कीजियै हाय उपाय कहा
अपने सियराइबे कौं हमैं दाहतिं।
रूप-सुधा रतनाकर की सु-
चखावन काज निरंतर नाहतिं॥
और रहीं कित हूँ की नहीं
अँखियाँ दुखियाँ उतहीं कौं उमाहतिं।
ऐसी भई दिखसाध असाध कै
देख्यौ अवै पुनि देखिबौ चाहतिं॥

कुछ स्वाभाविक व्यापारों के सहारे कवि बड़ी सुंदर कल्पनाओं की सृष्टि कर लेता है। आँसू नेत्रों से बह बह कर पैरों पर गिरा करते हैं। इसका कारण क्या है ? आँखें आँख भर के एक बार अपने प्रिय को देखना चाहती हैं। पर स्वयं उस तक पहुँचने की शक्ति नहीं है। पैर यदि अनुकूल हों तो प्रिय तक पहुँचा सकते हैं। अतः पैरों को अनुकूल बनाने को नेत्र उन पर अश्रु-जलांजलि चढ़ा रहे हैं:—

देखिबे कौं अकुलानी रहैं नित
पीर सौं रंचक धीर न धारतिं।

त्यौं रतनाकर रैन-दिना कलपैं
पल पै पल नैंकु न पारतिं ॥
ये अँखियाँ पँखियाँ बिनु हाय
सहाय कौ और न ब्यौंत बिचारतिं ।
धाइबे कौं उत ध्याइ मनाइ कै
पाइनि पै जल-अंजलि ढारतिं ॥

काव्यगत कल्पनाओं में कवि को लोक-सीमा से बहुत दूर तक इधर उधर उड़ने का अधिकार होता है फिर भी उसके लिए एक स्पष्ट लोक-सिद्ध आधार बनाए रखना आवश्यक होता है। यदि कवि लोक-प्राप्त व्यापारों का एक दम उल्लंघन कर स्वच्छंद विचरण करने लगते हैं तो उनकी कल्पनाएँ अद्भुत तथा चमत्कारिणी होते हुए भी उतनो काव्योपयोगी नहीं रह जातीं। इसी लिए प्रायः कवि लोक-प्राप्त गोचर आधार स्थापित कर आगे बढ़ते हैं। एक बार यह आधार स्थापित हो जाने पर फिर यदि असिद्ध बातें भी उपस्थित की जाती हैं तो वे उतनी बुरी नहीं लगतीं। रत्नाकर जी के स्वभाव की यह विशेषता है कि वे कभी भी ऐसी अद्भुत कल्पनाएँ नहीं उपस्थित करते जिनका कुछ न कुछ आधार न हो। एक उदाहरण ले लीजिए। जिस दिशा में चंद्र उगा रहता है उसी ओर मुँह करके दौड़ने से वह और भी आगे बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार यदि अटारी पर चंद्र की ओर मुँह करके चढ़ा जाय तो ऐसा लगता है कि वह और भी आगे बढ़ता जाता है। ऐसी साधारण बातें बालकों के अनुभव में प्रायः आती रहती हैं। यदि इसी स्वाभा-

विक व्यापार को आधार बनाकर कोई कवि कहे कि किसी चंद्र-बदनी की मुखकान्ति से पराजित होकर चंद्र भागा जाता है तो यह कल्पना कितनी काव्योपयोगी होगी। अब रत्नाकर जी की कल्पना देखिएः—

संग मैं तरैयनि के राका रजनीस चारु
चौहरे अटा पै छटा बलित बिराज्यौ है।
कहै रतनाकर निहारि सो नबेली निज
आनन सौं करन मिलान ब्यौंत साज्यौ है॥
संग लै सयानी सखियानि नियरान चली
पग-पग नूपुर-निनाद मग बाज्यौ है।
ज्यौं-ज्यौं मंद-मंद बढ़ी आवति गरूर बढ़ी
त्यौं त्यौं मद-चूर चंद दूरि जात भाज्यौ है॥

सुख के दिन जाते देर नहीं लगती। दुःख के दिन पहाड़ हो जाते हैं। कोई गोपिका अपनी सखी से छोटी सी रात्रि को बढ़ा देने की प्रार्थना कर रही है क्योंकि आज ब्रजराज मिलनेवाले हैंः—

आज बड़े भागनि मिलैंगे ब्रजराज आइ,
साज सुख-संपति के सिगरे सजाइ दै।
कहै रतनाकर हमारे अभिलाष लाख,
रजनी रंचक ताहि सजनी बढ़ाइ दै॥

प्रेम की स्निग्ध तथा पिच्छल भूमि में आत्म-समर्पण स्वयं हो जाता है। अपना संपूर्ण अस्तित्व तथा अपनापन किसी और ही का हो जाता है। तब हठ और मान का प्रश्न ही नहीं रह जाताः—

न चली कछु लालची लोचन सौं, हठ-मोचन कै चहनोई परयौ।
रतनाकर बंक-बिलोकन-बान, सहाए बिना सहनोई परयौ॥
उततैं वह गात छुवाइ चले, तब तौ प्रन कौं ढहनोई परयौ।
भरि आह कराह 'सुनौ जू सुनौ' नँदलाल सौं यौं कहनोई परयौ॥

अनेक शृंगारी उक्तियाँ मुहावरों पर आश्रित हैं। इन पंक्तियों में एक उदाहरण देखिएः—

टेरैं हूँ न हेरै दृग फेरैं हूँ न फेरैं दृग,
बैकल सी वा गुन उधेरति बुनति है।
कहै रतनाकर मगन मनही मन मैं,
जानै कहा आनि मन गौर कै गुनति है॥
होति थिर कबहूँ छनेक फिरि एकाएक,
भाँतिनि अनेक सीस कबहूँ धुनति है।
घालि गयौ जब तैं कन्हैया नेह काननि मैं,
तब तैं न नैंकु कछू काहू की सुनति है॥

कानों में तेल डाल लेने पर सुनाई नहीं पड़ता। इसी व्यापार के सहारे 'वह कान में तेल डालकर बैठा है' प्रयोग की सृष्टि हुई है जिसकी आवश्यकता तब होती है जब हम किसी को अपनी ही धुन में मस्त तथा दूसरों की काम की बातें सुनने में भी उपेक्षा करते देखते हैं। इस नायिका के कानों में भी कन्हैया स्नेह (तेल या प्रेम) डाल गया है जिसकी स्निग्धता से वह इतनी मग्न है कि किसी की कुछ सुनती ही नहीं। 'स्नेह' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग यहाँ कितना काव्योपयोगी है। रत्नाकर जी कभी किसी भावना को

सीमित नहीं करते। वे भाव-भूमि तक पाठकों को पहुँचा कर स्वयं कल्पना करने के लिए छोड़ देते हैं। किसी भाव के विषय में जब कवि स्वयं बहुत कुछ कह देता है तो वह सहृदय पाठक की कल्पना को अपनी उक्ति से सीमित कर देता है। पर रत्नाकर जी की कला ऐसे अवसरों पर अपने को संयत कर लेने में है। वह क्यों 'मगन' है यह बताने की कवि आवश्यकता ही नहीं समझता। पाठक उसकी दशा देख कर उसकी प्रसन्नता के कारण का स्वयं अनुमान करें। कवि एक बात का पता अवश्य दे देता है। कन्हैया उसके कानों में स्नेह डाल गया है, कुछ प्रेम की बातें कह गया है। बातें कुछ ऐसी अवश्य थीं जिन्हें कान में कहना पड़ा। अब पाठक चाहें तो आगे स्वयं कुछ अनुमान करें।

मट्टी के जिन बर्तनों में कुछ दिन तक तेल, घृत आदि रखे जा चुकते हैं उनमें यदि पानी भरा जाता है तो वे बाहर छलक आते हैं। इस नायिका का घट (शरीर) भी नटनागर के स्नेह (प्रेम, तेल) से भीन चुका है। अतः अब उसमें 'धीर' रूप नीर नहीं रुकताः—

हारीं करि जतन अनेक संगवारी सबै,
छिन छिन अंग सोई रंग गहरत है।
कहै रतनाकर न ताती बात हूँ कैं घात,
छाई चिकनाई कौ प्रभाव प्रहरत है॥
आँस-मिस नैननि तैं रस-मिस बैननि तैं,
अंगनि तैं स्वेद-कन ह्वै कै ढहरत है।

भीन्यौ घट जब तैं सनेह नटनागर कौ,
तब तैं न बीर धीर-नीर ठहरत है ॥

इस प्रकार अपने विस्तृत निरीक्षण के सहारे कवि ने अनेक सुकुमार तथा सार्थक कल्पनाओं की सृष्टि की है। जब तक प्रिय का संयोग रहता है उसके लावण्यादि से नेत्र प्रभावित रहते हैं। पर उसके वियोग में नेत्रों को देखने को कुछ नहीं मिलता। अब हृदय के नेत्र अपना काम करते हैं। वियोगावस्था में प्रिय हृदय को गंभीर से गंभीर सतह में प्रवेश करता जाता है। इस प्रेम व्यापार के समकक्ष कवि ने एक बाह्य-दृश्य की योजना की है। दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखने वाला ज्यों ज्यों पीछे हटता जाता है त्यों त्यों वह अपने को दर्पण में और भी भीतर की ओर प्रवेश करते हुए देखता है। इस व्यापार का ऊपर कहे हुए प्रेम-व्यापार से कैसा साम्य है। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं:—

चाहत निकारन तिन्हैं जो उर-अंतर तैं
ताकौ जोग नाहिं जोग मंतर तिहारे मैं।
कहै रतनाकर बिलग करिबै मैं होति
नीति बिपरीत महा कहति पुकारे मैं ॥
तातैं तिन्हैं ल्याइ लाइ हिय तैं हमारे बेगि
सोचियै उपाय फेरि चित्त चेतवारे मैं।
ज्यौं ज्यौं बसे जात दूरि दूरि प्रिय प्रान-मूरि
त्यौं त्यौं धँसे जात मन-मुकुर हमारे मैं ॥

कवि अपनी इस कल्पना पर स्वयं मुग्ध है। इसे अपनी रच-

नाओं में कई बार दोहराया है। इस दोहे में भी वही बात कही गई है:—

संतत पिय प्यारे बसत मो हिय दर्पन माहिं।
धसत जात त्यौं त्यौं सखी ज्यौं हीं ज्यौं बिलगाहिं॥

वियोगावस्था में प्रिय हृदय में धँसता जाता है इस व्यापार का कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भी सुंदर उपयोग किया है। वियोग में नेत्रों से आँसू बहते रहते हैं। कवि कहता है ये आँसू नहीं हैं, प्रिय के मानस में (हृदय रूप सरोवर में) धँसने से ये छींटे उड़े हैं:—

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे,
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे?

'साकेत'

उपर्युक्त दर्पण वाली कल्पना से मिलती हुई दो एक कल्पनाएँ और की गई हैं। दर्पण में प्राप्त प्रतिबिंब में हमारे अंगों की दिशाएं बदल जाती हैं। हमारा दक्षिण अंग बाईं ओर प्रतिबिंबित होता है तथा बाम अंग दाहिनी ओर। यह एक साधारण व्यापार है जिसकी ओर हम प्रायः ध्यान भी नहीं देते। पर कवि की दृष्टि से ऐसे व्यापार—यदि वे काव्योपयोगी हैं—नहीं बच पाते। देखिए कवि ने इसका कैसा सुंदर उपयोग किया है:—

हा हा खाइ हाय कै दुखी ह्वै दूरि हीं सौं देखि,
सैननि मैं मंजु मूक बैन जे उचारे हैं।

कहै रतनाकर न रंच तिनकौ है सुधि
बिकल हिये के भाय सकल बिसारे हैं ॥
हौं तौ रही दंग देखि निपट निरालौ ढंग,
भाव उलटे ही सब अब तुम धारे हैं।
पावत हीं धाम मन-मुकुर हमारैं स्याम,
दच्छिन तैं बाम भए तेवर तिहारे हैं ॥

श्रृंगार रस में आलंबन की विशेषता रहती है। रतिवृत्ति सौंदर्य पर आश्रित है। अतः कवियों के लिए नायक-नायिकाओं की उन स्वरूप-गत विशेषताओं का चित्रण करना आवश्यक होता है जो हृदय में अभिलाष, उत्कंठा आदि को जाग्रत कर रतिभाव को उद्दीप्त करती हैं। इस स्वरूप-प्रत्यक्षीकरण में नेत्र, मुसक्यान आदि की विशेषताएँ तथा शरीर की अन्य भावोपयोगी चेष्टाएँ आ जाती हैं। आचार्यों ने इन सब का समष्टि-रूप में अलंकार नाम रखा है। ये काव्यालंकारों से भिन्न हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं। इनके अंतर्गत नायिकाओं की वे अयत्नज विशेषताएँ जो यौवन में स्वतः प्राप्त होती हैं तथा अन्य स्वभाव-सिद्ध कृतिसाध्य विशेषताएँ जो मन में किसी भाव के जाग्रत होने पर प्राप्त होती हैं, आ जाती हैं। पीछे ही कहा जा चुका है कि रत्नाकर जी अपने वर्णनों में आचार्यों द्वारा गिनाए गए संकेतों का अंध-अनुसरण नहीं करते। उन संकेतों को स्वयं अपने निरीक्षण से परिमार्जित कर प्रयुक्त करते हैं। नीचे की पंक्तियों में हाव, मौग्ध्य तथा विलास की कैसी सुन्दर योजना हुई है:—

गूँथन गुपाल बैठे बेनी बनिता की आप,
हरित लतानि कुंज माहिं सुख पाइकै।
कहै रतनाकर सँवारि निरवारि बार,
बार बार बिबस बिलोकत बिकाइ कै॥
लाइ उर लेत कबौं फेरि गहि छोर लखैं,
ऐसे रही ख्यालनि मैं लालन लुभाइ कै।
कान्ह-गति जानि कै सुजान मन मोद मानि,
करत कहा हौ कह्यौ मुरि मुसुकाइ कै॥

'करत कहा हौ ?' ऐसे भोले प्रश्नों में न जाने कितनी सरसता छिपी रहती है। अब इन पंक्तियों के भोलेपन को देखिए:—

जाके सुर प्रबल प्रबाह कौ झकोर तोर,
सुर-नर-मुनि-वृन्द-धीर-बिटप बहावै है।
कहै रतनाकर पतिब्रत परायन की
लाज कुलकानि कौ करार बिनसावै है॥
कर गहि चिबुक कपोल कल चूमि चाहि
मृदु मुसुकाइ जो मयंकहिं लजावै है।
ग्वालिनि गुपाल सौं कहति इठलाय कान्ह
ऐसी भला कोऊ कहूँ बाँसुरी बजावै है॥

प्रेम-लोक की रीति ही न्यारी है। यहाँ अभिलषित वस्तु के प्रति भी अनादर प्रकट किया जाता है तथा 'हाँ' के स्थान में 'नाहीं' की प्रणाली अधिक उपयुक्त समझी जाती है। देखिए इस तिरस्कार

के भीतर कौन सी भावना छिपी है। ऐसी ही उक्तियों में आचार्यों ने 'विव्वोक' माना है।

दीठि तुम्हैं छ्वै छुली पलटयौ रँग, दीसत साँवरौ साज सबै है।
कहै रतनाकर रावरे अंगनि, चेटक पेखि प्रतच्छ परै है॥
देति हैं गोरस ठाढ़े रहौ उत, रार करैं कछु हाथ न ऐहै।
साँवरे छैल छुवौगे जो मोहिं तौ, गातनि मेरे गुराई न रैहै॥

हाव आदि नियोजित करने की कला पर कवि का अच्छा अधिकार है। एक उदाहरण देखिए: —

संग मैं सहेलिनि के जोबन उमंग-रली,
बाल अलबेली चली जमुना अन्हाइ कै।
कहै रतनाकर चलाई कान्ह काँकर त्यौं,
ठठकि सुजान सखियानि सौं पछाइ कै॥
दाएँ करि गागरि सँभारि झुकि बाईं ओर,
बाएँ कर-कंज नैंकु घूँघट उठाइ कै।
दै गई हिये मैं हाय दुसह उद्वेग दाग,
लै गई लड़ैती मन मुरि मुसकाइ कै॥

कंप, स्वेद आदि सात्विकों की योजना भी बड़ी कुशलता से की गई है। विवर्णता तथा कंप की प्राचीन शैली को एक योजना देखिए:—

काहू मिस आजु नंद मंदिर गुबिंद आगैं,
लेतहिं तिहारौ नाम धाम रस पूर कौ।
सुनि सकुचाइ लगे जदपि सराहन से,
देखि कला करत कपोत अति दूर कौ॥

मृगमद-बिंदु तऊ त्राटक दुचंद भयौ,
मंद भयौ खौर हरिचंदन कपूर कौ।
थहरन लागे कल कुंडल कपोलनि पै,
छहरन लाग्यौ सीस मुकुट मयूर कौ॥

स्तंभ सात्विक तथा जड़ता संचारी का सुंदर योग इन पंक्तियों में देखिए:—

ज्यौं भरि कै जल तीर धरी निरख्यौ त्यौं अधीर ह्वै न्हात कन्हाई।
जानैं नहीं तिहिं ताकनि मैं रतनाकर कीनी कहा टुनहाई॥
छाई कछू हरुवाई सरीर कै नीर मैं आई कछू भरुवाई।
नागरी की नित की जो सधी सोई गागरि आज उठै न उठाई॥

शृंगार रस में विप्रलंभ के चित्र अधिक मार्मिक होते हैं। मनुष्य स्वभाव की विशेषताएँ इसके मूल में काम करती हैं। हमें जितना आनंद प्राप्त्याशा में प्राप्त होता है उतना वास्तविक प्राप्ति में नहीं। विघ्नबाधाओं के पड़ने से भी प्राप्त वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है। सुंदर से सुंदर वस्तु भी यदि बिना प्रयत्न के अनायास प्राप्त हो जाती है तो हम उस से उतना आनंद नहीं प्राप्त कर पाते। दूसरी बात यह है कि दूरी से आकर्षण बढ़ता है। दूर रहने पर कल्पना अपनी शक्ति से लक्ष्य को और भी आकर्षक रूप में उपस्थित करती रहती है। प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाला जब प्राप्ति के पास पहुँचता है तो लालसा को कुछ कम पाता है। बहुत दिन तक प्रवास करने के पश्चात् जब हम घर लौटते हैं तो उसके प्रति हमारे हृदय में कैसा स्नेह रहता है। पर कुछ दिनों तक उसी घर में रह लेने के पश्चात्

हमारे छोह का उफान ठंढा पड़ने लगता है। जब हमारे फिर बाहर जाने का प्रश्न उठता है तो वही घर कुछ अधिक प्रिय लगने लगता है। कभी कभी तो हम अपने फूटे घरों की उन दीवालों को देखकर, जिनकी ओर एक साधारण यात्री किसी उत्साह से दृष्टि भी नहीं डालता, आँखों में आँसू भर लेते हैं। हमारे स्वभाव की ये तथा ऐसी ही अन्य विशेषताएँ विप्रलंभ को अधिक आकर्षक बनाती हैं। जीवन में वास्तविक सफलता के अवसर कम भाग्यवानों को प्राप्त होते हैं। अनेकों को अपने दूरस्थ धुँधले लक्ष्य की ओर टकटकी लगाए हाथ मलते बैठे ही रहना पड़ता है। अतः वियोग शृंगार जितना लोगों के लिए सच्चा है उतना संयोग नहीं। जब नल दमयंती विवाहोत्सव के पश्चात् उस राज प्रासाद में सुख के दिन बिताते हैं तो सर्वसाधारण इस अप्राप्य विभव के साथ अपना रागात्मक संबंध नहीं स्थापित कर पाते। वे उसमें अपना प्रतिबिंब नहीं देखते। पर जब दमयंती पति से छोड़े जाने पर असहाया होकर मारी मारी फिरती है तथा सजल नेत्र महाराज नल किसी दूर देश में किसी दिन सायंकाल में उसकी याद में व्याकुल हो अपनी ठुड्डी को हाथ से टेके बैठे रहते हैं तो हम सब इस दृश्य को बहुत पास से देख लेते हैं क्योंकि यह सामान्य भाव-भूमि के बहुत पास पड़ता है। इन्हीं कारणों से विप्रलंभ में रस परिपाक अधिक मार्मिक होता है।

अपने यहाँ पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण ये चार विभाग विप्रलंभ के किए गए हैं। इनमें से करुण-विप्रलंभ के तो अवसर ही

कम आते हैं। मान भी केलि का एक प्रकार ही है, वास्तविक वियोग उसमें नहीं होता। इसमें वियोग की मिठास का अनुभव करने के लिए विप्रलंभ की एक प्रकार से नक़ल-सी खड़ी की जाती है। कोई नायिका अपनी सखी से मान करने की कला सिखा देने की प्रार्थना ही करती रह जाती है, कोई बहुत कुछ सिखी पढ़ी होने पर भी समय पर चूक जाती है। देखिए इन दोनों को सखियाँ सिख दे दे कर हार गईं पर कुछ फल न हुआ:—

साँवरी राधिका मान कियौ परि पाइनि गोरे गुबिंद मनावत।
नैन निचौंहैं रहैं उनके नहिं बैन बिनै के न ये कहि पावत॥
हारी सखी सिख दै रतनाकर आन न भाइ सुभाइ पै छावत।
ठानि न आवत मान उन्हैं इनकौं नहिं मान मनावन आवत॥

ऐसे भोले और उतावले जब इकट्ठे हुए हैं तो खेल क्यों न बिगड़ जायगा। इस दूसरी बेचारी की कठिनाई को भी देखिए। यह अपने नाक-कान आदि से हैरान है। ये सब कन्हैया के सामने आते ही कहने में नहीं रहते और बना बनाया सब बानक बिगाड़ देते हैं:—

नाक कैं चढ़ावत पिनाक भौंह ढीली परैं,
चढ़त पिनाक भौंह नाक मुसुकाइ दै।
कहै रतनाकर त्यौं ग्रीव हूँ नवाइ लिएँ,
मुख तैं टरैं न नैन गौरव गवाइ दै॥
अनख बढ़ावत अनंग की तरंग बढ़ै,
धीरज धरा तैं प्रन-पायहिं उठाइ दै।

रहति हियैं हीं हौंस हिय की हमारे हाय,
पैयाँ परौं नैंक मान करिबौ सिखाइ दै ॥

अब हम विप्रलंभ के दोनों मुख्य तथा वास्तविक विभागों, पूर्व-राग और प्रवास, की ओर आते हैं। इनकी स्वाभाविक योजना किसी प्रबंध काव्य के भीतर अथवा ऐसे मुक्तकों में जो किसी प्रबन्ध काव्य में प्राप्त कथा के आश्रित हैं, हो पाती है। साधारण मुक्तकों के लिए किसी ऐसी प्रणाली की खोज हुई जिसमें बैठे ठाले के वियोग का समुचित अवसर रहे। इसके लिए दो बातों की योजना की गई। शृंगार का आलंबन परकीया को बनाया गया तथा उसे कुछ कठोर स्वभाव का चित्रित किया गया। आलंबन के स्वभाव की कठोरता के कारण पास बसते हुए भी वियोग के अवसर रहते हैं। परकीया की प्रणाली को आचार्यों ने उचित नहीं माना है। यह कठिनाई गोपी-कृष्ण कथाओं का आश्रय ग्रहण करने से दूर हुई। प्रयत्न करने पर भी हिंदी कवियों का आलंबन उतना कठोर-हृदय न हो सका जितना उर्दू वालों का होता है। इसका मुख्य कारण उर्दू वालों के आलंबन की विचित्रता तथा अस्वाभाविकता है। वहाँ एक ओर की प्रार्थनाएँ दूसरी ओर उपेक्षा तथा खीझ के कानों से सुनी जाती हैं। हमारी पावन तथा स्वाभाविक प्रणाली में उतने हाहाकार को स्थान ही नहीं है। कृष्ण गोपियों को छोड़ कर चले गए थे, फिर भी उनका स्मरण कर आँसू बहा ही लेते थे। उन्हें समझाने-बुझाने को अपने प्रिय सखा उद्धव को भेज ही देते हैं। उर्दू साहित्य में तो यार का जनाज़ा निकलते देख मुँह फेर लेने की

परिपाटी है। उर्दू की बाजारू रचनाओं पर मुग्ध रहनेवालों तथा हिंदी की स्वाभाविक रचनाओं को सुन कर मुँह बिचकानेवालों को कभी ठंढे चित्त से इस पर भी विचार करना चाहिए। हम तो इतना ही कह सकते हैं कि उर्दू वाले सामान्य तथा स्वाभाविक भाव-भूमि से भटक गए हैं।

अब हम रत्नाकर जी की ऐसी रचनाओं को देख लें। विप्रलंभ की पावन तथा गंभीर धारा में अवगाहन करना हो तो उद्धव शतक को देखिए। यहाँ अन्य मुक्तक रचनाओं पर कुछ विचार कर लिया जाय। पूर्वराग से मिलती हुई कुछ दशा यहाँ देख लीजिए:—

गुंजित मलिंद-पुंज सघन निकुंज जहाँ,
लूक लगै हीतल कौं सीतल सुहाई है।
कहै रतनाकर तहाँ हीं फूल लेत तोहिं,
जोहि रही कान्ह कैं अमान बिकलाई है॥
आवत उतै तैं अबै नैंसुख निहारि दसा,
उर मैं हमारे तौ कसक अति आई है।
बैठे आँसू ढारत सँभारत न साँस परी,
तेरी मधुराई लगी लोचन लुनाई है॥

इस जगत् की विपत्तियों को झेलना कितना कठिन है यह इन्हीं के मुँह से सुन लीजिए:—

पीर सौं धीर धरात न बीर, कटाच्छ हूँ कुंतल सेल नहीं है।
ज्वाल न याकी मिटै रतनाकर, नेह कछू तिल-तेल नहीं है॥

जानत अंग जो झेलत हैं यह, रंग गुलाल की झेल नहीं है।
थाम्हैं थमैं न बहैं अँसुवा यह, रोइबौ है हँसी खेल नहीं है॥

'कटाच्छ हूँ कुंतल सेल नहीं है' की कैसी व्यंजना है। कुंतल और सेल की मार तो बड़े धैर्य्य से वीर लोग झेल लेते हैं, पर यहाँ की मार कुछ और ही होती है। यहाँ कवि ने कटाक्ष को कुंतल या सेल नहीं बनाया है, उनके सवेदन पक्ष ही को ग्रहण किया है। संवेदन को छोड़कर ऊहाका आश्रय ग्रहण करनेवाले कवि ही किसी सुहागिन को उँगली कटने के डर से काजर देने को मना करेंगेः—

काजर दे नहिं एरी सुहागिनि
आँगुरी तेरी कटैगी कटाछन।

पर रत्नाकर जी ऐसी मिथ्या कल्पनाओं को सदा बचाते रहते हैं। अपनी उक्ति से उन्होंने कटाक्ष को कुंतलादि से भी बढ़ा दिया है। स्नेह शब्द का भी कैसी सूझ से प्रयोग किया है। दीपक के स्नेह के समाप्त होते ही बत्ती बुझ जाती है पर प्रेम-दीपक की ज्वाला कैसे शांत होगी। न स्नेह समाप्त होगा न कसक मिटेगी।

अब आलंबन के स्वभाव की कठोरता का कुछ स्वरूप देख लिया जाय। एक ओर की रीझ तथा दूसरी ओर की खीझ देखना हो तो यहाँ देखिएः—

देखत हमारी हूँ दसा न इठिलानि माहिं,
आपनी तौ बानि ना बिलोकत अठानि मैं।
कहै रतनाकर उपाइ ना बसाइ कछू,
जासौं लखौ भाइ भेद उभय दिसानि मैं॥

पावतौ कहूँ जौ कोऊ चतुर चितेरौ तौ,
दिखावतौ सुभाव सोधि कलित कलानि मैं।
रिझवन-आतुरी हमारी अँखियानि माहिं,
खिझवन चातुरी तिहारी मुसकानि मैं॥

यहाँ दूसरे की पीड़ा को न समझने वाले एक प्रिय का स्वरूप देखिए:—

कीजै कहा हाय तासौं चलत उपाइ नाहिं,
पाइ पीर हूँ जो पर-पीर उर आनै ना।
कहै रतनाकर रहै हीं मुख मौन गेह,
कहे सुने भाव के प्रभाव भेद मानै ना॥
सकल कथा कौं सुनि पूछत व्यथा जो पुनि,
जानिहूँ जथारथ बृथा जो गुनि जानै ना।
मानै ना अजान तौ सुजान कै मनैयै ताहि,
कैसैं समझैयै जो सुजान बनि मानै ना॥

ऐसी रचनाओं में आलंबन के स्वभाव की कठोरता के कारण वियोग के अवसर उपस्थित होते हैं। यहाँ प्रवास आदि की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। किसी निरमोही से मन लगने से ऐसे अवसर अनायास उपस्थित हो जाते हैं:—

हाय हाय करत बिहाइ दिन रैनि जात,
कटिबौ सुहात सदा सैननि सिरोही सौं।
कहै रतनाकर उदासी मुख छाइ जाति,
हाँसी बिनसाइ जाति आनन बिछोही सौं॥

भूख प्यास बूझति भँवात झहरात गात,
छार है बिलात सुखसाज सब रोही सौं।
हाय अति औपटी उद्वेग-आगि जागि जाति,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सौं॥

प्रिय की कठोरता के वर्णन की परिपाटी पर उर्दू साहित्य का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। पर रत्नाकर जी ने उर्दू के साहित्यिक संस्कारों की छाप अधिक नहीं पड़ने दी है। वियोगजन्य वेदना और विकलता को चित्रित करनेवाली रचनाएँ भी हिंदी की मर्यादा का ध्यान रख कर की गई हैं। कुछ गिने स्थलों पर ही उर्दू का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। पर यह प्रभाव बहुत पुराने कवियों की रचनाओं पर भी पड़ने लगा था। बिहारी के ही अनेक दोहों पर उर्दू शैली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। नीचे के उदाहरण में ज़ालिम के ज़ुल्म को देखिए। कटाक्षों को बाण तो हमारे यहाँ भी बनाया गया है पर उन बाणों से किए गए घावों से तड़पते हुए प्रेमी हमारे संस्कारों के अधिक अनुकूल नहीं पड़ते:—

लाख अभिलाषनि कौ होत ही कुलाहल है,
मोकलौ न पावैं मग नैंकु निबुकाइ दै।
कहै रतनाकर झरोखनि के मोखे करि,
कूदि कढ़िवे कौ तिन्हैं बानक बनाइ दै॥
निडर निसंक बंक भौंहनि कमान तानि,
नैननि के बान द्वैक और हूँ चलाइ दै।

तलफत त्यागि जात जुलुम न ऐसौ करि,

हा हा हँसि हेरि घूमि घायनि अघाइ दै ॥

जिस अतिशयोक्ति को पुष्ट करने को यह प्रतीक खड़ा किया गया है पाठक उसे ग्रहण तो अवश्य कर लेते हैं पर शिष्ट संस्कारों के लोग ऐसे दृश्यों को सुंदर शृंगारी भावनाओं के प्रतिकूल ही मानेंगे। सौभाग्य से रत्नाकर जी ने ऐसे दृश्यों को अपनी रचनाओं में अधिक नहीं आने दिया है। साहित्यिक प्रतीक भी वही आए हैं जिन पर भारतीय हृदय सदा से मुग्ध होता आया है। देखिए इन पंक्तियों में पीपी की पुकार से प्राण प्यारे की सुरत में मग्न नायिका का ध्यान भग्न करनेवाले पपीहे पर कैसा क्षोभ प्रकट किया जा रहा है:—

हौं तौ हुती मगन लगन-लौ लगाए हाय,

लाए उर सुरति सुजान प्रान-प्यार की।

कहै रतनाकर पै सबद सुनाइ टेरि,

फेरि सुधि दीनी घाइ बिरह बिसारे की॥

कामिनी कौ नातौ मानि दामिनी दया कै नैंकु,

कसक मिटाइ देती मानस हमारे की।

पारि देती आज वा कलापी के गरे पै गाज,

जारि देती जीहा वा पपीहा बजमारे की॥

जब रत्नाकर जी परंपरानुमोदित शृंगारी शैलियों को पीछे छोड़ सामान्य अनुभूति की भूमि पर आते हैं तो उनकी रचनाएँ अधिक आकर्षक हो जाती हैं। देखिए ये पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हुई हैं।

एक साधारण से प्रश्न के द्वारा कैसी व्यंजना हो रही है:—

ऐंड़त औ इठलात फिरै करि, फेर कछू मग बेर लगावत।
चारि हूँ ओर चितै रतनाकर, बेनु बजावत सैन बुझावत॥
मोहिनी यौं मनमोहन सौं, इठलाइ कहै लखि नैन नवावत।
बात कछू हमहूँ तौ सुनैं इतकौं नित कौन कौं देखन आवत॥

इन पंक्तियों में कवि ने अपनी सहानुभूति का कितना प्रसार किया है। विषय सामान्य जगत् से लिया गया है इसीसे मार्मिक हुआ है:—

लागै रजनी-मुख की सुखमा सुहाई ताहि,
जाहि सुखरासि की न आस टरि गई होइ।
कहै रतनाकर हिमाकर मुखी कैं हास,
दिवस-कसाला-जगी ज्वाला हरि गई होइ॥
पूछौ पर जाइ वा बियोगी के हिये सौं नैंकु,
जाकी थाकी पींडरी भभरि भरि गई होइ।
उठत न होइ पाय गोंय-सामुहैं लौं आइ,
धाइ मग माँझ हाय साँझ परि गई होइ॥

रत्नाकर जी सदा संयत रहते हैं पर शृंगार रस में मग्न होकर कभी कभी मर्यादा को भूल जाते हैं। देखिए इन पंक्तियों में जगत् के माता पिता पार्वती-परमेश्वर तक पहुँच कर कवि ने मर्यादा की कैसी उपेक्षा की है:—

भानु हूँ की लागी प्रीति अगिनि दिगंगना सौं,
सीत-भीति जागी इमि सकल समंत कौं।

कहै रतनाकर रहत न अकेले बनै,
मेले बनै रूसिहूँ तिया सौं दोषवंत कौं॥
हिम की हवा सौं हलि अचल समाधि त्यागि,
लपटनि-लालसा-लसित लखि कंत कौं।
पाट की पिछौरी बाहु दाहिनैं पखौरी किए,
गौरी लागी हुलसि असीसन हिमंत कौं॥

कभी कभी प्रस्तुतों की अनुभूति के मेल में भी शृंगारी अनुभूतियों को लाए हैं जिनसे इनकी रुचि विशेष का बहुत कुछ आभास मिलता है। देखिए हेमंत में घाम कैसी लगती है:—

बिबिध बिलासनि के हरष-हुलासनि सौं,
सुखद बसंत होत सुकृत-कमाई सौं।
बाम अभिराम सी सुहाई घाम देह लगै,
लागत सनेह नए नेह की निकाई सौं॥

रत्नाकर जी को मुक्तक शृंगारी रचनाओं की एक परंपरा प्राप्त थी। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में उन्हें पुरानी शैली के कवि-समाजों में बैठने को मिला था। बाबू रामकृष्ण वर्मा, पं० अंबिकादत्त व्यास इत्यादि द्वारा संचालित कवि समाज से इनका भी संपर्क था। उस समाज में दी गई अनेक समस्याओं की पूर्तियाँ इन्होंने भी की थीं जो उन संग्रहों में संग्रहीत हैं। ब्रज भाषा में दो प्रकार की शृंगारी रचनाएँ होती आती थीं। एक रूढ़ि का अनुसरण करनेवाली नायिका भेद की परिपाटी के अनुसार, दूसरी अनुभूति पोषित। प्राचीन नायिका भेद की शृंगारी कविताओं को

विशेषताएँ रत्नाकर जी की प्राचीन शैली की रचनाओं में भी मिलती हैं। इन विशेषताओं का कुछ परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

प्रायः नायक कृष्ण हुआ करते थे तथा नायिका राधा अथवा और कोई गोपकन्या। कृष्ण के हिंदी साहित्य में दो रूप थे। एक रूप भक्त कवियों द्वारा उपस्थित किया गया था, दूसरा रीति के अनुसार रचना करनेवाले मुक्तक लिखनेवाले कवियों के द्वारा। भक्त कवि गोपी कृष्ण की संपूर्ण लीलाओं का वर्णन करके भी उनका ईश्वरत्व नहीं भुलाते थे। सूरदास इत्यादि की रचनाओं में हमें कृष्ण का यही रूप मिलता है। रीति काल के कवि कृष्ण के ईश्वरत्व की रक्षा करने की कुछ भी चिन्ता न कर उन्हें संसारी पुरुष के रूप में सामने लाते थे। पहला रूप तो वैसा ही है जैसा हमें श्रीमद्भागवत इत्यादि में मिलता है। दूसरे रूप की परंपरा संस्कृत की मुक्तक रचनाओं से प्राप्त हुई जो प्राकृतों तथा अपभ्रंश की रचनाओं में भी चलती रही। इन रचनाओं में कृष्ण एक साधारण रसिक के रूप में सामने आते हैं।

रत्नाकर जी की रचनाओं के भी इस दृष्टि से दो विभाग किए जा सकते हैं। उनकी शृंगार-लहरी के कृष्ण उद्धव शतक तथा कृष्णाष्टक इत्यादि रचनाओं के कृष्ण से बहुत भिन्न हैं। अतः शृंगार लहरी तथा उद्धव शतक को मिलाकर पूरी कृष्ण कथा बनाने का प्रयत्न भ्रमपूर्ण होगा।

दूसरी विशेषता इन प्राचीन शैली की मुक्तक रचनाओं की यह होती थी कि उनमें कल्पना को अपनी सारी करामात नायिका भेद

के बंद बाड़े के ही भीतर दिखानी पड़ती थी। अनेक सहृदय तथा भावुक कवियों ने इस जटिल तथा कठोर रूढ़ि-बंधन के भीतर भी बहुत कुछ मार्मिकता दिखाई है। पर आते आते पिछले दिनों में ऐसी रचनाएँ नीरस सी हो चली थीं। किसी बँधी परिपाटी के भीतर जहाँ तक उछलकूद की जा सकती थी वहाँ तक कर लेने पर कवि शिथिल होकर बैठने लगे थे। रत्नाकर जी की भी कुछ पुरानी रचनाओं में यह शिथिलता तथा पिष्टपेषण मिलता है। कुछ रचनाएँ तो एकदम समस्यापूर्ति के ढंग पर की गई हैं। निम्नलिखित तथा ऐसी ही और अनेक समस्याओं की पूर्तियाँ पाठक उनकी फुटकल रचनाओं में पावेंगेः—

(१) सूधी तैं सहस्रगुनी टेढ़ी भौंह मीठी है।

(२) प्रान परे साँकरैं न हाँ करै न ना करै।

(३) कपट किए हूँ प्यारे निपट भले लगौ।

(४) पावक पुंज मैं पंकज फूले।

(५) एक तैं है गईं द्वै तसबीरैं।

(६) गोप-कुल-कुमद-निसाकर उदय भयौ।

(७) सीतल सुगंध मन्द मारुत की लहरैं। इत्यादि।

ये समस्याएँ बहुत प्राचीन काल से कवि समाज में प्रचलित हैं। इसमें संदेह नहीं रत्नाकर जी की प्रतिभा तथा काव्य-कौशल के दर्शन ऐसी रचनाओं में भी होते हैं, पर सैकड़ों वर्ष की ऐसी शृंगारी रचनाओं से ऊबा हुआ पाठक इनसे बहुत प्रभावित नहीं होता। एक पूर्ति को देख ही लीजिएः—

बिलग न मानियै बिहारी बर बारी बैस,
कहा भयौ जौ पै अनखौंहीं करी दीठी है।
तुम रतनाकर सुजान रस-खानि वह,
निपट अयानि बासौं ठानी क्यौं अनीठी है॥
सरस सुरोचक मैं आकृत विचार कहा,
कैसैंहूँ बिगारौ नाहिं होनहार सीठी है।
टेढ़ी तैं सहस्रगुनी सूधी भौंह मीठी अरु,
सूधी तैं सहस्र गुनी टेढ़ी भौंह मीठी है॥

दूसरी विशेषता इन रचनाओं की यह है कि पाठकों को बार बार जानी पहचानी वे ही नायिकाएँ मिलेंगी। हमें विश्वास है पाठक उन नायकों से भी ऊब ही गए होंगे जो न जाने कहाँ से कपोलों से पान खाए हुए तथा अधर में काजर लगाए हुए सबेरे आ खड़े होते हैं:—

अंजन अधर औ कपोल पीक-लीक बसै,
रसिक बिहारी बेस बानिक बने लगौ।
कहै रतनाकर धरत डगमग पग,
तातैं मोहिं मेरे ही बियोग मैं जगे लगौ॥
जानत-जगत सब तैसौही दिखात ताकौ,
जैसौ चसमौ है जब जाके चष मैं लगौ।
नेह की निकाई छाई नैननि हमारैं तातैं,
कपट किएँ हूँ प्यारे निपट भले लगौ॥

अनेक नायिकाएँ तो भद्र रुचि के पाठकों के सामने उपस्थित

ही नहीं की जा सकती, पर यदि पाठक बुरा न मानें तो रत्नाकर जी द्वारा चित्रित मुग्धा को देख लें:—

देखि स्यामसुंदर कौं देखत लगाए दीठि,
पीठि फेरि प्रथम कछूक अनखाति है।
कहै रतनाकर बहुरि मुरि चाहि बंक,
संकित मृगी लौं चकि छरकि छपाति है॥
बूझति न रंच पंचसर के प्रपंच बाल,
लाल की ललक लखिबे कौं लुरियाति है।
इत उत दाव देखिबे कौं हिरकीयै रहै,
आनि खिरकी लौं फिरकी लौं फिरि जाति है॥

आचार्यों ने प्रेमावस्था में होनेवाली अवस्थाओं का नाम कामदशा माना है। प्रबंधरूप में चलनेवाली किसी प्रेम-कथा के स्वाभाविक विकास के भीतर ये सब दशाएँ बड़ी स्वाभाविकता से आ जाती हैं। पर प्रबंध के बिना अचानक मुक्तकों में उपस्थित हो जानेवाली कामदशाओं से पाठक कुछ बहुत प्रभावित नहीं होते। नल दमयंती की कथा के प्रसंग में अभिलाष से लगाकर सब दशाएँ आ सकती हैं। किसी लोक-परिचित प्रेम-कथा के किसी अंश को मुक्तक में लेने से भी इनके दिखाने में कोई बाधा नहीं पड़ती क्योंकि पाठक पीछे की कथा को कल्पना द्वारा स्वयं उपस्थित कर लेते हैं। पर किसी अज्ञात-कुल-शील नायक की जड़ता या व्याधि देख कर कोई ऐसा सुंदर प्रभाव नहीं पड़ता। कोई इधर पड़ा तड़प रहा है, कोई अब तब हो रहा है कोई निर्जीव-सा

खाट पर पड़ा है। भला ऐसे विपद्ग्रस्त नायकों को देखकर पाठक क्या करें? पर ऐसी ही शृंगारी रचनाओं को हम उन दिनों के प्रायः कवियों में पाते हैं। इन्हीं कामदशाओं के अंतर्गत मरण दशा भी मानी गई। पर अशुभ तथा रस विरोधी समझ कर इसका वर्णन निषिद्ध कर दिया गया। कवियों ने साक्षात् मरण दशा न दिखा कर उसी के बहुत आस पास की दशा दिखा कर अपना कौशल प्रदर्शित किया। रत्नाकर जी की इस रोगिनी को देखिए जो ठंढी पड़ी जाती है। जब शीत आ गया है तो अब अधिक विलंब नहीं प्रतीत होता:—

> लागत न नैकुँ हाय औषध उपाय कोऊ,
> झूठी झार फूँकहू फकीरी परा जाति है।
> कहै रतनाकर न बैरीहू बिलोकि सकैं,
> ऐसी दसा माँहिं सो अहीरी परी जाति है॥
> रावरौहू नाम लिएँ नैननि उघारै नाहिं,
> आह औ कराह सबै धीरी परी जाति है।
> पीरी परी जाति है बियोग-आगि हू तौ अब,
> बिकल बिहाल बाल सीरी परी जाति है।

आचार्यों के संकेतों को न समझ कर कहीं-कहीं कवियों ने अनर्थ कर डाला है। मरण दशा के वर्णन का इसी लिए निषेध है कि उसमें शोक को स्थायित्व प्राप्त हो जाता है और कवि का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। शृंगार रस के स्थान में करुण रस हो जाता है। यह थोड़े ही है कि जब तक नायिका एकदम से मर न जाय

तब तक पाठकों को करुणा आवे ही नहीं। क्या इस नायिका की दशा जिसको शीत आ गया है पर्याप्त करुण नहीं हो सकती ? जो पाठक ठंढी पड़ती हुए नायिका को देखकर द्रवित न हुए वे क्या उसको एकदम मरा देखकर पसीजेंगे ? वास्तव में यहाँ भी रस विरोध हो गया है। जिस नायिका की दशा ऐसी हो गई है कि बैरी भी उसे नहीं देख सकते वह शृंगार का आलंबन तो कभी नहीं हो सकती। शब्दों की व्यर्थ की करामात से काम नहीं चल सकता है। पर इसमें रत्नाकर जी का दोष नहीं है, वे प्राचीन काल से चली आती हुई काव्य-परंपरा से लाचार थे।

इन्हीं दशाओं में एक प्रलाप दशा है। यह भी प्रबंध के भीतर ही स्वाभाविक प्रतीत होती है। ऐरे-गैरों को सड़क की धूल में लोट-लोट कर प्रलाप करते देख लोग आवारा ही समझेंगे। पाठक अनुमान तो करें इस छैल की इस दशा का कारण क्या है:—

देख्यौ बन-गैल आज छैल छरकीलौ एक,
लोटत धरा मैं परयौ धीरज न धारै है।
कहै रतनाकर लकुट बनमाल कहूँ,
मुकुट सुढाल कहूँ लुठित धुरारै है॥
काकौ कौन नैंकु निरवारत न नीकैं बोलि,
खोलि कछु बेदन कौ भेद न उघारै है।
आँस भरि आधा नाम राम कौ उचारै पुनि,
साँस भरि आधैं बैन धेनु कौं पुकारै है॥

यह स्वरूप तो रत्नाकर जी की उन कविताओं का है जिनमें

प्राचीन परंपरा का पालन किया गया है। आचार्यों के जिन संकेतों को लेकर यह परंपरा चली थी वे स्वतः अस्वाभाविक या भावहीन नहीं थे। उनके सूत्र को पकड़ कर चलते रहने से भी अनुभूति के सहारे सुंदर रचनाएँ की जा सकती हैं। ब्रज-भाषा के अनेक रससिक्त कवियों ने ऐसी मार्मिक रचनाएँ की हैं। रत्नाकर जी की परंपरा-भुक्त रचनाएँ थोड़ी ही हैं। और रचनाएँ मार्मिक हैं तथा उनमें संवेदन का वह रूप प्राप्त हुआ है जो पाठकों के हृदयों पर प्रभाव डालता है।

वीर तथा रौद्र रस

वीर रस का स्थायी-भाव उत्साह है। आचार्यों ने हमारे जीवन व्यापारों के अंतर्गत आनेवाले चार मुख्य प्रकार के उत्साहों को काव्योपयोगी समझ वीर रस के चार विभाग किए हैं। युद्ध वीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर। इनमें से अन्तिम तीन पर हम कुछ आगे चल कर विचार करेंगे। यहाँ सर्वप्रथम हम युद्ध-वीर को लेते हैं। इसका आलंबन विजेतव्य होता है। रौद्र रस का आलंबन शत्रु होता है। विजेतव्य तथा शत्रु इन दो नामों का प्रयोग आचार्यों ने सूक्ष्म दृष्टि से किया है। उत्साह विजय की ओर दृष्टि रखता है किसी के नाश की ओर नहीं। क्रोध शत्रु द्वारा किए गए अनिष्ट, अपमान, अपकार, इत्यादि से और भी उद्दीप्त हो उसके नाश के लिये प्रेरणा करता है। क्रोध में 'इस दुष्ट को मार डालें' ऐसी भावना होती है; उत्साह में, इसे नीचा दिखा कर यशस्वी और

विजयी हों ऐसी प्रेरणा होती है। पहला अपकार करना चाहता है दूसरा विजय प्राप्त करना चाहता है। पर युद्धवीर में विजेतव्य के बध आदि भी आ जाते हैं। अब विचारणीय यह है कि यह बध केवल उत्साह से किया जाता है अथवा क्रोध से। केवल उत्साह में आकर किसी का किसी को मार डालना आश्चर्य की बात होगी। विजेतव्य जब तक शत्रु न हो जावे तब तक उसका बध कैसे किया जा सकता है? कोई भी व्यक्ति विजेतव्य कैसे बन जाता है पहले इसी का विचार कर लिया जावे। योंही बैठे ठाले किसी को पछाड़ने की या पीट देने की कामना तो उच्छृंखल व्यक्तियों में ही हो सकती है। अतः विजेतव्य वही हो सकता है जिसने कुछ अपकार किया हो। अश्वमेध इत्यादि में भी वही प्रतिपक्षी राजा विजेतव्य बनता है जो अश्वमेध करनेवाले के मार्ग में बाधक होता है। जो अनुकूल हो जाते हैं उनसे युद्ध इत्यादि की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अतः व्यावहारिक दृष्टि से विजेतव्य और शत्रु में कोई बहुत बड़ा भेद नहीं है। रौद्र रस तथा युद्धवीर प्रायः परस्पर मिले-जुले रहते हैं। बिना उत्साह के क्रोध हो ही नहीं सकता तथा बिना क्रोध के उत्साह में वह उग्रता आ ही नहीं सकती। हाँ शास्त्रीय दृष्टि की रक्षा करने के लिए कुछ सूक्ष्म भेद का निर्देश अवश्य किया जा सकता है। जब क्रोध का व्यापक चित्रण हो और उत्साह केवल विद्युद्वत् संचरण करता रहे, उस क्रोध को भड़काता रहे, पुष्ट करता रहे तो रौद्र रस होगा तथा जब उत्साह की व्यापक धारा के भीतर क्रोध के बुद्बुद ही उठते बुझते रहें तो वीर रस होगा। पर

व्यवहार में ये दोनों इतने घुल-मिल जाते हैं कि भेद दिखाना अनावश्यक होता है।

अब हम कुछ इसका भी विचार कर लें कि वास्तव में इन रसों का आलंबन क्या है। शत्रु तो अपकार इत्यादि का समष्टिरूप में प्रतिनिधित्व करता है। अतः वह आलंबन मान लिया जाता है। वास्तविक आलंबन तो अपने प्रति किए गए अपकार, अन्याय, दुर्व्यवहार आदि ही हैं। यदि आलंबन शत्रु ही होता तो उसकी अनुपस्थिति में रस-निष्पत्ति हो ही न पाती। पर हम काव्यों में देखते हैं कि अनेक बार शत्रु का पता न चलने पर भी उसके द्वारा किए गए अपकार को ही देख कर क्रोध भभक उठता है। जब परशु-राम जनक सभा में गए तो उन्हें पहले राम के धनुष तोड़ने का पता न था। जब राम लक्ष्मण परशुराम के चरणों पर सिर रख कर प्रणाम करते हैं तो उन्हें आशीर्वाद दिया जाता है:—

विस्वामित्र मिले पुनि आई, पद सरोज मेले दोउ भाई।
राम लखन दशरथ के ढोटा, दीन्हि असीस देखि भल जोटा॥

यदि राम के स्वरूप में रौद्र रस के आलंबनत्व की शक्ति होती तो परशुराम उन्हें देख कर लाल लाल आँखे कर उग्र वचन बोलने लगते। पर जब किए गए अनिष्ट का राम के साथ संबंध ज्ञात हो जाता है तभी वे शत्रुरूप में सामने आते हैं। अतः हम कुछ सूक्ष्मता से विचार कर के इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राम धनुष-भंगरूप अनिष्ट के कर्ता होने के कारण शत्रु बनते हैं। वास्तविक आलंबनत्व

धनुष-भंग में है। देखिए राम का नाम सूचित किए जाने के पहले ही क्रोध का चित्रण हो जाता है:—

समाचार कहि जनक सुनाये, जेहि कारन महीप सब आये।
सुनत बचन फिरि अनत निहारे, देखे चाप खंड महि डारे॥
अति रिस बोले बचन कठोरा, कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा।
बेगि दिखाउ मूढ़ नत आजू, उलटउँ महि जहँ लगि तब राजू॥

यदि वास्तविक आलंबन राम होते तो उनके नाम को बिना जाने क्रोध न किया जाता। गंगावतरण में भी एक उदाहरण ऐसा ही है। महाराज सगर के अश्वमेध का घोड़ा चोरी हो गया है। किसने चुराया है अभी इसका पता नहीं है पर रौद्र तथा युद्धवीर रसों की संपूर्ण सामग्री देख लीजिए:—

सुनि अति अनहित बैन भए नृप-नैन रिसौंहैं।
फरकि उठे भुजदंड तने तेवर तरजौंहैं॥
कह्यौ सारथी टेरि त्रिपथ-गामी रथ नाधौ।
महाचाप सायक अमोघ भाथनि भरि बाँधौ॥
सेनप होहिं सनद्ध सकल-जग-जीतन हारे।
हम चलि देखैं आप कौन कौं प्रान न प्यारे॥
काकौ सिर धर त्यागि धरा पर परन चहत है।
को जम-गाल कराल भाल निज भरन चहत है॥

राजा की यह दशा देख कर वशिष्ठ ने उन्हें रोकते हुए समझाया:—

पुनि याहू तौ करि बिबेक मन नैंकु बिचारौ।
कापै साजत सैन कौन जग सत्रु तिहारौ॥

शत्रु का पता नहीं, पर क्रोध और उत्साह रोके नहीं रुकते। आलंबन की इसी विशेषता के कारण कवियों को शृङ्गार तथा वीर रसों की व्यंजना करते समय भिन्न-भिन्न शैलियों से काम लेना पड़ता है। शृंगार रस की व्यंजना के लिए आलंबन के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण मात्र पाठकों के हृदय में रति वृत्ति को उच्छ्वसित कर देता है। पर वीर रस में आलंबन का चित्रण उतना आवश्यक नहीं होता है जितना उन परिस्थितियों का जिनके कारण आलंबन को आलंबनत्व प्राप्त हुआ है। शृंगार तथा वीर रस में व्यंजना की दृष्टि से और भी महत्व के भेद हैं। शृंगार रस में सामान्य भाव-भूमि तक पाठक सरलता से पहुँचाया जा सकता है। किसी भी क्षेत्र से शृंगार की सामग्री ली जा सकती है। पर वीर रस में ऐसा नहीं होता। किसी भी पुरुष के उत्साह के साथ पाठक रागात्मक संबंध स्थापित करने को प्रस्तुत नहीं रहते। वह पुरुष (वीर रस का आश्रय) ऐसा रहना चाहिए जिसके लिए पाठकों के हृदय में सम्मान हो तथा वह किसी ऐसे को विजय करना चाहता हो जिसके रहने से लोक कल्याण में बाधा पड़ती हो। प्रतिपक्षी या शत्रु का अन्याय या अत्याचार ऐसा होना चाहिए जिससे संस्कृत तथा शिष्ट मनुष्यता क्षुब्ध हो उठे। यदि ऐसा नहीं है तो अनुभावादि की पूरी योजना होने पर भी रस-व्यंजना में बाधा पड़ेगी। इसी लिए प्रायः काव्यों में प्रख्यात नायकों के चरित्र को लेकर आगे बढ़ा जाता है। यों तो संसार में आए दिन झगड़े खड़े होते रहते हैं पर सबके सहारे सरलता-पूर्वक युद्धवीर की निष्पत्ति नहीं हो सकती। हम यह नहीं

कहना चाहते कि साधारण जीवन से उत्साह-वर्धक या क्रोधोत्तेजक सामग्री प्राप्त ही नहीं की जा सकती। पर ऐसा करने से कवि की प्रतिभा का बहुत-सा भाग उस साधारण जीवन की सामग्री को सामान्य भाव-भूमि तक चढ़ाने में नष्ट हो जाता है। रत्नाकर जी ने अपनी सामग्री उच्च-भूमि से ही ली है। उनके उग्र रसों के नायक या तो पुराण प्रसिद्ध वीर पुरुष हैं जैसे अभिमन्यु, भीष्म पितामह, कृष्ण इत्यादि या इतिहास प्रसिद्ध महापुरुष हैं जैसे शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरुगोविंद सिंह, छत्रसाल इत्यादि। इन प्रसिद्ध पुरुषों तथा इनसे संबद्ध पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यानों से सामग्री लेने के कारण वीर रस की व्यंजना में बहुत सहायता मिली है। रीति-काल के जिन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता के बखान में ही कला का दुरुपयोग किया उनके काव्यों में वह बात न आने पाई जो भूषण इत्यादि की ओजस्वी वाणी में जिन्होंने शिवा जी ऐसे देशप्रिय वीर की विरुदावली बखानने में सुख माना।

अब हमें यह देखना चाहिए कि वीर रस की व्यंजना के लिये रत्नाकर जी ने किस व्यंजना शैली से काम लिया है, उनकी काव्य-कला ने अपनी उद्देश्य सिद्धि के लिए कौन-सा मार्ग पकड़ा है। पीछे कहा जा चुका है कि वीर रस में आलंबन का आलंबनत्व केवल प्रतिनिधित्व करने में है। अतः वीर रस में आलंबन के स्वरूप को चित्रित करने की उतनी आवश्यकता नहीं क्योंकि प्रायः किसी के स्वरूप में कोई ऐसी विशेषता नहीं होती कि हमारा मार बैठने को मन चल जाय। यदि ऐसा रहता तो ऐसे स्वरूपवालों को बहुत

छिपकर रहना पड़ता क्योंकि यदि दर्शक संयम करने में चूक जाते तो इन बेचारों पर बुरी बीतती। अब कवि का काम परिस्थितियों को प्रत्यक्ष करना होता है। जो कथाएँ लोक प्रसिद्ध हैं उनकी परिस्थितियों की बहुत कुछ कल्पना पाठक पहले से किए रहते हैं अतः कवि का कार्य सुकर हो जाता है। अब उसे और युक्तियों से भाव-व्यंजना की ओर अग्रसर होना पड़ता है। इस काम के लिए रत्नाकर जी प्रायः सात्विकों तथा अनुभावों का चित्रण करते हैं। इस कला में कवि का कौशल अद्भुत है। कुछ संकेतों के द्वारा संपूर्ण दृश्य प्रत्यक्ष सा उपस्थित कर दिया जाता है। कृष्ण कौरवों को समझाने को गए हैं। जब वह देखते हैं कि ये किसी प्रकार मानते ही नहीं तो उन्हें क्रोध आ जाता है। उनके रौद्ररूप को देखिए। कवि ने भाव प्रेरित मुद्राओं और आंगिक चेष्टाओं का कितना सूक्ष्म-निरीक्षण किया है इस पर भी ध्याम दीजिए:—

त्रिकुटी तनेनी जुटी भृकुटी बिराजैं बक्र,
तोले संख चक्र कर डोले थरकत हैं।
कहै रतनाकर त्यौं रोब की तरंग भरे,
रोधित - उमंग अंग - अंग फरकत हैं।
कर्न दुरजोधन दुसासन कौ मान कहा,
प्रान इनके तौ पाँसुरी मैं खरकत हैं।
भीषम औ द्रोनहूँ सौं बनत न डारैं डीठि,
नीठिहूँ निहारे नैन-तारे तरकत हैं।

उत्साह के धीरे-धीरे क्रोध में परिवर्तित होने का स्वरूप यहाँ

देखिए। जब कृष्ण ने देखा कि ये दुष्ट समझाने से नहीं मानते प्रत्युत और भी षड़यन्त्रों में लगने की सोच रहे हैं तो उन्हें क्रोध आ जाता है। इस क्रोध के साथ ही शत्रुओं की दशा भी देख लीजिए:—

मानी दुष्ट-पंचक न बात जब रंचक हूँ,
बंचक लौं और ही अठान बरु ठानी है।
कहै रतनाकर झुमसि हरि आनन पै,
आनि कछु औरै कोप-ओप उमगानी है॥
हेरि चक्र चहुँघाँ सरोस दृग फेरि चले,
अक्र ह्वै सबै ही रहे बक्रता बिलानी है।
सौहैं हाथ-पावनि उठावनि की कौन कहै,
दीठि ना उठाई कोऊ ढीठ भट मानी है।

कृष्ण के क्रोध से ऐसा आतंक छा गया कि उन ढीठों से कृष्ण की ओर आँख उठा कर देखा भी न गया। जब हलकी सी दृष्टि न उठाई गई तो भारी हाथ उठाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। 'हाथ उठाना' तथा 'आँख उठाना' मुहावरों का भी सुंदर योग देखिए। एक ओर तो यह अर्थ निकलता है कि वे ऐसे स्तब्ध हो गए कि उनके हाथ पैर तथा दृष्टि भी क्षण भर को निश्चेष्ट हो गई। दूसरी ओर इसकी व्यंजना है कि जब उनसे मारे भय के देखते भी न बना तो हाथ उठाना अर्थात् कृष्ण पर आक्रमण करना कहाँ संभव था। इस भाषा सौष्ठव को थोड़ी देर को छोड़ कर प्रस्तुत विषय पर आइए। योद्धा क्रोध में आ कर अपने शस्त्र को अजमाने लगता है।

कभी उसे चारो ओर से घुमा फिरा कर अच्छी तरह देखता है कभी उसे उछाल उछाल कर तौलता है। इन स्वाभाविक क्रोध-मुद्राओं का रत्नाकर जी कैसा ध्यान रखते हैं:—

हेरि चक्र चहुँघाँ सरोस दृग फेरि चले,
　　　　　　अक्र ह्वै सबै ही रहे बक्रता बिलानी है।

अनुभावों के सूक्ष्म निरीक्षण ही के कारण कवि ने बहुत सी बातें केवल चित्रों के द्वारा ही व्यंजित की हैं। एक उदाहरण देखिए। भीष्म पितामह तथा अर्जुन के बीच युद्ध हो रहा है। अर्जुन का उत्साह बीच बीच में कम हो जाता है। कृष्ण ने हथियार न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की है। पर अर्जुन की दशा देख कर उनका हाथ बार बार चक्र उठाने को आगे बढ़ने लगता है, पर प्रतिज्ञा का स्मरण कर रुक जाता है। यद्यपि हाथ रुक जाता है पर दृष्टि फिर भी उसकी ओर दौड़ती है। उनके हृदय की उस विकट स्थिति की पूरी व्यंजना कवि ने बड़े कौशल से की है। जो बात विस्तृत वर्णन से न हो पाती वह एक चित्र से हो गई है। पर ऐसी चित्रकला पर कितने भाग्यवान् कवियों का अधिकार होता है—

भीषम के बाननि की मार इमि माँची गात,
　　　　　　एकहूँ न घात सब्यसाची करि पावै है।
कहै रतनाकर निहारि सो अधीर दसा,
　　　　　　त्रिभुवन-नाथ-नैन नीर भरि आवै है॥
बढ़ि बढ़ि हाथ चक्र ओर ठहि जात नीठि,
　　　　　　रहि रहि तापै बक्र दीठि पुनि धावै है।

इत प्रन-पालन की कानि सकुचावै उत,
भक्त-भय घालन की बानि उमगावै है॥

पर भक्तवत्सलता के आवेश में प्रतिज्ञा की चेत नहीं रहती, रथांग लेकर रथ से उतर पड़ते हैं। पर अर्जुन यह नहीं देख सकता कि भगवान् की प्रतिज्ञा टूटे। वह भी साथ ही रथ से कूद पड़ता है। वह कृष्ण को आकर रोक लेता है, आगे नहीं बढ़ने देता। पर भगवान् के हृदय का छोह उन्हें पीछे भी पैर नहीं हटाने देता। ऐसी ऐसी भाव दशाओं का निरीक्षण तथा चित्रण वही कवि कर सकता है जिसने अपने हृदय को सहानुभूति से स्वच्छ तथा मार्मिक कल्पना से विशाल बना लिया है:—

ज्यौंही भए बिरथ रथांग गहि हाथ नाथ,
निज प्रनभंग की रही न चित चेत है।
कहै रतनाकर त्यौं संग हीं सखाहूँ कूदि,
आनि अर्यौ सौंहैं हाहा करत सहेत है॥
कलित कृपा औ तृपा छिमग समाइ पग,
पलक उठ्यौई रह्यौ पलक-समेत है।
धरन न देत आगैं अरुझि धनंजय औ,
पाछैं उभय भक्त-भाव परन न देत है॥

उस 'क्या करें क्या न करें' की स्थिति में कृष्ण की चेष्टाएँ इतनी स्तब्ध हो गईं कि पल भर को उनका पलक भी उठा ही रह गया, नीचे नहीं गिर पाया। एक पैर आगे को बढ़ाने के लिए उठाए हुए

तथा शून्य निश्चेष्ट दृष्टि से खड़े कृष्ण की मूर्त्ति नेत्रों के सामने आ खड़ी होती है।

उत्साह के अचानक क्रोध में परिवर्तित हो जाने का एक और सुंदर वर्णन देखिए:—

छूट्यौ अवसान मान सकल धनंजय कौ,
धाक रही धनु मैं न साक रही सर मैं।
कहै रतनाकर निहारि करुनाकर कैं,
आई कुटिलाई कछु भौंहनि कगर मैं॥
रोकि झर रंचक अरोक बर बाननि की,
भीषम यौं भाष्यौ मुसकाइ मंद स्वर मैं।
चाहत बिजै कौं सारथी जौ कियौ सारथ,
तौ बक्र करौ भृकुटी न चक्र करौ कर मैं॥

यहाँ कृष्ण तथा अर्जुन सम्मिलित रूप में आश्रय हैं। भीष्म पितामह आलंबन हैं। पर कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा में बद्ध रहने के कारण अपने उत्साह का प्रदर्शन स्वतंत्र रूप से नहीं कर सकते। वे अपने उत्साह का उपयोग केवल अर्जुन को और भी उत्साहित करने में कर सकते हैं। अर्जुन को पस्त होते देख कर उनका उत्साह क्रोध में बदल जाता है। पर कवि यह नहीं चाहता कि यहाँ क्रोध को स्थायित्व प्राप्त हो। अतः वह लिखता है कि कृष्ण की भौंहों के कोनों पर कुछ बक्रता आई। इस युक्ति से कवि क्रोध का संचारित्व बनाए रखता है। पर इस शास्त्रीय सांप्रदायिक दृष्टि के अतिरिक्त यहाँ कुछ और भी कारण है। भगवान् करुणाकर हैं अतः उनमें

कवि उग्र क्रोध नहीं दिखाना चाहता। यह करुणा दोनों भक्तों को—भीष्म तथा अर्जुन को—अपनी सहानुभूति के क्षेत्र के भीतर ले लेती है। भगवान् की करुणा अर्जुन की दशा देखकर कुटिलता में परिवर्तित हो जाती है। वही करुणा दूसरे भक्त भीष्म पितामह की ओर देख कर उस क्रोध को संयत रखती है। अच्छा, भगवान् की भौहों के कोनों पर प्रकट होनेवाली कुटिलता क्रोध का अनुभाव हुई। इस भ्रूभंग को देखकर भीष्म पितामह का क्रोध और भी भभकना चाहिए था। यदि अर्जुन की भौहों पर कुटिलता आती तो ऐसा ही हुआ भी होता। पर भीष्म अर्जुन को शत्रु मानते हुए भी कृष्णचंद्र को अपना आराध्य मानते हैं। अतः उनके भ्रूभंग का फल भी और ही होता है। भीष्म पितामह अपनी कभी न रुकने-वाली बाणों की बाढ़ को एक क्षण को रोक देते हैं और मुसकरा कर मंद स्वर में कहते हैं "सरकार न तो आपको भृकुटी बक्र करनी चाहिए न हाथ में चक्र लेना चाहिए"। अब यहाँ विचा-रणीय प्रश्न यह है कि इस मुसकराने का यहाँ क्या महत्व है। शत्रु का अपमान करने को भी कभी कभी उसकी हँसी उड़ाई जाती है। वहाँ पर हँसी उत्साह अथवा क्रोध की संचारी हो जाती है। पर यहाँ की हँसी क्रोध की संचारी नहीं हो सकती। शत्रु की हँसी उड़ा कर योद्धा उस पर और भी उग्र आक्रमण करते हैं। पर यहाँ बाणों की झड़ी रोक दी जाती है। दूसरे 'मंद' विशेषण भी इस मुस्कान को क्रोध का संचारी नहीं होने देगा। वास्तव में यहाँ यह स्मित भक्ति का (उपास्य विषयक रति का) अनुभाव है। भीष्म

पितामह कृष्णचंद्र की भक्तवत्सलता पर मुग्ध होकर गद्‌गद्‌ हो जाते हैं। वे देखते हैं कि एक ओर सखा अर्जुन की रक्षा का उपक्रम है दूसरी ओर हमारी प्रतिज्ञा पूरी कराने का। बस, इस भाव में मग्न होने से क्षण भर को बौछार रुक जाती है। कृष्ण का भ्रूभंग एक ओर तो क्रोध का अनुभाव है दूसरी ओर भक्ति का उद्दीपन क्योंकि भीष्म के हृदय की भक्ति का आलंबन कृष्ण हैं तथा उनको भावोपयोगी चेष्टाएँ उद्दीपन ही के अंतर्गत मानी जा सकती हैं। इस प्रकार उत्साह के भीतर भक्ति तथा क्रोध संचारी रूप में आए हैं। यदि किसी को क्रोध शब्द के प्रयोग पर आपत्ति हो तो हम कहेंगे कि यहाँ अमर्ष संचारी है। सब से अद्भुत बात अमर्ष के द्वारा स्मित का उद्दीप्त होना है जो शास्त्रीय उदाहरणों में ही जकड़े रहने वाले महानुभावों को कुछ अवश्य खटकेगा। पर परिस्थितियाँ यहाँ ऐसा ही मानने को बाध्य कर रही हैं। बस केवल एक बात पर कुछ संक्षिप्त विचार और करलें। पाठक यदि कुछ सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो यहाँ भक्ति भावना के भीतर भी एक उत्साह संचारी रूप में छिपा हुआ है। उसका पता कवित्त की अंतिम पंक्ति से लगता है। भीष्म कृष्ण से कहते हैं:—

> चाहत बिजै कौं सारथी जौ कियौ सारथ,
>
> तौ बक्र करौ भृकुटी न चक्र करौ कर में।

क्या भीष्म वास्तव में कृष्ण को इन कामों को करने को मना कर रहा है। यदि ऐसा होता तो वह अपने बाणों की झड़ी को एक क्षण ही को न रोकता। वह यह देखने को अवश्य रुकता कि उसके

कहने का कृष्ण पर क्या प्रभाव पड़ा है। पर वह यह नहीं चाहता। उसकी प्रतिज्ञा तो तभी पूरी होगी जब कृष्ण हाथ में चक्र ग्रहण करेंगे। अतः अन्तिम पंक्ति का अर्थ सीधी शैली से नहीं लग सकता। वास्तव में भीष्म विपरीत लक्षणा के द्वारा कृष्ण को और भी उत्तेजित करना चाहता है। क्षणभर को रुक कर और भी उत्साहित होकर बाण छोड़ना प्रारंभ कर देता है। भीष्म कृष्ण के क्रोध से और भी उत्साहित होता है क्योंकि वह समझता है कि अब मेरी प्रतिज्ञा पूरी ही होने वाली है। यह उत्साह भक्ति-भावना के भीतर संचारी रूप से आया है। पहले उत्साह का संचारी भक्ति है तथा उस संचारी का संचारी दूसरा उत्साह है। कुछ लोग कहना चाहेंगे कि दूसरे उत्साह को भक्ति का संचारी न मानकर पहले ही उत्साह की धारा क्यों नहीं मान लेते जिसका क्षणिक अवरोध भक्ति से हो गया था। पर ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि पहले उत्साह का आलंबन स्वयं भीष्म हैं जो दूसरे उत्साह का आश्रय हो जाते हैं तथा पहले उत्साह के आश्रय कृष्ण दूसरे उत्साह के आलंबन हो जाते हैं। अतः आश्रय तथा आलंबन भेद से इन दोनों उत्साहों को एक नहीं माना जा सकता। हमें संचारी के भीतर दूसरे संचारी को ही स्वीकार करना चाहिए। ऐसा प्रायः हो जाता है। विषय कुछ जटिल हो गया होगा। पर रत्नाकर जी के कौशल का कुछ परिचय प्राप्त करने को इसकी आवश्यकता थी।

जिस प्रकार लक्षण ग्रंथों में प्रत्येक भाव या रस के अलग-अलग उदाहरण दिए रहते हैं उसी प्रकार का स्पष्ट विभाग हमारे

जीवन में प्राप्त होनेवाली भिन्न-भिन्न भाव-धाराओं का नहीं किया जा सकता। पर शास्त्रीय दृष्टि से समझौता करने के लिए प्रधान भाव का नाम निर्देश कर हम काम चला लेते हैं। कुछ उदाहरण ऐसे भी मिल जाते हैं जिन में अनेक भाव परस्पर इतने मिले जुले होते हैं कि उनका पृथक्-पृथक् निर्देश नहीं किया जा सकता। आचार्यों ने जहाँ भावशवलता माना है वहाँ भी अनेक भावों का पृथक्-पृथक् संकेत करनेवाले शब्द दिखाए जा सकते हैं। अब नीचे का उदाहरण देख कर उस पर कुछ विचार करिए:—

भीषम भयानक पुकारयौ रन-भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिनि की गीति उठि जाइगी।
कहै रतनाकर रुधिर सौं रुँधैगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठि जाइगी॥
जीति उठि जाइगी अजीत पंडु-पूतनि की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जाइगी।
कैतो प्रीति-रीति की सुनीति उठि जाइगी कै,
आज हरि-प्रन की प्रतीति उठि जाइगी॥

यहाँ उत्साह तथा भक्ति का आश्रय भीष्म हैं, पर इनके आलंबन भिन्न-भिन्न हैं। उत्साह का आलंबन अर्जुन है, भक्ति का श्रीकृष्ण हैं। भीष्म पितामह के हृदय में भक्ति तथा उत्साह का उद्रेक एक के पश्चात् दूसरे क्रम से नहीं होता है। ये दोनों दूध-मिश्री से घुले मिले हैं। एक की आस्वाद वृद्धि में दूसरा योग दे रहा है। भक्ति के भरोसे ही उत्साह में इतनी दृढ़ता

है तथा उत्साह ही के भरोसे भक्ति को कार्यशील बनाने को दृढ़ प्रतिज्ञा है। इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता है। एक भाव दूसरे का संचारी भी हो लेता है, पर साथ ही अपने स्वतंत्र महत्व का अस्तित्व भी बनाए रहता है। ऐसे स्थानों पर भाव-शवलता ही मान लेने से हमारा संतोष नहीं होता। नीचे के उदाहरण में देखिए कवि ने आनंद, संकोच, वत्सलता, भय, क्रोध इत्यादि का कैसा पंचामृत प्रस्तुत किया है:—

जाकी सत्यता मैं जग-सत्ता कौ समस्त सत्व,
ताके ताकि प्रन कौं अतत्व अकुलाए हैं।
कहै रतनाकर दिवाकर दिवस ही मैं,
झंप्यौ कंपि भूमत नछत्र नभ छाए हैं॥
गंगानंद आनन प आई मुसकानि मंद,
जाहि जोहि बृंदारक-बृंद सकुचाए हैं।
पारथ की कानि ठानि भीषम महारथ की,
मानि जब बिरथ रथांग धरि धाए हैं॥

'मुसकानि' एक ओर तो भीष्म की भक्ति भावना तथा आनंद का अनुभाव है दूसरी ओर बृंदारक-बृंद के संकोच का उद्दीपक। एक भाव दूसरे भाव के भीतर संचरण कर रहा है तथा अनेक भाव एक दूसरे से मिले बैठे हैं। भावशांति का एक उदाहरण और देख कर आगे बढ़िए। नीचे की पंक्तियों में गंगा के उत्साह को देखिए जो वीर रस का स्थायी है। यही उत्साह आगे चल कर शृंगार

के उदय होनेपर उसका संचारी हो जायगा। गंगा के आकाश से पृथ्वी पर उतरने का प्रसंग हैः—

गंग कह्यौ उर भरि उमंग तौ गंग सही मैं।
निज तरंग-बल जौ हर-गिरि हर-संग मही मैं॥
लै सबेग-बिक्रम पताल पुरि तुरत सिधाउँ।
ब्रह्म-लोक कौं बहुरि पलटि कंदुक-इव आउँ॥
सिव सुजान यह जानि तानि भौंहनि मन माषे।
बाढ़ी-गंग-उमंग-भंग पर उर अभिलाषे॥
भए सभरि सन्नद्ध सृंग कैं रंग-रँगाए।
अति दृढ़ दीरघ सृंग देखि तापर चलि आए॥

यह स्थिति तभी तक थी जब तक गंगा देवी ने शिव का मनोहर स्वरूप नही देखा था। उनके दर्शन करते ही कुछ और ही दशा हो गईः—

भई थकित छबि छकित हेरि हर-रूप मनोहर।
ह्वै आनहि के प्रान रहे तन धरे धरोहर॥
भयौ कोप कौ लोप चोप औरै उमगाई।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष-रुखाई॥

छोभ-छलक ह्वै गई प्रेम की पुलक अंग मैं।
थहरन के ढरि ढंग परे उछरति तरंग मैं॥
भयौ बेग उद्वेग पेंग छाती पर धरकी।
हरहरान धुनि बिघटि सुरट उघटी हर-हर की॥

भयौ हुतौ भ्रूभंग-भाव जो भव-निद्‌रन कौ।
तामैं पलटि प्रभाव परयौ हिय हेरि हरन कौ॥
प्रगटत सोई अनुभाव भाव औरै सुखकारी।
ह्वै थाई उतसाह भयौ रति कौ संचारी॥

वह उत्साह जो अब तक अहंकार के कारण फूला बैठा था अब प्रेम धारा में अवगाहन करते ही संकुचित होकर बैठ गया। यहाँ शृंगार का उदय है तथा वीर रस की शान्ति है।

रत्नाकर जी की वीर तथा रौद्र रसों की व्यंजना पर विचार हो रहा था, पर बात कुछ-कुछ इधर-उधर भटकने लगी। अब हमें फिर अपने प्रस्तुत प्रसंग पर पहुँचना चाहिए। भीष्म प्रतिज्ञा से जो उदाहरण दिए गए हैं उनमें उत्साह भक्ति के साथ मिला हुआ आया है। केवल उत्साह को देखना हो तो यहाँ देखिए:—

पारथ बिचारौ पुरुषारथ करैगौ कहा,
स्वारथ-समेत परमारथ नसैहौं मैं।
कहै रतनाकर प्रचारयौ रन भीषम यौं,
आज दुरजोधन को दुख दरि दैहौं मैं।
पंचनि कैं देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
पञ्चनि कौ स्वत्व पंचतत्त्व मैं मिलैहौं मैं।
हरि-प्रन-हारी-जस धारि कै धरा ह्वै सांत,
सांतनु कौ सुभट सपूत कहवैहौं मैं॥

इस समय कृष्ण तथा अर्जुन दोनों विजेतव्य—वीर रस के आलंबन—हो रहे हैं। नीचे की पंक्तियों में देखिए शत्रु का पता

न लगने से उत्साह कैसा उबल-उबल कर रह जाता है:—

कढ़ी परति करबाल कोस सौं चमकि-चमकि कै।
निकसे आवत बान तून सौं तमकि-तमकि कै॥
उठि उठि कर रहि जात कसकि तिनके बाहन कौं।
पै न लगति अरि-खोज ओज सौं उत्साहन कौं॥

'कढ़ी परति' इत्यादि से उत्साह के प्रचंड वेग की कैसी व्यंजना हो रही है। वीरों के हृदयों का उत्साह छलक-छलक कर उनके अस्त्र-शस्त्रों में भी एक जीवन डाल देता है। ऐसा ही एक वर्णन राणा प्रताप की सेना के वर्णन-प्रसंग में आया है:—

साजि-साजि पागैं बागे पहिरि सुरंग चले,
आनन पै कुंकुम उमंग कल दीपै है।
कहै रतनाकर बरन कौं सुकीरति कैं,
प्रबल-प्रभाव चारु चाव चढ़्यौ जीपै है॥
कढ़ी परै म्यान सौं कृपान बिनु लाएँ पानि,
ऐसी कछु ठान की उठान आतुरी पै है।
ब्याह कौ उछाह बढ़्यौ चाहि निज बीरनि कैं,
ठास्यौ लै प्रताप ठाठ घाट हलदी पै है॥

बाँके राजपूत योद्धा जिस उत्साह से रणभूमि को प्रस्थान करते थे उस उत्साह से विवाह-मण्डप की ओर भी नहीं जाते होंगे। ऐसी अवस्था में हमारे कवियों का युद्ध यात्रा का विवाह यात्रा के साथ साम्य स्थापित करना स्वाभाविक ही है। 'हलदी' शब्द का कैसा सार्थक प्रयोग किया है। विवाह में हलदी चढ़ने की भी एक

रीति है। राणा प्रताप ने जब अपने वीरों में विवाह का उत्साह देखा तो हलदी घाट पर ले जाकर उनको खड़ा कर दिया। एक विवाहोत्सव और देखिए:—

लगन धराइ कै लिखाइ बेगि चीठी चारु,
बाकी खाँ बसीठी दिली नगर पठाई है।
कहै रतनाकर तुरंत रन दूलह की,
बिसद बरात सेन सज्जित सिधाई है॥
कढ़ि कढ़ि बाँकुरे बुँदेला रन-मांडव मैं,
बढ़ि बढ़ि घोर घमासान यौं मचाई है।
भागे सबै भभरि अभागे रन त्यागे चंपि,
चंपत कै लाल बिजै-बाल बरि पाई है॥

अभी तक पाठकों ने युद्धभूमि तक पहुँच कर युद्ध की भीषणता को नहीं देखा। सब से पहले भीष्म पितामह के भयानक युद्ध को कुछ पास खड़े होकर देखिए:—

मुंड लागे कटन पटन काल-कुंड लागे,
रुंड लागे लोटन निमूल कदलीनि लौं।
कहै रतनाकर बितुंड-रथ-बाजी-झुंड,
लुंड मुंड लोटैं परि उछरिति मीनि लौं॥
हेरत हिराए से परस्पर सचित चूर,
पारथ औ सारथी अदूर-दरसीनि लौं।
लच्छ-लच्छ भीषम भयानक के बान चले,
सबल सपच्छ फुफुकारत फनीनि लौं॥

अब बीर अभिमन्यु की लपलपाती हुई कृपाण की भीषण करामात देखिए। इस विषय का ऐसा उदाहरण हिंदी ही नहीं अन्य साहित्यों में भी खोजने से मिले तो मिलेः—

बीर अभिमन्यु की लपालप कृपान बक्र,
सक्र असनी लौं चक्रव्यूह माहिं चमकी।
कहै रतनाकर न ढालनि पै खालनि पै,
झिलिम झपालनि पै क्यौं हूँ कहूँ ठमकी॥
आई कंध पै तौ बाँटि बंध प्रतिबंध सबै,
काटि कटि-संधि लौं जनेवा ताकि तमकी।
सीस पै परी तौ कुंड काटि मुंड काटि फेरि,
रुंड के दुखंड कै धरा पै आनि धमकी॥

अभिमन्यु की बाण चलाने की फुरती तो देखिएः—

काटे देत रोदा दंड चंड बरिबंडनि के,
छाँटे भुज-दंड देत बान करकस तैं।
ऐंचन न पावैं धनु नैंकु धाक-धारी धीर,
खैंचन न पावैं बीर तीर तरकस तैं॥

अब अर्जुन का जयद्रथ से युद्ध करने के समय का हस्त-लाघव देखिएः—

धीर भए ध्वस्त हस्त-लाघव बिलोकि सबै,
भागे जात अस्त-ब्यस्त बीरता बिसारे हैं।
बान लेत मंडत उमंडत न पेखि परैं,
देखि परैं रुंड-मुंड खंडित बगारे हैं॥

कब बाण तरकस से निकाला कब धनुष पर चढ़ाकर छोड़ा यह सब कुछ नहीं दिखाई पड़ता। केवल शत्रुओं के रुण्ड मुण्ड रणभूमि में छिटके हुए दिखाई पड़ते हैं। तुलसीदास जी ने भी राम के हस्त-लाघव का कुछ ऐसा ही वर्णन किया है:—

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥

शिवा जी की अफजल को मारते समय की फुर्ती देखिए:—

भुज भरि भेंटि भींचि जौलौं करि-काय नीच,
पंजर मैं खंजर लै खोंपिबौ बिचारयौ है।
तौलौं नर-केहरि तमकि नर-केहरि लौं,
केहरि-नहा सौं दरि उदर बिदारयौ है॥

रत्नाकर जी की वाणी केवल वीर पुरुषों के विरुदगान में ही नहीं लगी रही उसने अपनी प्रतिभा का उपयोग भारतीय वीरांगनाओं की वीरता बखानने में भी किया। रानी दुर्गावती, नील देवी, महारानी लक्ष्मीबाई इत्यादि अनेक स्त्रियों की वीरता के सजीव चित्र कवि की रचनाओं में मिलते हैं।

अकबर के दरबार में रहने वाले राजपूत सरदार पृथीराज की रानी की वीरता देखिए;—

रानी पृथीराज की निहारति सिंगार-हाट
पारति सु दीठि गथ बिबिध बिसाती पै।
कहै रतनाकर फिरी त्यौं फँसी फंद बीच
लपक्यौ नगीच नीच धरम अराती पै॥

परसत पानि आनबान राजपूती आनि
औचक अचूक घात कीन्ही घूमि घाती पै।
झटकि झटाक कर पटकि धरा पै धरी
काती नोक गब्बर अकब्बर की छाती पै॥

शत्रुओं के दल से चारो ओर से घिरे रहने पर भी देखिए नील देवी कैसा साहस दिखाती है:—

पेसि कै कटारी धरमारी के करेजैं बीच,
तारी दई तरकि तराक नील देवा ज्यौं।
कहै रतनाकर ज्यौं संग कैं हथ्यार धारि,
कीन्हीं चहुँवार बार दारु की जलेबी ज्यौं॥
पैठि परयौ बीरनि समेत सोमदेव धीर,
चेते कछु चकित अचेत सुरासेवी ज्यौं।
एकाएक आनि कै महान अजगैवी परी,
दीसति फरेबी सभा रकत-रकेबी ज्यौं॥

प्रायः हिंदी कवियों ने वीर रस की व्यंजना करते समय कर्ण कटु शब्दों की योजना की है। पर रत्नाकर जी ने इसकी आवश्यकता नहीं समझी। वास्तविक उत्साह जितना भाव में रहता है उतना शब्दों में नहीं। पर साधारण शब्दों के भीतर भी ये जितना उत्साह तथा उग्रता भरने में समर्थ प्रतीत होते हैं उतने कम कवि हो पाते हैं। केवल निम्नलिखित उदाहरण में कुछ ओज-पूर्ण पदावली की योजना हुई है:—

दुर्ग तैं तड़पि तड़िता सी तड़कैं हीं कढ़ी,
कड़कि न पाए कड़खाहुँ अबै मुरगा।
कहै रतनाकर चलावन लगी यौं बान,
मानौ कर फैले फुफुकारी मारि उरगा॥
आसा छाँड़ि प्रान की अमान की दुरासा माँड़ि,
भागे जात गब्बर अकब्बर के गुरगा।
देवी दुरगावति मलेच्छ-दल गेरे देति,
मानौ दैत्य दलनि दरेरे देति दुरगा॥

इन उग्र रसों की व्यंजना के प्रसंग में कवि ने अनेक सुंदर कल्पनाएँ भी की हैं। एक उदाहरण देखिए। शिवा जी के शत्रु भागे चले जा रहे हैं। भागते समय मनुष्य पृथ्वी से शीघ्र पैर उठाते हैं। कवि कल्पना करता है कि संभवतः वह पृथ्वी जलती हुई है और शत्रु जलने के डर से अपने पैरों को शीघ्र ऊपर उठा लेते हैं:—

कहै रतनाकर चपल यौं चले हैं धाइ,
मानौ पाय धरत धरा पै दगे जात हैं।

अब तक हम युद्धवीर ही पर विचार करते आए हैं। पर ऊपर कहा जा चुका है कि आचार्यों ने वीर रस के तीन और विभाग किए हैं। वे दयावीर, दानवीर तथा धर्मवीर हैं। उत्साह को स्थायी मान कर आगे बढ़ने से हम इस रस के और भी विभाग कर सकते हैं। उदाहरणार्थ प्रतिज्ञावीर एक अच्छा विभाग होगा जो युद्धवीर के अंतर्गत नहीं लिया जा सकता। हाँ धर्मवीर के अन्तर्गत प्रतिज्ञा वीर को हम अवश्य किसी प्रकार ले सकते हैं। पर ऐसे

तो दयावीर और दानवीर भी धर्मवीर ही के अंग हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि वीर रस के जो चार विभाग किए गए हैं उनमें किसी सूक्ष्म वैज्ञानिक तथा तार्किक विवेचन शैली का अनुसरण नहीं किया गया है और न आचार्यों ने ये चार विभाग करके उत्साह के व्यापार क्षेत्र को सीमित करने का उद्योग किया है। जीवन से उन अन्य व्यापारों को चुन कर जो काव्योपयोगी हो सकते हैं हम इस रस को विस्तृत कर सकते हैं। रत्नाकर जी के ग्रंथों से वीर रस के अन्य विभागों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। सब से प्रथम हम दयावीर को लेते हैं। दीनबंधु भगवान् कृष्ण चंद्र की दया का कुछ स्वरूप देखिए:—

सुंड गहि आतुर उबारि धरनी पै धारि,
बिबस बिसारि काज सुर के समाज कौ।
कहै रतनाकर निहारि करुना की कोर,
बचन उचारि जो हरैया दुःख-साज कौ॥
अंबु पूरि दृगनि बिलंब आपनोई लेखि,
देखि देखि दीह छत दंतनि दराज कौ।
पीत पट लै लै कै अँगोछत सरीर कर,
कंजनि सौं पोंछत भुसुंड गजराज कौ॥

गज को कुछ चोट लग गई है। भगवान् सोचते हैं कि यदि हम कुछ और शीघ्र आते तो इस बेचारे को यह कष्ट क्यों होता। नेत्रों में जल भर के अपने पीतांबर से उसका शरीर पोंछ रहे हैं। उसके कष्ट को देखकर भगवान् स्वयं हुचकने लगते हैं।

बारन उबारि दसा दारुन बिलोकि तासु
हुचकन लागे आप करुना-प्रबाह मैं।

भगवान् की यह दशा देखकर गज को अपना कष्ट तो भूल ही गया, एक यह दूसरा कष्ट उत्पन्न हुआ। देखिए गज की कितनी भक्ति-पूर्ण युक्ति है—

ढारै नैन नीर ना सँभारै साँस संकित सो,
जाहि जोहि कमला उतार्यौ करै आरते।
कहै रतनाकर सुसकि गज साहस कै,
भाष्यौ हरैं हेरि भाव आरत अपार ते॥
तन रहिबे कौ सुख सब बहि जैहै हाय,
एक बूँद आँस मैं तिहारे जो बिचारते।
एक की कहा है कोटि करुनानिधान प्रान,
वारते सचैन पै न तुमकौं पुकारते॥

यद्यपि आप ने ग्राह से हमारे प्राणों की रक्षा की है। पर शरीर धारण करने का सम्पूर्ण सुख अपनी हुचकियों और सिसकियों से बहा दिया। यदि ऐसा जानते तो करुणा निधान! एक क्या करोड़ों प्राण सुख से न्योछावर कर देते पर आपको कभी न पुकारते।

अनेक संचारियों से युक्त दयावीर का उदाहरण देखना हो तो यहाँ देखिए—

संग के पुराने गज दिग्गज डराने सबै,
ताने कान कुंजर सुरेस कौ चिघार्यौ है।

कहै रतनाकर त्यौं करि कमला के काँपि,
चाँपि चख पानिप कहूँ को कहूँ पारयौ है ॥
संक जुत दौरि पौरि खेलत गजानन हूँ,
गोद गिरिजा की दुरि मौन मुख धारयौ है।
एते माहिं आतुर उमाहि हरि आइ धाइ,
सुंड गहि बूड़त बितुंडहिं उबारयौ है ॥

गजराज पर विपत्ति पड़ने से गजों की बिरादरी भर में खलबली मँच गई। मारे डर के इंद्र का हाथी अपने कान तान कर चिंघाड़ने लगा। लक्ष्मी के हाथी काँपने लगे और उन्होंने डर से आँखें बंद कर लीं। ऐसा करने से लक्ष्मी पर गिरनेवाली जलधारा कहीं की कहीं जा गिरी। उधर महादेव के घर भी एक हाथी से मुँह वाले थे। द्वार पर खेल रहे थे। इतने ही में गजराज की चिंघाड़ सुनी। मारे डर के जल्दी से घर में घुस आए और चुपचाप माता गिरिजा की गोद में मुँह छिपा कर दुबुक बैठे।

दिग्गज इत्यादि का भय तो उत्साह का संचारी है। पर गजानन का भय वास्तविक नहीं। इसकी सृष्टि कवि कल्पना से हुई है। इस से एक मीठे स्मित की सृष्टि होती है। इसे भय संचारी न मान कर हास्य संचारी मानना उचित होगा। इन दोनों भय तथा हास्य संचारियों से उत्साह अपना स्थायित्व पुष्ट करता है। अब तक के दयावीर के उदाहरणों में उत्साह का संचारित्व उतना स्फुट नहीं है। सात्विकों तथा अनुभावों की पूरी योजना के साथ उत्साह की उमंग यहाँ देखिए:—

दीन द्रौपदी की परतंत्रता पुकार ज्यौंहीं,
तंत्र बिन आई मन-जंत्र बिजुरीनि पै।
कहै रतनाकर त्यौं कान्ह की कृपा की कानि,
आनि लसी चातुरी-बिहीन आतुरीनि पै॥
अंग पर्‌यौ थहरि लहरि हग रंग पर्‌यौ,
तंग पर्‌यौ बसन सुरंग पसुरीनि पै।
पंचजन्य चूमन हुमसि हौंठ बक्र लाग्यौ,
चक्र लाग्यो घूमन उमगि अँगुरीनि पै॥

दानवीर तथा धर्मवीर के उदाहरण स्वरूप हरिश्चंद्र काव्य उपस्थित है। एक ओर उनकी उदारता ऐसी है कि संपूर्ण पृथ्वी का दान दे देते हैं दूसरी ओर उनका सत्यप्रेम ऐसा अटल है कि स्त्री पुत्र इत्यादि को बेंचकर भी दृढ़ रहते हैं। हरिश्चंद्र की सत्य निष्ठा इन पंक्तियों में देखिए—

अचल फारि लपेटि मृतक फूँकन ल्याई हैं।
हा हा! पती दूर बिना चादर आई हैं।
दीन्हें कफनहिं फारि लखहु सब अंग खुलत हैं।
हाय! चक्रवर्ती कौ सुत बिन कफन फुकत है॥

पर महारानी की इस करुण दशा से भी महाराज दृढ़ रहते हैं:—

कह्यौ भूप "हम करहिं कहा हैं दास पराए।
फुकन देन नहिं सकत मृतक बिन कर चुकवाए॥
फाड़ि कफन तैं अर्ध बसन कर बेगि चुकाओ।
देखौ चाहत भयौ भोर जनि देर लगाओ॥"

अब हम कवि की वीर रस की कविताओं पर समष्टि-रूप में कुछ संक्षिप्त विचार कर इस प्रकरण को समाप्त करें। वीर रस की व्यंजना के लिए कवि ने जिस कलापूर्ण शैली का अनुसरण किया है वह अपने उद्देश्य में भली भाँति सफल रही है। अनुभावों की जैसी योजना इनके द्वारा हुई है वैसी हमारी भाषा के कम कवियों के द्वारा हो पाई। अनुभावों द्वारा भावव्यंजना की ओर अग्रसर होने की कला सबसे स्वाभाविक तथा प्राकृतिक नियमों का अनुसरण करनेवाली है। लोक में भी हम किसी भाव को अंगज विशेषताओं तथा चेष्टाओं ही से ग्रहण करते हैं। रत्नाकर जी ने इन चेष्टाओं का बहुत ही सूक्ष्म तथा मार्मिक निरीक्षण किया तथा इनका उपयोग अत्यन्त कलापूर्ण हुआ है। अपने साहित्य में वास्तविक वीर रस की बहुत ही कम रचनाएँ हुई हैं। अनेक कवियों का ध्यान उत्साह जाग्रत करने में उतना नहीं रहता था जितना आलंकारिक योजना करने में। वे रणभूमि का गेरू की नदी के साथ रूपक ही बाँधने में लगे रहते थे। उन्हें यह विचारने की भी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी कि गेरू की नदी का रणभूमि से कोई भावात्मक संबंध है या नहीं। क्या नदी देख कर वे ही भाव जाग्रत होते हैं जो रक्त से लथपथ रणभूमि को देखकर होते हैं? रीति-काल के उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले प्रायः कवियों की वीररस की रचनाएँ अनुभूति-हीन हैं। भूषण, चंद्रशेखर वाजपेई इत्यादि ही कुछ इने-गिने वीर रस के सच्चे कवि हैं। रत्नाकर जी की वीररस की कविताओं का हमारे साहित्य में बहुत ही महत्व का स्थान है। ज्यों ज्यों समय

बीतता जायगा त्यों-त्यों तुलनात्मक अध्ययन कर के विचारक कवि की रचनाओं का महत्व स्वीकार करते जायँगे। हम लोगों की कुछ ऐसी प्रकृति है कि कवि जब हमसे कुछ दूर का हो जाता है तो हम उसकी रचनाओं को ध्यान से पढ़ते हैं। कुछ काल बीतने पर दूरी स्वतः प्राप्त होती जायगी, कवि की रचनाओं का महत्व भी बढ़ता जायगा।

भयानक रस

कवि द्वारा प्रस्तुत की गई भयानक रस की व्यंजना का निरीक्षण करने के पहले हमें इस विषय से घनिष्ट संबंध रखनेवाले एक महत्व के प्रश्न पर विचार कर लेना चाहिए। विचारणीय प्रश्न यह है कि इस रस की निष्पत्ति की प्रणाली क्या है? सब रसों में पाठक अपनी रागात्मक वृत्ति के प्रसार से पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। फिर राग विराग के बंधनों में बँधा हुआ उन पात्रों के सुख दुःख से प्रभावित होता रहता है। काव्य ग्रंथों में प्राप्त भय के उदाहरणों में हम प्रायः देखते हैं कि उनसे पाठकों के हृदय में भय से मिलती हुई भावना भी नहीं उत्पन्न होती। इसका कारण क्या है? कारण यही है कि कवि ऐसी परिस्थितियाँ नहीं उत्पन्न कर पाते जिनमें पाठक अपने स्वतंत्र अस्तित्व को निमज्जित कर सकें। प्रायः भय की कविताओं से एक प्रकार का चमत्कार सा उत्पन्न होकर रह जाता है। अब यह भी विचार कर लेना चाहिए कि ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ हो सकती हैं

जिनसे वास्तविक भयानक रस की व्यंजना हो सके। अपने ऊपर अथवा अपने प्रिय तथा इष्ट जनों के ऊपर जब विपत्ति आती है तो हमें शोक होता है। ऐसी ही परिस्थितियाँ जब काव्य में प्राप्त होती हैं तो शोक के स्थायित्व को प्रतिष्ठा से करुण रस की व्यंजना के अवसर आते हैं। भावना के उद्रेक से जिन पात्रों के साथ हम राग बंधन में बँध जाते हैं उनकी विपत्तियाँ हमें विचलित कर देती हैं। जब रणभूमि में शक्ति से लक्ष्मण मूर्छित हो जाते हैं तो सहृदय पाठकों के हृदय में तब तक शोकजन्य वेदना बनी रहती है जब तक वे यह नहीं पढ़ लेते कि संजीवनी बूटी के सेवन से वे स्वस्थ तथा प्रसन्न होकर उठ बैठे हैं। पर पाठक उधर रावण पर पड़नेवाली विपत्तियों से उतने प्रभावित नहीं होते क्योंकि वे राम तथा लक्ष्मण को अपना समझे रहते हैं तथा रावण राम का शत्रु होने से पाठकों की भावना के सम्मुख शत्रु रूप में ही उपस्थित होता है। यह तो शोक या करुण रस की बात हुई। भय की बात भी इसके बहुत कुछ पास ही रहती है। विपत्ति पड़ने पर शोक की सृष्टि होती है। विपत्ति पड़ने की संभावना की उत्पत्ति से भय होता है। यदि कुछ ऐसे पात्रों पर पड़नेवाली भयानक तथा घातक विपत्तियों का पूर्वरूप उपस्थित किया जाता है जिनको पाठक अपना समझते हैं तो उनके हृदय में एक आतंक सा छा जाता है। रामायण से धनुषयज्ञ प्रसंग को ले लीजिए। धनुषभंग होने पर पाठक एक के पश्चात् दूसरी मंगल घटनाओं की प्रतीक्षा करने लगते हैं। पर अचानक परशुराम के आ जाने से पाठक सहम से जाते हैं। इस सहमने का

कारण क्या है ? यही कि वे नहीं चाहते कि राम पर अब कोई विपत्ति पड़े। प्रिय पर पड़नेवाली विपत्ति की आशंका ही भय की जननी है। जो कवि अपने काव्यों में इन परिस्थितियों की अवतारणा कर सके हैं उनकी भयानक रस की व्यंजना में स्वाभाविकता आई है नहीं तो भयानक रस के प्रायः उदाहरणों में इसकी संपूर्ण सामग्री प्रस्तुत रहने पर भी रसनिष्पत्ति नहीं हो पाती। प्रतिपक्षी पर पड़नेवाली विपत्तियों से पाठकों के हृदय में भय या भय से मिलती हुई कोई बात नहीं उत्पन्न होती। राम की चढ़ाई का समाचार सुन कर लंका में कैसी घबराहट फैली:—

'बसत गढ़ लंक लंकेस रावन अछत,

लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो।

पर इस घबराहट से पाठकों को भय नहीं होता, वे तो और भी प्रसन्न ही होते हैं। इस आशंका को हम भयानक रस नहीं मान सकते। इसे अन्य किसी भाव का संचारी मानेंगे।

हिंदी के रीति ग्रंथों में प्राप्त उदाहरणों को हमें भयानक रस में लेने में संकोच होता है। उन्हें तो किसी रस का संचारी ही मानना संभव है। यदि पास में कोई ऐसा रस नहीं है जिसमें यह भय संचरण कर सके तो हमें इस भय को आलंकारिक विधान के भीतर ही लेना चाहिए। यह आलंकारिक विधान के भीतर आनेवाला भय क्या है, इसका विचार हम आगे चल कर करेंगे। अब हम रत्नाकर जी के भय के उदाहरणों की ओर अग्रसर होते हैं।

हरिश्चंद्र काव्य में महाराज हरिश्चंद्र अपने उदार चरित्र के

कारण सहृदय पाठकों के अनुराग के आलंबन हो जाते हैं। जब सर्वस्व दान कर वे काशी की ओर जाते हैं तो पाठक भी दुखी होते हुए उनके साथ लगे रहते हैं। जब अचानक वहाँ पर उग्ररूप विश्वामित्र उपस्थित हो जाते हैं तो पाठक एक बार सहम उठते हैं:—

तिहिं अवसर पुनि गाधि-सुअन तहँ आनि प्रचारयौ।
किये दृगनि बिकराल ब्याल लौं बचन उचारयौ॥
"अरे भ्रष्टप्रन बोलि मास पूरयौ कै नाहीं।
अब बिलंब किहिं हेत दच्छिना दैबे माहीं॥

यहाँ स्वरूप तो क्रोध का है तथा पाठकों के हृदय में भी यही भाव उत्पन्न होने की संभावना की जा सकती है। पर ऐसा नहीं होता क्योंकि पाठक हरिश्चंद्र की ओर हैं, विश्वामित्र की ओर नहीं। पाठकों के हृदय में एक प्रकार का भय सा उत्पन्न होता है। यदि रस का निर्णय पाठकों के हृदय पर पड़े हुए प्रभाव का अनुसरण कर के करना है तो यहाँ भयानक रस अवश्य मानना चाहिए यदि शब्दों की परंपरा का मिथ्यानुसरण करना है तो यहाँ रौद्र रस भी मान सकते हैं।

पर हिंदी के कवियों ने प्रायः इस बात पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने रीति ग्रंथों में कहीं पढ़ लिया कि भय के आश्रय प्रायः स्त्री तथा नीच पात्र होते हैं। बस, इसीके पीछे आँखें बंद कर चल निकले। इसका विचार ही नहीं किया कि पाठकों को प्राप्त होनेवाले संवेदन के स्वरूप का भी कुछ महत्व है तथा उसकी रक्षा करना भी आवश्यक है।

भय की रौद्र रस के साथ बहुत ही मित्रतापूर्ण योजना होती है। पर ऐसे स्थलों पर भय प्रायः संचारी ही सा होता है क्योंकि इस में प्रतिपक्षी पर विपत्ति पड़ने की आशंका की स्थिति का ही चित्रण रहता है। भय का एक सुंदर उदाहरण देखिए:—

पाँचजन्य गूँजत सुनान सब कान लाग्यौ,
दसहूँ दिसानि चक्र चक्रित लखायौ है।
कहै रतनाकर दिवारनि मैं द्वारनि मैं,
काल सौ कराल कान्ह-रूप दरसायौ है॥
मंत्र षडयंत्र के स्वतंत्र ह्वै पराने दूरि,
कौरव-सभा मैं कोऊ होंठ ना हलायौ है।
संक सौं सिमिटि चित्र-अंक से भए हैं सबै,
बंक अरि-उर पै अतंक इमि छायौ है॥

यहाँ क्रोध तथा भय की मैत्रीपूर्ण योजना हुई है। भयानक रस की सब बाह्य सामग्री प्रस्तुत है। पाठक कौरवों के साथ नहीं हैं अतः उन्हें शंकित होने की कोई आवश्यकता नहीं। पर फिर भी कृष्ण के अत्यंत उग्र स्वरूप को देख कर वे भी कुछ सहम उठते हैं। कृष्ण के क्रोध से रौद्र रस हुआ तथा कौरवों के भय से भयानक। ऐसा ही इस उदाहरण में है:—

बक्र भृकुटी कै चक्र ओर चष फेरत हीं,
सक्र भए अक उर थामि थहरत हैं।
कहै रतनाकर कलाकर अखंड मंडि,
चंडकर जानि प्रलय खंड ठहरत हैं॥

कोल कच्छ कुंजर कहलि हलि काढ़ैं खीस,

फनानि फनीस कैं फुलिंग फहरत हैं।

मुद्रित तृतीय दृग रुद्र मुलकावैं मीड़ि,

उद्रित समुद्र अद्रि भद्र भहरत हैं॥

अब केवल संचारी रूप में आनेवाले भय को देख लिया जाय। कभी कभी तो ऐसा होता है कि सम्पूर्ण कवित्त में भय का वर्णन होने पर भी विचार करने पर वहाँ उस भय को संचारी ही मानना पड़ता है क्योंकि प्रसंग की प्रेरणा से उत्साह या क्रोध ही मुख्य भाव ठहरता है। नीचे देखिए शिवाजी के भय से कैसी घबराहट फैली हुई है—

ऐसौ कछु भभरे हिये मैं भय हूलि जात,

भूलि जात गाजिबौ दिल्ली के साह गाजी कौ।

कहै रतनाकर सुध्यात वहै आठों जाम,

नाम सरजा कौ भयौ कलमा नमाजी कौ॥

धाई धाक धूम यों भुवाल भौंसिला की भूमि,

कहियै खभार नर नारि के कहा जी कौ।

सरकत सुंडी सुंड दाबत भुसुंडनि मैं,

भरकत बाजी नाम सुनत सिवाजी कौ॥

यहाँ भय का पूरा वर्णन है पर पाठकों के हृदय में एक प्रकार का उत्साह उत्पन्न होता है। रस की स्थिति पाठकों या दर्शकों ही में मानी जाती है। अतः यहाँ हम वास्तविक भयानक रस कैसे मान सकते हैं? इसे उत्साह का संचारी ही मानना उचित होगा।

पीछे हमने आलंकारिक विधान के अंतर्गत आनेवाले भय का नाम लिया था। ऐसे उदाहरणों में भय का वर्णन तो अवश्य होता है पर वह कल्पित होता है। कवि किसी अन्य भाव की व्यंजना करने के लिए इस भय का उपयोग करता है। नीचे के उदाहरण को देख कर विचार करिए:—

उड़त फुहारन की तारन-प्रभाव पेखि,
जम हिय हारे मनौ मारे करकनि के।
चित्र से चकित चित्रगुप्त चपि चाहि रहे,
बेधे जात मंडल अखंड अरकनि के॥
गंग-छींट छटकि परै न कहूँ आनि इतै,
दूत इमि तानत बितान तरकनि के।
भागे जित तित तैं अभागे भीति-पागे सबै,
लागे दौरि दौरि देन द्वार नरकनि के॥

गंगा जी से बेचारे देवगण बहुत दुखी हैं। डरके मारे दौड़ दौड़ के नरकों के द्वार बंद कर रहे हैं जिसमें पापी गंगा की छींटों से पावन होकर स्वर्ग में भीड़ न लगाने पावें। पर देवताओं की इस विपत्ति से पाठकों को कुछ भी सहानुभूति नहीं। उनके हृदय में देवताओं के भय को देख कर एक आनंद उत्पन्न होता है जो देव विषयक रति का संचारी हो जाता है। गंगा के महत्व की व्यंजना के लिए कवि ने आलंकारिक रूप में इस भय की कल्पना की है। इस भय को देव विषयक रति का संचारी भी नहीं माना जा सकता क्योंकि यह अवास्तविक तथा आलंकारिक है। इसी

प्रकार यहाँ यमदूतों के भय का आलंकारिक वर्णन है:—

देत जमराज सौं दुहाई जमदूत जाइ,
जमुना प्रताप-ज्वाल जग यौं बगारी है।
कहै रतनाकर न फटकन पावैं पास,
चटकन लागै चट पाँसुरी-पत्यारी है॥
पापिनि के पातक पहार सब जारे देति,
बसती उजारे देति हमकि हमारी है।
तपन-तनूजा जल-रूपहू भई तौ कहा,
अगिनी अनूप यह भगिनी तिहारी है॥

इस प्रकार रत्नाकर जी द्वारा भय का चित्रण चार प्रकार से हुआ है:—

(१) भयानक रस के रूप में।
(२) रौद्र तथा कभी कभी उत्साह के साथ मैत्रीपूर्ण योजना के रूप में।
(३) भय-संचारी के रूप में।
(४) आलंकारिक रूप में।

अब कवि की उस कला का परिचय प्राप्त कर लिया जावे जिससे वह अपनी भावव्यंजना की ओर अग्रसर हुआ है। जैसा कि और भावों की व्यंजना में वैसा ही यहाँ भी, कवि ने भीत व्यक्तियों की मुद्राओं का सूक्ष्म निरीक्षण कर भाव-चित्र प्रस्तुत किए हैं। यह निरीक्षण बहुत ही सूक्ष्म तथा स्वाभाविक हुआ है। गंगा

आकाश मंडल को फाड़ती हुई नीचे गिर रही हैं। देखिए डर के मारे सुर-सुंदरियों की क्या दशा है:—

सुर सुंदरी ससंक बंक दीरघ दृग कीने।
लगीं मनावन सुकृत हाथ काननि पर दीने॥

ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर के ऊपर भी बड़ी विपत्ति पड़ी है। उनके वाहन भय के मारे भड़क गए हैं। रोके नहीं रुकते:—

भरके भानु-तुरंग चमकि चलि मग सौं सरके।
हरके बाहन रुकत नैंकु नहिं बिधि हरि हरके॥
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय-थरके।
धुनि प्रतिधुनि सौं धमकि धराधर के उर धरके॥
नभ मंडल थहरान भानु-रथ थकित भयौ छन।
चंद चकित रहि गयौ सहित सिगरे तारागन॥
पौन रह्यौ तजि गौन गह्यौ सब भौन सनासन।
सोचत सबै सकाइ कहा करिहै कमलासन॥

सम्पूर्ण सृष्टि में प्रलय काल सा दृश्य उपस्थित हुआ है। उधर सूर्य्य के घोड़े चलते नहीं अतः सूर्य्यास्त नहीं हो पाता। इधर चंद्रमा और तारागण चकित हो रहे हैं। प्रतीत होता है कि कवि भी डर गया है तभी उसने सूर्य्य और तारों का एक साथ रहना लिखा है। यह भी संभव है भय के मारे सूर्य्य का तेज फीका पड़ गया हो और तारे दिखाई पड़ने लगे हों। यहीं तक नहीं पर्वतों तथा सुमद्रों में भी आतंक छाया हुआ है:—

बिंध्य - हिमाचल - मलय - मेरु - मंदर हिय हहरे।
ढहरे जदपि पषान ठमकि तउ ठामहिं ठहरे॥
थहरे गहरे सिंधु पर्ब बिनहूँ लुरि लहरे।
पै उठि लहर-समूह नैंकु इत उत नहिं ढहरे॥

इस कवित्त में गंगावतरण के समय का सारा दृश्य देख लीजिए। उधर विष्णु भगवान् की ओर भी देख लीजिए जो न जाने क्यों बट वृक्ष के पत्तों की ओर देख रहे हैं:—

बोधि बुधि बिधि के कमंडल उठावत हीं,
धाक सुरधुनि की धँसी यौं घट-घट मैं।
कहै रतनाकर सुरासुर ससंक सबै,
बिबस बिलोकत लिखे से चित्र-पट मैं॥
लोकपाल दौरन दसौं दिसि हहरि लागे,
हरि लागे हेरन सुपात बर बट मैं।
खसन गिरीस लागे त्रसन नदीस लागे,
ईस लागे कसन फनीस कटि-तट मैं॥

करुण रस

दूसरों के सुख से सुखी होना जितना स्वाभाविक तथा सरल प्रतीत होता है उतना दूसरों के दुःख से दुखी होना नहीं। पर सहृदयता अपने पराए के बंधनों को तोड़ भावुकों को सामान्य भूमि पर पहुँचा कर एक विस्तृत संसार में विचरण कराती है जहाँ स्पृहणीय आचरणवाले सब व्यक्ति अपने से लगते हैं तथा लोक-मंगल में

व्याघात पहुँचानेवाले उपेक्षा और तिरस्कार के पात्र समझे जाते हैं। जिनके शोक से कवि हमें दुखी करना चाहता है वे हमारे अनुराग के पात्र अवश्य होने चाहिए। किसी भी अज्ञात-कुल-शील व्यक्ति के दुःख से प्रभावित हो उठना प्रायः उतना स्वाभाविक नहीं होता। इसी लिए प्रायः कवि करुण रस की व्यंजना करने के लिए ऐसे ही व्यक्तियों के शोक को सामने करते हैं जो ऐसे कार्यों में लग्न रहने के कारण जिनसे संसार के कल्याण का मार्ग प्रशस्त तथा निष्कंटक होता है हमारे अनुराग के आलंबन हो चुके होते हैं। दशरथ के राजकुमार यदि निर्वासित किए जाते हैं तो हमारे आँसू रोके नहीं रुकते पर उधर जब रावण का प्रतापी पुत्र मेघनाद मारा जाता है तो हमपर वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। क्यों? एक हमारे अनुराग के पात्र हैं, दूसरे हमारे विराग के। पहले से हम अपनापन स्थापित कर चुके हैं तथा दूसरा हमारे शत्रुरूप में सामने आता है। शत्रुओं के दुःख से दुखी होना देवत्व का लक्षण हो सकता है मनुष्यता का नहीं। रत्नाकर जी ने करुण रस की व्यंजना करते समय ऐसे ही व्यक्तियों की प्रतिष्ठा की है जिनके दुःख को हम अपना समझने लगते हैं। महाराज हरिश्चंद्र सत्य तथा धर्म के प्रतीक होने से हमारे अपने हैं। हमारी सद्वृत्तियाँ अपने अनुराग की परिधि का विस्तार करते-करते सब सदाचरण वाले व्यक्तियों को अपने भीतर कर लेती हैं। हरिश्चंद्र पर जब एक के पश्चात् दूसरी विपत्ति पड़ने लगती है तो हम विचलित हो उठते हैं। श्मशान पर उस मृतक बालक को माता की गोद में देख कर तो

हमारा हृदय विदीर्ण होने लगता है। उधर सगर के साठ सहस्र पुत्र देखते-देखते कपिल की क्रोधाग्नि में जल कर राख हो जाते हैं पर हम अधिक प्रभावित नहीं होते। सगर के हम इतने पास नहीं पहुँच पाते कि उनके दुःख से अधिक प्रभावित हो सकें। एक बात और है। किसी भले आदमी पर बैठे ठाले आ पड़नेवाली विपत्ति हमारे हृदय को शीघ्र विचलित करती है। मोल ली हुई विपत्ति से हम उतने प्रभावित नहीं होते। महाराज हरिश्चंद्र को निरपराध होते हुए भी अपने उदार स्वभाव के कारण उन विपत्तियों का पात्र होना पड़ा। पर सगर ने यश आदि की कामना से अश्वमेध का आरंभ किया था। अतः उस उच्च कामना के मार्ग में पड़नेवाली विपत्तियों को हम उतना नहीं गिनते। केवल वृद्ध पिता के साथ थोड़ी-सी सहानुभूति प्रकट कर रह जाते हैं।

शोक की व्यंजना करते समय कवि ने जिस परिपाटी का अनुसरण किया है उसका कुछ संक्षिप्त संकेत पीछे किया जा चुका है। रत्नाकर जी की वाणी शोक की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर मूक हो जाती है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि कवि व्यंजना में असफल होता है। उसका मूक होना ही एक कला है। वह कुछ न कह कर भी सब कुछ कह डालता है। बड़ी सुकुमारता से प्रस्तुत दृश्य की ओर उँगली उठा कर कवि अलग हो जाता है। फिर भावुक उस शोक सागर में डूबते उतराते रहते हैं। यदि कवि बहुत कुछ कहने के फेर में पड़ता तो उसकी व्यंजना भी शब्दों की सांकेतिक शक्ति के अनुसार सीमित ही होती। यहाँ कवि अनु-

भावों के भी फेर में नहीं पड़ा है। शृंगार तथा वीर रस में अनु-भावों की अनिवार्य आवश्यकता है पर शोक के समय तो निस्त-ब्धता तथा उदासी ही मुख्य हैं। बस कवि इन्हीं को उपस्थित करता है। अश्रुसात्विक तो शोक के लिए आवश्यक ही है।

अंशुमान साठ सहस्र पुत्रों के मरने का समाचार सुनाना चाहता है। पर कवि उसे मूक ही रहने देता है। तब मन्त्री-पुत्र इस समा-चार को सुनाता है। महाराज ने मन्त्री पुत्र से समाचार सुना होगा पर पाठक तो अंशुमान की दशा ही देख कर सब समझ लेते हैं:—

परयौ करेजौ थामि थहरि त्यौं रोइ कुँवर वर।
निकसे सकसि न बचन भयौ हिचकिनि गद्गर गर॥
आँसु ढारि भरि साँस सचिव-सुत तब अगुवायौ।
काहू बिधि सबिषाद विषम संबाद सुनायौ॥

उधर महाराज सगर भी यह समाचार सुन कर जड़रूप हो जाते हैं। उनके मुख से भी बात नहीं निकलती:—

भयौ भूप जड़-रूप अंग के रंग सिराए।
बज्राघात सहस्र साठ संगहिं सिर आए॥
कढ़यौ कंठ नहिं बैन न नैननि आँसु प्रकास्यौ।
आनन भाव-बिहीन गाँव ऊजड़ लौं भास्यौ॥

मुँह की विवर्णता तथा उदासी की व्यंजना के लिए कवि कैसा मिलता हुआ दृश्य उपस्थित करता है। ऊजड़ ग्राम को प्रसंग के मेल में बैठाने से भाव व्यंजना में कितनी सहायता पहुँची है। यहाँ कवि ने मूक-भाव-व्यंजना शैली ही से काम लिया है। अप्रस्तुत

विधान करते समय भी कवि भाव का समुचित ध्यान रखता हैः—

उमड़्यौ शोक समुद्र भई बिप्लुत मख-साला।
बड़वागिनि सी लगन लगी जज्ञागिनि-ज्वाला॥
गयौ तुरत फिरि सब उछाह आनँद पर पानी।
बढ़ी पीर की लहर धीर-मरजाद नसानी॥
लगे सकल सिर धुनन कांड करुना कौ माच्यौ।
मनु बनाइ बहु बपुष बरुन तिहिं मंडप नाच्यौ॥
लागीं खान पछाड़ धाड़ मारन सब रानी।
मानहु माजा मज्जि तलफि सफरी अकुलानी॥

तड़पती हुई मछली को दुःख या शोक से तड़पते हुए प्राणियों के साथ भारतीय काव्य-दृष्टि सदा से नियोजित करती आई है। यह दृश्य शोक मग्न व्यक्ति के हृदय के मेल में भी बैठता है तथा उसकी व्याकुलता के बाह्य स्वरूप की भी व्यंजना करता है। शोक से पछाड़ खा खा कर लोटती हुई रानियों के लिए धूल में लोटते हुए घोड़ों को नहीं लाया जा सकता क्योंकि उससे बाह्य चेष्टाओं का तो साम्य प्राप्त हो जायगा पर हृदय की वेदना को प्रकट करनेवाली सामग्री उपस्थित न हो पावेगी। रत्नाकर जी ने इन बातों का सदा ध्यान रखा है।

जिन दृश्यों के द्वारा शोक की व्यंजना में सहायता मिल सकती है उनको उपस्थित करना कवि कभी नहीं भूलता। अंशुमान ने गरुड़ से अपने पितरों के मरने का समाचार सुना है। देखिए अंशुमान अपने शोक के उद्गार में कैसे परिचित दृश्य सामने लाया हैः—

सके न देखि उदास कबहुँ तुम बदन हमारौ।
बिलकत आज बिलोकि क्यौं न कर गहि बुलकारौ॥
खेलन खोरि न दियौ हमैं तुम धूर-धुरेटे।
सो अब आपुहिं आइ छार-रासिनि मैं लेटे॥

बहुत संभव है सगर महाराज के राजकुमार कभी धूल 'धूसरित गलियों में न खेले हों। पर यह एक स्वाभाविक दृश्य है जिससे सहानुभूति सरलता से स्थापित हो जाती है। उनके मरने से अश्वमेध के अनुष्ठान में जो विघ्न हुआ कवि उसे शोक की व्यंजना के लिए सामने नहीं लाता है। पर पिता पुत्र के स्वाभाविक संबंध की अवतारणा से शोक की स्थापना करता है।

अब हम हरिश्चंद्र काव्य के कुछ करुण दृश्यों को देख लें। उनमें से अनेक दृश्य तो ऐसे हैं कि पाठक अपने को सँभाले न रह सकेंगे। जिन महाराज हरिश्चंद की उदारता की कथा स्वर्ग तक फैली हुई थी उन्हीं की महारानी ऋषि की दक्षिणा चुकाने के लिए आज बीच बाजार में बिकने आई हैं। पाठक यदि देख सकें तो देखें:—

यौं कहि लगी पुकारि कहन भरि बारि बिलोचन।
कोउ लै मोल हमैं करि कृपा करै दु:ख मोचन॥

जिनके द्वार से कोई विमुख नहीं फिरता था वही आज बिक रही हैं। यदि कोई मोल ले ले तो यह भी कृपा ही समझी जायगी। महाराज तथा महारानी के हृदय को सत्य ने दृढ़ बना दिया है। वह बेचारा बालक जो उनके साथ में हैं इन बातों को क्या समझे!

माँ के नेत्रों में जल भरा देख वह भी माँ का आँचल पकड़ उनके मुँह की ओर देख देख कर बिलखने लगा:—

निज जननी दृग वारि हेरि बालक बिलखायौ।
ह्वै उदास अंचल गहि आनन लखि मुरझायौ॥
बहुरि तोतरे बचन बोलि आरत-उपजैया।
बूझ्यो "पँ ये कहा भयौ रोवति क्यौं मैया"॥
सुनि बालक की बात अधिक करुना अधिकाई।
दंपति सके न थाँमि आँसुधारा बहि आई॥

वह बालक दुःख को क्या समझे! पर माता पिता को रोते देख रोने लगा। कभी इनके मुँह को ओर देखता है कभी उनके:—

जदपि विपति·दुख·अनुभव-रहित रुचिर लरिकाई।
मात पिता की गोद छाँड़ि नहिं मोद निकाई॥
रोवत तऊ देखि तिनकौं लाग्यौ सिसु रोवन।
इनके कबहुँ कबहुँ उनके आनन·रुख जोवन॥

जब महारानी बिक चुकीं तो बालक को साथ लेकर उपाध्याय के घर की ओर जाने लगीं। उस समय यह भोला बालक क्या कहता है:—

चलत देखि दुखकृत-बिकृत मुख बालक खोल्यौ।
"कहाँ जाति, जनि जाइ माइ" अंचल गहि बोल्यौ॥

कौडिन्य ने जब विलंब होते देखा तो बालक को झटक कर माँ से शीघ्र चलने को कहा। वह बेचारा फूट फूट कर रोने लगा। यहाँ न बालक अभी उस दिन अयोध्या के उस भव्य राजप्रासाद

में उस राजकर्मचारियों की गोद में क्रीड़ा करता फिरता था! आज एक साधारण मनुष्य उसके प्रतापी पिता के सामने ही उसे धक्का दे देता है:—

रोवन लाग्यौ फूटि झपटि हरिचंद उठायौ।
धूरि पोंछि मुख चूमि लाइ हिय मौन गहायौ॥

बस! इसके पश्चात् महारानी उस ब्राह्मण के साथ चलदीं। हाँ, बालक को गोद में लिए सजल नेत्रों से महाराज की ओर अवश्य देखती जाती हैं। कौन जाने वे कब तक न देखती रही होंगी:—

चली बटुक के संग उछंग लिए बालक कौं।
फिरि फिरि करुना सहित बिलोकति नर पालक कौं॥

महारानी न जाने कब तक के लिए—संभव है सदा के लिए—महाराज से अलग हो रही हैं, पर कवि उन्हें परस्पर कुछ कहने का भी अवसर नहीं देता। यह क्या कुछ कहने सुनने का अवसर था? कवि बेचारा कहता ही तो क्या कहता? पर एक पंक्ति में उस करुणा को निचोड़ कर भर दिया है:—

फिरि फिरि करुना सहित बिलोकति नर पालक कौं।

कही सुनी बातें संभव है भूल जातीं। पर यह करुण दृष्टि सहृदयों के हृदय पर सदा अंकित रहेगी। इन विपत्तियों का ताँता टूटता नहीं दीखता। कुछ दिनों के पश्चात् अपने बालक की मृतक देह को सामने रखे हुए हम महारानी को इस प्रकार विलाप करते हुए देखते हैं:—

हाय हमारौ लाल लियौ इमि लूटि बिधाता।
अब काकौ मुख जोहि मोहि जीवै यह माता॥
पति त्यागैं हूँ रहे प्रान तब छोह सहारे।
सो तुमहूँ अब हाय बिपति मैं छाँड़ि सिधारे॥
अबहिं साँझ लौं तौ तुम रहे भली बिधि खेलत।
औचकहीं मुरझाइ परे मम भुज मुख मेलत॥
हाय न बोले बहुरि इतोही उत्तर दीन्ह्यौ।
फूल लेत गुरु हेत साँप हमकौं डसि लीन्ह्यौ॥
गयौ कहाँ सो साँप आनि क्यौं मोहुँ डसत ना।
अरे प्रान किहिं आस रह्यौ अब बेगि नसत ना॥
कबहुँ भागबस प्राननाथ जौ दरसन दैहैं।
तौ तिनकौं हम बदन कहौ किहि भाँति दिखैहैं॥

उस बेचारी को क्या पता था कि उसके प्राणनाथ भी वहीं पास ही खड़े इस विलाप को सुन रहे थे। इस दृश्य के देखने से राजा की जो दशा हुई उसे कवि ने बड़ी कुशल कला से दिखाया है। राजा शोक के प्रवाह को सँभाल न सके कुछ दूर हट कर सिर नीचा कर खड़े रह गए:—

करि बिलाप इहिं भाँति उठाइ मृतक उर लायौ।
चूमि कपोल बिलोकि बदन निज गोद लिटायौ॥
हिय-बेधक यह दृश्य देखि नृप अति दुख पायौ।
सके न सहि बिलगाइ नैंकु हटि सीस नवायौ॥

इसके पश्चात् हरिश्चंद्र काव्य का वह करुण दृश्य आता है जो

संसार के सब से अधिक करुण दृश्यों में गिने जाने योग्य है। हरिश्चंद्र श्मशान चौधरी के सेवक हैं। वे बिना कर लिए दाह होने देना नहीं चाहते। पर उस बेचारी के पास पुत्र को ढकने भर को कफन का वस्त्र भी नहीं है। महाराज अपने सत्य पर दृढ़ हैं। महारानी के इन करुण शब्दों से भी वे चंचल नहीं होतेः—

अंचल फारि लपेटि मृतक फूँकन ल्याई हैं।
हा हा! एती दूर बिना चादर आई हैं॥
दीन्हें कफनहिं फारि लखहु सब अंग खुलत हैं।
हाय! चक्रवर्ती कौ सुत बिन कफन फुकत है॥

अब महाराज की सत्यनिष्ठा तथा दृढ़ता भी देख लीजिएः—

* बेंचि देह हूँ जिहिं सत्यहिं राख्यौ, मन ल्याओ।
इक टुक कपड़े पर, तेहिं जनि आज छुड़ाओ॥
फाड़ि कफन तैं अर्ध बसन कर बेगि चुकाओ।
देखौ चाहत भयो भोर जनि देर लगाओ॥

यह सुनकर महारानी कफन फाड़ने को हाथ बढ़ाती हैं।

द्रौपदी अष्टक में भी पाठकों को करुण रस की सामग्री मिलती है। एक ओर उसकी दशा देख कर हमें शोक होता है दूसरी ओर

---

* एक बार बलिया के हिंदी-प्रेमी कलक्टर के निमंत्रण पर भारतेंदुजी ने अपने नाटक के अभिनय में स्वयं हरिश्चंद्र का अभिनय किया था, दर्शकों में अनेक यूरोपीय सज्जन तथा महिलाएँ थीं। कहते हैं यह अभिनय इतना करुणापूर्ण था कि विदेशी महिलाओं को भी आँसू पोंछ पोंछ कर रूमाल निचोड़ने पड़े थे।

दुःशासन का आचरण हमें क्षुब्ध करता है। तनिक इस बेचारी की निःसहाय अवस्था देखिए:—

पांडु की पतोहू भरी स्वजन सभा में जब,
आई एक चीर सौं तौ धीर सबै ध्वै चुकी।
कहै रतनाकर जो रोइबौ हुतौ सो तबै,
धाड़ मारि बिलखि गुहारि सब र्‍वै चुकी ॥
झटकत सोऊ पट बिकट दुसासन है,
अब तौ तिहारी हूँ कृपा की बाट ज्वै चुकी।
पाँच-पाँच नाथ होत नाथनि के नाथ होत,
हाय हौं अनाथ होति नाथ बस ह्वै चुकी ॥

'नाथ बस ह्वै चुकी' में कितनी वेदना तथा कितना उलाहना छिपा है।

इस विपत्ति में कृष्ण का स्मरण करती हैं। पर यदुराज कह कर पुकारने से वे आते नहीं दीखते तब गोपाल कहकर रोती हैं:—

हारी जदुनाथ जदुनाथ हूँ पुकारि नाथ,
हाथ दाबि कढ़त करेजहि दरेरौं मैं।
देखी रजपूती की सकल करतूति अब,
एक बार बहुरि गुपाल कहि टेरौं मैं ॥

इस प्रकरण को समाप्त करने के पहले एक प्रासंगिक बात पर कुछ विचार कर लेना है। हरिश्चंद्र काव्य का वही प्रसंग है जिसमें रानी अपने पुत्र सहित अपने पति से अलग होकर उपाध्याय के गृह

की ओर जाती हैं। रानी को बिलंब करते देख कौडिन्य क्रुद्ध होता है तथा बालक को अलग झटक देता है:—

पुनि बिलंब जिय जानि क्रूर कौडिन्य रिसायौ।
कह्यौ 'बेगि चलि'' झटकि बालकहिं भूमि गिरायौ॥

अब कौडिन्य के इस क्रोध को क्या रौद्र रस में लिया जाय? पाठकों की सहानुभूति महाराज हरिश्चंद्र के साथ है, वे उनके दुःख से दुखी हो रहे हैं। कौडिन्य के इस व्यवहार से पाठकों को और भी शोक तथा क्षोभ होता है। तथा उसके प्रति घृणा तथा क्रोध उत्पन्न होता है। इसी का आभास कवि ने अपने 'क्रूर' विशेषण से दिया है। यह क्रोध करुणा का संचारी है। कुछ संचारी तो सहायक की भाँति उपस्थित होते हैं कुछ व्याघात उपस्थित कर प्रस्तुत रस धारा को और भी वेग प्रदान करते हैं। काव्य में दोनों प्रकार के संचारियों की आवश्यकता होती है।

वात्सल्य

हरिश्चंद्र काव्य के प्रसंग में एक सुकुमार राजकुमार का उल्लेख हो चुका है। वहाँ सुकुमार वात्सल्य शोक की हृदय विदीर्ण करनेवाली क्रूर तथा प्रचंड तरंगों के घात प्रतिघात के बीच देखा गया था। शोक से पाठकों की आँखें इतनी आर्द्र हो गई होंगी कि वे एक बार आँख भर के उस भोले बालक की ओर लाड़ से देख भी न पाए होंगे। वह दृश्य भुलाया नहीं जा सकता। पर रत्नाकर जी के वात्सल्य के कुछ और उदाहरण देखने के लिए यदि

पाठक भोले बाबा की अद्भुत गृहस्थी की ओर चलें तो अच्छा हो। सहृदय अनेक बार तुलसी तथा सूर के साथ राजा दशरथ के तथा नंद बबा के घर हो आए होंगे। रत्नाकर जी के साथ अब माँ पार्वती के लड़ैते को भी देख लीजिए। बालक का आकार कुछ ऐसा आकर्षक नहीं है। लंबे लंबे कान, हाथी सी सूँड, तथा तोंदवाला पेट। ऐसा बालक भला किसे सुहाने लगा। पर अपनी माँ को वही प्यारा लगता है। विश्वास करिए नीचे को देख कर जब यह बालक आँखें मिचमिचाने लगता है तो कभी कभी शंभु के ओंठ उसका चुंबन करने को फड़कने लगते हैं। देखिए न माँ गिरिजा की गोद में मुँह में लड्डू दबाए वह बैठा है:—

मंजु अवतंसनि पै गुंजरत भौंर-भीर,
मंद-मंद स्रौननि चलाइ बिचलावै है।
कहै रतनाकर निहारि अध चाँप चख,
चूमिबे कौं संभु कौ अधर फरकावै है॥
कुंडलि सुंडिका पसारि अनचीते चट,
कुंडल षड़ानन कौ छ्वै पुनि छपावै है।
दाबे मुख मोदक बिनोद मैं मगन इमि,
गोद गिरिजा की गहे मोद उपजावै है॥

रत्नाकर जी में संयम रखने की अद्भुत कला है। जिस प्रकार वह क्या कहना इसका ध्यान रखते हैं उसी प्रकार क्या न कहना इसका भी। बालक की क्रीड़ा देख कर शंभु उसका चुंबन नहीं करते। यदि ऐसा होता तो कल्पना-धारा चुंबन के साथ ही टकरा

कर अवरुद्ध हो जाती। पर कवि ने इस अवरोध का अवसर ही नहीं उपस्थित किया। चुंबन करने के लिए उनका अधर फड़कने लगता है। बस इसी आनंद की तरंगों के संगम पर पाठक मग्न होता हुआ छोड़ दिया गया है। न चुंबन लिया जायगा न आनंद समाप्त होगा। प्रतीक्षा की मधुर गुदगुदी बनी रहती है।

इस छोटे से बालक को पिता शंकर ने विघ्नों के दमन करने के कठिन काम पर नियुक्त कर दिया है। बेचारा बालक न दिन में चैन पाता है न रात में। सदा इसी काम में लगा रहता है। माँ को यह बात नहीं सुहाती। एक दिन वे स्पष्ट कह देती हैं। "महाराज यदि आपको विघ्नों का नाश इष्ट है तो अपने तृतीय नेत्र को खोल के उनको नष्ट कर डालिए। हमारा लाड़ला तो बेचारा अभी एक ही दाँत का है। वाह! क्या आपने इसीको पड़ा पाया है?"

बिघन बिदारन कौं कुमति निवारन कौं,
टारन कौं जेतौ जग बिपति-पसारौ है।
कहै रतनाकर कहति गिरिजा यौं नाथ,
हाथ परयौ रावरैं गजानन ही बारौ है॥
रैन दिन चैन है न सैन इहिं उद्यम मैं,
दमहू न लेन पावै रंचक बिचारौ है।
जारौ किन कंत नैन तीसरैं दुरंत सबै,
एक दंत ही कौ अबै बालक हमारौ है।

माँ का यह 'अनख' वात्सल्य का संचारी है कोई स्वतंत्र भाव नहीं है।

पर इसमें शंकर का भी उतना दोष नहीं। यह बालक स्वयं भी भक्तवत्सल है। कभी कभी माँ इसे थपकी दे दे के सुलाना चाहती हैं। इतने ही में कोई अनाथ आकर हाथ जोड़ देता है। बस, फिर उतरने को मचलने लगते हैं, माँ की गोदी में रोके नहीं रुकतेः—

केते दुख दारिद बिलात सुंड-चालन मैं,
कसमस हालन मैं केते पिचले पर।
कहै रतनाकर दुरित दुरभाग भागि,
मग तैं बिलग बेगि आसनि चले परैं॥
देखि गननाथ जू अनाथनि कौं जोरे हाथ,
थपकत माथहूँ न नैंकु निचले परैं।
मोदक लै मोद देन काज जब भक्तनि कौं,
गोद तैं उमा के मचलाइ बिचले परैं॥

अपने लाल के कुछ और कर्तव्य देखकर माँ के हृदय में अंदेशा उठता हैः—

ठेले कछु दंत सौं सकेले कछु सुंड माहिं,
मेले कछु आनन गजानन परात हैं।
कहै रतनाकर जगत मैं न रंच कहूँ,
भगत बिघन के प्रपंच दरसात हैं॥
धाइ धाइ पारत फनी के मुख-मंडल मैं,
लाइ लाइ सोऊ जीभ चट करि जात हैं।
उत तौ उमा के उर उठत अनेस इत,
भेस देखि मुदित महेस मुसकात हैं॥

यह 'अंदेशा' भी संदेह संचारी है जो वात्सल्य को पुष्ट कर रहा है। स्नेहपूर्ण मातृ-हृदय की यह स्वाभाविक वृत्ति है। महेश का मुसकराना भी स्मित-संचारी है जो वात्सल्य को पुष्ट करता हुआ आया है। हास्य की योजना प्रायः संचारी रूप में ही होती है। स्वतंत्र रुप से इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। दशरूपक-कार ने कहा भी है कि हास्य की उत्पत्ति शृंगार से होती है। यही सम्मति नाट्याचार्य भरत की है। अब हम रत्नाकर जी के हास्य-रस के कुछ उदाहरणों को देख लें।

हास्य

गंगावतरण में भगीरथ की तपस्या का वर्णन है। जब बहुत दिन बीत गए तो एक दिन ब्रह्मा प्रसन्न होकर वर देने को उनके आश्रम पर गए। जब वर माँगने को कहा गया तो भगीरथ ने कहाः—

असन बसन बर बाम धाम भव-बिभव न चाहैं।
सुरपुर-सुख बिज्ञान मुक्ति हूँ पै न उमाहैं॥
अति उदार करतार जदपि तुम सरबस-दानी।
हम लघु जाचक चहत एक चिल्लू-भर पानी॥

इस 'चुल्लू भर पानी' की माँग को सुनकर ब्रह्मा मुसकराने लगेः—

यह सुनि मृदु मुसुकाइ चतुर चतुरानन भाष्यौ।
धन्य धन्य महि-पाल मही-हित पर चित राख्यौ॥

चतुरानन के पहले 'चतुर' विशेषण देख कर भी यदि कोई इस बात की हठ करे कि ब्रह्मा "चुल्लू भर पानी' का भाव नहीं

समझे तो इन पंक्तियों को देख ले जो उस समय की हैं जब ब्रह्मा दूसरी बार फिर आए थेः—

बद्ध-अंजली देखि भूप बिनवत मृदु बानी।
मुसकाने बिधि आनि चित्त "चिल्लू भर पानी"॥

एक बार शंकर भी भगीरथ के आश्रम पर पहुँचे थे। उस दिन भक्तवत्सलता की उमंग में एक बहुत ही आवश्यक काम छूट गया थाः—

तब तजि अचल समाधि आधि-हर संकर जागे।
निज-जन-दुख मन आनि कसकि करुना सौं पागे॥
आतुर चले उमंग-भरे भंगहु नहिं छानी।
कृपा-कानि बरदान-देन-हित हिय हुलसानी॥

पाठक अभी सुदामा के प्रसंग को भूले न होंगे। उस दिन कृष्ण ने जो बहाना किया था वह हृदय में एक मीठी गुदगुदी तथा मुख पर मंद स्मित उत्पन्न करता है। अपने बाल सखा के लाए हुए चावल चबाना तो इष्ट था। पर यह देख कर कि सत्यभामा इत्यादि आश्चर्य चकित होने लगीं भगवान् ने बहाना बनाया कि हम अभी इस चोर सुदामा के चावल चबा कर इसकी पुरानी चोरी का बदला चुकाए लेते हैं। इसीने न गुरुमाता के दिए हुए चने अकेले चबा लिए थेः—

इत उत हेरि फेरि पीठि-पुटकी पै दीठि,
भरि चुटकी ल उपहार बिप्र-बामा कौ।

कहै रतनाकर चह्यौ ज्यौं मुख मेलन त्यौं,

मेला मच्यो मंजु रिद्धि सिद्धि के हँगामा कौ॥

यौं कहि निघारयौ हंक बिहँसि बिलोकि बंक,

भीषम सुता कौ औ ससंक सत्यभामा कौ।

आपने चने कौ अबै बदलौ चुकाए लेत,

चपल चबाए लेत तंदुल सुदामा कौ॥

चित्रगुप्त की इस घबराहट से भी पाठकों को हँसी की कुछ सामग्री मिल जाती हैः—

चित्रगुप्त कहत पुकारि जमराज सुनौ,

गाफिल ह्वै नैंकु निज गौरव गँवैयौ ना।

कहै रतनाकर कहत मत नीकौ हम,

पथ भगिनी कौं निज पुरकौ दिखैयौ ना॥

ऐसौ कछु ऊधम मचाइहै पधारत ही,

पापिनि कौं पाइ है पछेरि फेरि दैयौ ना।

जैयौ तुम आपु हीं तिलक-हित ताकैं कूल,

भूलि जमुना कौं जमलोक कौं बुलैयौ ना॥

रत्नाकर जी कभी कभी भक्ति के बीच बीच विनोद कर देते हैं। देखिएः—

कमना-बिहीन कबौं नाम ना तिहारौ लेत,

बाम-धन-धाम ही की चेत चित ठाई है।

कहै रतनाकर बिलासनि की आस हियैं,

रहति हुलासनि की हौंस हुमसाई है॥

कामी क्रूर कुटिल कुमारग के गामी इमि,
अजहूँ न नैंकु बिषै-बासना सिराई है।
चाहैं वह धाम जहाँ गनिका सिधाई जऊ,
गाँठि मैं न दाम कछू सुकृत कमाई है॥

कवि कहता है कि मेरे हृदय में विलासों की आशा बनी ही हुई है। पर प्रथम पंक्ति में वह कह चुका है कि मैं 'कामना-विहीन' हूँ। कामना-बिहीन का साधारण अर्थ 'विषयों से विरक्त' होता है। इस अर्थ की 'विलासनि की आस हियैं' से संगति नहीं बैठती, अतः, हमें कामना-विहीन का यह अर्थ लेना होगा कि मेरी कामनाओं की पूर्ति नहीं हो पाती है। आगे चल कर वह अपने को कामी तथा कुमार्ग का गामी कहता है! उसने सुन रखा है कि एक वेश्या भी पुण्यों से वैकुण्ठ सिधारी थी। वह भी वहाँ जाना चाहता है क्योंकि उसे 'बाम' की कामना है तथा 'अजहूँ न नैंकु विषै-बासना सिराई है'। पर गणिका के धाम जाने के लिए गाँठ में दाम चाहिए। यहाँ तो 'गाँठि मैं न दाम कछू सुकृत कमाई है।' सुकृत के ऊपर दाम का आरोप गणिका के ही कारण किया गया है। इस प्रकार कवि की विनोद वृत्ति गंभीर विषय के भीतर भी अपने अनुकूल सामग्री खोज लेती है।

वीभत्स रस

भारतीय कवि परंपरा इस रस की व्यंजना के लिए श्मशान आदि के दृश्य ही उपस्थित करती आई है। आजकल के कुछ

विद्वानों ने इस रस की सीमा विस्तार करने की उद्भावना की है। उनका कहना है कि केवल मांस, दुर्गंधि आदि के प्रति उत्पन्न होने-वाली घृणा ही इस रस के भीतर नहीं आती, सब प्रकार की घृणाओं को इस रस की अधिकार सीमा के अंतर्गत ले लेना चाहिए। पर ये नवीन विद्वान् यदि कुछ गंभीर विचार करने का कष्ट उठाते तो उन्हें पता लग जाता कि इस विशेष प्रकार की घृणा को छोड़ अन्य किसी भी प्रकार की घृणा किसी न किसी रस की संचारी हो जायगी। उदाहरण के लिए शत्रु के प्रति विरक्ति को भी हिंदी में घृणा कह सकते हैं, पर यह विरक्ति वीभत्स रस के भीतर नहीं आ सकती। यह वीर रस के अंतर्गत संचरण अवश्य कर सकती है। नवीन उद्भावना का अवसर जुगुप्सा तथा घृणा को एक ही समझने से प्राप्त हुआ है। पर किसी भी आचार्य ने वीभत्स रस के स्थायी का उल्लेख करते समय जुगुप्सा को छोड़ घृणा अथवा और किसी ऐसे ही शब्द का प्रयोग नहीं किया। इस बात की ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए था। किसी भी रस के स्थायी को आँख बंद करके पकड़ लेने से काम नहीं चल सकता। वर्ण तथा देवता इत्यादि के द्वारा आचार्यों का तात्पर्य समझने का प्रयत्न करना चाहिए। साहित्य-दर्पणकार ने इस रस में लिखा है:—

नीलवर्णो महाकाल दैवतोऽयमुदाहृतः।

नील वर्ण से इस रस की अधिकार सीमा को तामसी वस्तुओं तक ही परिमित कर दिया गया है। महाकाल देवता से श्मशान का

स्पष्ट संकेत मिलता है। इस रस के अंतर्गत वे ही वस्तुएँ आनी चाहिए जो नाश की ओर ले जाती हों। इसके व्यभिचारी अपस्मार, मरण, व्याधि आदि माने गए हैं। ये भी इस रस की अधिकार सीमा का स्पष्ट निर्देश करते हैं। नवीन उद्भावनाएँ करना कोई बुरी बात नहीं है पर उसके लिए क्षेत्र भी तो हो। इसी उद्भावना के फेर में पड़ कर एक विद्वान् ने अपनी रस की भारी भरकम पोथी में जो रस का उदाहरण दिया है वह हास्य रस का हो गया है। उसे भी देख लीजिए और विचार करिए कि इससे जुगुप्सा होती है या हास्य उत्पन्न होता है:—

होतहि प्रात जो घात करै नित रार परोसिन सौं कल गाढ़ी।
हाथ नचावति मूंड़ खुजावति पौर खड़ी रिस कोटिक बाढ़ी॥
ऐसी बनी नखते सिख लौं ब्रजचंद ज्यों क्रोध समुद्र तें काढ़ी।
इट लिए बतरावति भतार सौं भामिनि भौन में भूत-सी ठाढ़ी॥

रत्नाकर जी ने हरिश्चंद्र काव्य में इस रस की अच्छी व्यंजना की है। कवि के कौशल ने दृश्य को अत्यंत सजीव बना दिया है। वर्णन चित्रात्मक होने से रस निष्पत्ति में अधिक सहायता पहुँचाता है:—

कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बुझाई॥
बिबिध रंग की उठति ज्वाल दुर्गंधनि महकति।
कहुँ चरबी सौं चटचटाति कहुँ दह-दह दहकति॥

कहुँ फूकन-हित धरयौ मृतक तुरतहिं तहँ आयौ ।
परयौ अंग अध जरयौ कहुँ कोऊ कर खायौ ॥
कहुँ स्वान इक अस्थिखंड लै चाटि चिचोरत ।
कहुँ कारो महि काक ठोर सौं ठोकि टटोरत ॥
कहुँ सृगाल कोउ मृतक-अंग पर ताक लगावत ।
कहुँ कोउ सव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत ॥
जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लाख परत बगारे ।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ-कहुँ रतनारे ॥

अद्भुत रस

इस रस के अंतर्गत विस्मयजनक वस्तुओं का वर्णन होता है। कवि ने द्रौपदी चीर हरण में इसके भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। दुःशासन चीर खींचते-खींचते थक जाता है पर उसका अंत नहीं आता। वह दृश्य देवताओं तक को चकित करनेवाला था:—

बोलि उठे चकित सुरासुर जहाँ हीं तहाँ,
हा हा यह चीर है कै धीर वसुधा कौ है।
कहै रतनाकर कै अंबर दिगंबर कौ,
कैधौं परपञ्च कौ पसार बिधिना कौ है ॥
कैधौं सेसनाग की असेस कंचुली है यह,
कैधौं ढंक गंग को अभंग महिमा कौ है।
कैधौं द्रौपदी की करुना कौ बरुनालय है,
पारावार कैधौं यह कान्ह की कृपा कौ है ॥

शांत रस

हम कवि की भक्ति विषयक रचनाओं का परिचय 'भक्ति भावना' प्रकरण में प्राप्त करेंगे यहाँ केवल 'शम' के उदाहरणों को देख लें:—

देखै देखि देखन की दीठि दई जाहि दई
इहिं जग जंगम न कोऊ थिर थावै है।
कहै रतनाकर नरेस रंक सूधौ बंक
कोऊ कल नैंकु एक पलक न पावै है॥
ऐसी कछु चपल चलाचल चली है इहाँ
जीवन तुरी पै अति आतुरी मचावै है।
किरन-छटा सौं दिन तरनि ततावै रैनि
बेगि चलिबै कौं चंद चाबुक लगावै है।

फूले-फूले फिरत कहौ तौ तुम कापै अहो
याकी तौ महत्ता सत्ता सब कछु जानो है।
कहै रतनाकर बिडंबना बिचित्र जेती
जीवन के चित्र सौं न अधिक प्रमानी है॥
हाँ सौं नहीं होति औ नहीं सौं होति हाँ है सदा
तातैं हाँ चहैयनि नहीं सौं रुचि मानी है।
इहिं भवसागर मैं स्वास आस ही पै बस
पानी के बबूले-सी थिरानी जिंदगानी है॥

भक्ति-भावना

भक्ति के दो पक्ष हैं उपास्य तथा उपासक। इन्हें हम क्रमशः आलंबन तथा आश्रय कह सकते हैं। भक्ति तथा ज्ञान में महान् अंतर है। ज्ञान में ब्रह्म ज्ञेय रहता है। ज्ञानी जैसे अपने को भी भूल गया हो तथा उस प्रभु को भी भूल गया हो। दोनों पक्ष उसके लिये ज्ञेय हैं। इस ज्ञेय का ज्ञान प्राप्त करने को ज्ञानी साधना की कठिन तथा फिसलनी सीढ़ियों पर बड़े परिश्रम से चढ़ता है। बुद्धि के लिए तो इस प्रकार कुछ ठिकाना मिला। पर हमारे शरीर में बुद्धि तत्त्व का एकतंत्र शासन नहीं। मन अपने प्रभुत्व की घोषणा करता है। साधना काल ही में यह विकट द्वन्द उठ खड़ा होता है। बुद्धि मन का मुँह बंद करना चाहती है। बस, प्रयत्न की, साधना की दिशा ही बदल जाती है। जो साधक ज्ञेय का ज्ञान प्राप्त करने में लगा था वह अब मन को मनाने बहलाने में लग जाता है, वासनाओं के दमन में तत्पर होता है। अब संयम और नियम को महत्व प्राप्त होने लगता है। वह ज्ञेय कुछ धुँधला तथा दूर होने लगता है। एक दूसरी विपत्ति और है। जब बुद्धि मन को मनाने जाती है तो कभी कभी उसी की कहने लगती है। अब साधक और भी उलझन में पड़ता है। पर भक्ति में ये संकट नहीं। भक्त अपनी वासनाओं का दम नहीं घोटना चाहता है। वह उनसे पूछता है कि तुम्हें प्रिय वस्तु ही की न कामना है। हाँ, उत्तर मिलने पर वह उन्हें अनंत सुषमा तथा लावण्य के धाम भगवान् की ओर उन्मुख करता है। सुनते हैं भक्तवर रसखान सर्वप्रथम किसी से यह सुन कर

कि कृष्णचंद्र उनकी प्रेयसी से कहीं अधिक सौंदर्य-संपत्ति विभूषित हैं, भगवान् की ओर आकृष्ट हुए थे। भक्ति की यही प्रणाली है। इसी लिए भक्तों की प्रणाली में भगवान् के लावण्य को सामने उपस्थित करने का इतना आग्रह है। जब एक बार मन उस मोहिनी छवि पर टिक जाता है तो फिर अन्यत्र भटका भटका नहीं फिरता। सभी भक्त कवियों ने भगवान् के स्वरूप-वर्णन को महत्व दिया है। इसी स्वरूप वर्णन के अंतर्गत नेत्र-संचालनादि की विभिन्न मुद्राएँ तथा स्मित आदि अन्य मधुर चेष्टाएँ तथा अन्य लीलाएँ आ जाती हैं। तुलसीदास आदि ने भी जब भगवान् के श्रीचरणों पर अपना आत्मसमर्पण करने का उत्साह किया है तो पहले प्रभु के ललित स्वरूप ही को सामने लाए हैं। नीचे की पंक्तियों को भावना को देखिए:—

ठाढ़े हैं नौ द्रुम डार गहे, धनु काँधे धरे, कर सायक लै।
बिकटी भृकुटी बड़री अँखियाँ, अनमोल कपोलन की छबि है॥
तुलसी असि मूरति आनि हिये जड़ डारि धौं प्रान निछावरि कै।
स्रम-सीकर साँवरि देह लसैं मनौ रासि महातम तारक मै॥

रामलला की ऐसी मूर्त्ति सामने आने पर फिर प्राण न्यौछावर करना भार न प्रतीत होगा। संभवतः मन बुद्धि इत्यादि से सम्मति बिना लिए ही स्वयं यह कार्य कर लेगा। इसी लिए भगवान् का स्वरूप भक्ति का आलंबन हुआ। रत्नाकर जी भी अपनी भक्ति भावना को पुष्ट करने को भगवान् का ललित स्वरूप अनेक बार

सम्मुख लाए हैं। गंगावतरण से गोलोक-स्थित युगल-बिहारी का स्वरूप देखिए:—

नील पीत अभिराम बसन द्युति-धाम धराए।
मनहु एक कौ रंग एक निज अंग अँगाए॥
निज निज-रुचि-अनुहार धरे दोउ दिव्य बिभूषन।
जो तन-द्युति की दमक पाइ चमकत ज्यौं पूषन॥

उर बिलसत सुभ पारिजात के हार मनोहर।
सब लोकनि की फूल-गंध के मूल सुघर वर॥
चारु चंद्रिका मंजु मुकुट छहरत छबि-छाए।
मनहु रतन तन-तेज पाइ सिर चढ़ि इतराए॥

दोउ दोउनि कौं निरखि हरषि आनँद-रस चाखत।
दोउ दोउनि की सुरुचि मूक भावनि सौं राखत॥
दोउ दोउनि की प्रभा पाइ इकरँग हरियाने।
इक-मन इक-रुचि एक-प्रान इक-रस सरसाने॥

इन युगल बिहारी के मुखों पर मंद मुसकान तथा नेत्रों में चारु चंचलता है। भक्त के लिए ये दोनों आलंबन का स्वरूप पूरा करते हैं। उसे भगवान् की ओर उन्मुख करने को ये पर्याप्त सामग्री हैं। वह इनके द्वारा अपने प्रभु के कोमल स्वभाव का कुछ आभास पा जाता है। अभी तक अपने दोषों ही की ओर दृष्टि रखने से वह प्रभु की ओर बहुत मंद गति से चल रहा था। कभी कभी तो उसके पैर आगे बढ़ने के बदले पीछे ही की ओर पड़ने

लगते थे। पर भगवान् के स्वभाव का कुछ परिचय पा जाने से उसे कुछ ढाढ़स हो जाता है। अतः—

मुखनि मंद मुसकानि कृपा-उमगानि बतावति।
चखनि चपलता चारु ढरनि-आतुरा जतावति॥

नंदनंदन तथा वृषभानु नंदिनी के स्वरूप का बहुत ही हृदयहारी वर्णन हिंडोले में भी मिलता है। कुछ पंक्तियां देखिए:—

पीत - नील - पाथोज - बरन मनहरन सुहाए,
कोमल अमल अमोल गोल गातनि छबि छाए।
तरुन-अरुन-बारिज-बिसाल लोचन अनियारे,
रंग रूप जोबन अनूप कैं मद-मतवारे॥
भाय-भेद-भरपूर चारु चितवनि अति चंचल।
बरुनी सघन कोर-कज्जल-जुत लसत दृगंचल।
भृकुटी कुटिल कमान सान सौं परसतिं काननि,
नैंकु मटकि मुरि मूक-भाव के बरसतिं बाननि॥
उनकैं लाज सकोच लोच की कछु अधिकाई,
इनकैं हौस-हुलास-रासि की आतुरताई।
दोउनि की छबि पै दोऊ ललकत ललचौहैं,
पै इक सौंहैं लखत एक करि नैन निचौहैं॥

अंत में नेत्रों की चेष्टाओं के वर्णन से कवि ने छबि को कितना स्पष्ट तथा गोचर कर दिया। मूर्त्ति-सी सामने खड़ी हो जाती है। अनेक फुटकल पद्यों में भी आलंबन का स्वरूप-चित्रण किया गया है। कवि के ऐसे वर्णन अत्यंत कलापूर्ण हुए हैं। चित्रों में चित्रा-

त्मकता तथा सजीवना सदा उपस्थित रहती है। साथ ही कवि भाव पक्ष पर भी दृष्टि रखता है। वह समझता रहता है कि ऐसे वर्णनों की सार्थकता भावुकों के हृदय में भगवान् के प्रति अनुराग जगाने में है। एक वर्णन और देखिए:—

सिंह-पौर सज्जित सौं लज्जित करत काम
नैन अभिराम स्याम जमकत आवै है।
कहै रतनाकर कृपा की मुसक्यानि मढ़्यौ
आनन अनूप चारु चमकत आवै है॥
माते मद-गलित गयंद लौं सु मंद-मंद
चलि चलि ठाम ठाम ठमकत आवै है।
दमकत दिव्य दिपत अनूप-रूप
झाँझरी मुकुट झूमि झमकत आवै है॥

कृष्ण के स्वरूप को पूरा करने के लिए उनकी वंशी का वर्णन भी आवश्यक है। जिस प्रकार भगवान् रामभद्र के उपासक धनुष को अपने प्रभु का अंग ही मानते हैं उसी प्रकार कन्हाई के अनुरागी वंशी बिना ध्यान ही नहीं पूरा मानते। बिना बाँसुरी के कृष्ण की मोहिनी मूर्त्ति अपूर्ण ही सी रह जाती है। इसकी मधुर तान से मुग्ध होकर भक्त आपसे आप उनकी ओर अनायास खिंचा चला जाता है। सभी भक्त कवियों ने इसके प्रभाव का वर्णन किया है। रत्नाकर जी ने भी इसे भुलाया नहीं है। सायंकाल में बन की ओर से नित्य प्रति बाँसुरी बजाते हुए गायों के साथ कृष्ण घर लौटते हैं। दिन भर की प्रतीक्षा के पश्चात् यह दृश्य कुछ अधिक मोहक होता

होगा। सूर की गोपियों ने भी अपनी विरहावस्था में इस दृश्य का स्मरण कुछ विशेष कसक से किया है:—

एहि बिरियाँ बनतें चलि आवते
दूरहिं तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते।

रत्नाकर की गोपियाँ भी गोपाल की प्रतीक्षा में हैं। किसी से सुन लिया है कि वे इसी मार्ग से बीन बजाते हुए फिरेंगे:—

ठाढ़ी अबै चलि होहु कहूँ नतु बीरन भीर मैं पाँव थिरैंगे।
हाट औ बाट अटारिनि के घर द्वारनि के सब ठाम घिरैंगे॥
देखन कौं रतनाकर कौं बस नैंकु मैं एक पै एक गिरैंगे।
धेनु चराइ बजावत बेनु सुन्यौ इहिं गैल गुपाल फिरैंगे॥

इस बाँसुरी का प्रभाव शंकर की इस उतावली से देखिए:—

बैठे भंग छानत अनंग-अरि रंग रमे,
अंग-अंग आनँद-तरंग छबि छावै है।
कहै रतनाकर कछूक रंक ढंग औरै,
एकाएक मत्त ह्वै भुजंग दरसावै है॥
तूँबा तोरि साफी छोरि मुख बिजया सौं मोरि,
जैसै कंज-गंध पै मलिंद मंजु धावै है।
बैल पै बिराजि संग सैल-तनया लै बेगि,
कहत चले यौं कान्ह बाँसुरी बजावै है॥

प्रिय के संपर्क से प्रेमी को उसकी प्रत्येक वस्तु के प्रति एक अनोखा मोह हो जाता है। उसकी मुद्राएँ, उसके वेश इत्यादि में अनिर्वचनीय आकर्षण प्रतीत होने लगता है। यही नहीं जिस स्थान

अथवा नगर का वह होता है उसके भी नाम में एक अनोखा लावण्य प्रतीत होता है। मानों प्रिय की छवि उसी में न समा कर उसके चारो ओर अपना प्रसार करती है। कुछ ऐसी ही बात भक्ति में है। भक्ति यद्यपि श्रद्धा से प्रारंभ होती है पर उससे बहुत आगे जाती है। श्रद्धा की अवस्था में प्रतीत होती हुई दूरी तथा संकोच को प्रेम की स्निग्धता मिटा देती है। भक्ति की ऊँची सीढ़ियों पर पहुँचा हुआ भक्त कुछ ढीठ होने लगता है। तात्पर्य यह कि भक्ति तथा प्रेम में कोई ऐसा तात्विक भेद नहीं रह जाता। अतः हम कह सकते हैं कि भक्त के लिए प्रिय की निवास भूमि केवल श्रद्धा ही का आलंबन नहीं रह जाती उसकी और भी सुकुमार वृत्तियों—जिनका संचालन राग विराग की वृत्तियाँ ही करती हैं—का आलंबन बन जाती है। इसका निदर्शन भक्तों की वे प्रेम-भरी उक्तियाँ हैं जो उन्होंने अपने इष्ट की निवास भूमि के प्रति कही हैं। तुलसी की इन पंक्तियों से चित्र कूट के प्रति कैसा अनुराग व्यंजित होता है:--

अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।

कोपित कलि लोपित मंगल मगु बिलसत बढ़त मोह माया मलु॥

चित्रकूट के प्रति इस उमंग का कारण भी तुलसी ही के शब्दों में सुनि लीजिए:—

भूमि बिलोकु रामपद अंकित

बन बिलोकु रघुबर-बिहार-थलु।

रत्नाकर के हृदय में भी व्रजभूमि के प्रति अनुराग है। व्रज-वासी—गोप तथा गोपियाँ—कृष्ण के वियोग में तड़प रहे हैं। वहाँ से

मधुपुरी कुछ बहुत दूर नहीं है। पर वृंदावन की धूल के कण कण से उन्हें इतना छोह है कि कन्हैया से भी मिलने को वे उसे छोड़ कर नहीं जाना चाहते। भला प्यारे वृंदावन को छोड़कर श्याम से भी मिलने को वे अन्य धाम कैसे जा सकती हैं:—

जद्यपि न दूरि मधुपुरि कछु श्रीबन तैं
　　　　अरग न तौहूँ एक परग सिधैहैं हम।
कहै रतनाकर बियोग-ज्वाल-जालनि मैं
　　　　जरि बस बृंदाबन-रज मैं बिलैहैं हम॥
तन की कहै को मन प्रान आतमा हूँ सबै
　　　　याही के कनूका पै तिनूका लौं लुटैहैं हम।
जौ हूँ ब्रजवासी प्रेम पद्धति उपासी तऊ
　　　　अन्य धाम स्याम हूँ सौं मिलन न जैहैं हम॥

इस ब्रजभूमि का महत्व इन पंक्तियों में देखिए:—

दूरि करिबे कौं तन मन कौ मलान सबै
　　　　आयौ इहिं ओक आप तीन लोक-त्राता हूँ।
कहै रतनाकर रुचिर रुचिकारी जाहि
　　　　जानैं संभु-सहित गजानन की माता हूँ॥
आइ इहिं घाट पै धुवाइ पट मानस कौ
　　　　होत सुचि स्वच्छ संतहू मैं सूम दाता हूँ।
ऐसौ देखि पातक पखारन कौ यामैं खार
　　　　ब्रजरज संचि बन्यौ रजक बिधाता हूँ॥

यहाँ तक तो उपास्य के बाह्य आकर्षण की बात हुई। वास्त-

विक सौंदर्य के बहिरंग तथा अंतरंग तो स्वरूप होते हैं। आंतरिक सौंदर्य का दूसरा नाम शील है। सौंदर्य की पूर्णता बाह्य तथा आभ्यंतर आकर्षण के समुचित योग में है। यदि स्वभाव आकर्षक नहीं तो बाह्य आकर्षण व्यर्थ है। भगवान् रामचंद्र तथा कृष्णचंद्र में हमें दोनों सौंदर्यों का पूर्ण योग मिलता है। उनका बाह्य स्वरूप बरबस भक्तों को अपनी ओर कर लेता है तथा उनका शील-सौंदर्य भी भावुक भक्तों के हृदयों को अपने हाथों में कर लेता है। कृष्णचंद्र के शील-सौंदर्य की योजना गजेंद्रमोक्ष, सुदामाचरित्र तथा द्रौपदी चीर-हरण इत्यादि वर्णनों में की गई है। इन तीनों प्रसिद्ध कथाओं पर तीन अष्टक हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य रचनाओं के द्वारा भक्तवत्सल भगवान् के शील का आभास दिया गया है। यह कहने की कौन आवश्यकता है कि यहाँ शील के अंतर्गत भक्त वत्सलता को भी लिया गया है। अपने जनों की आर्त पुकार सुनकर भगवान् कैसे व्यग्र होकर उतावली से पहुँचते हैं:—

सेद-कन सारत सँभारत उसास हू न,
बास हू बदलि पट नील कँधियाए हौ।
कहै रतनाकर पछाए पच्छिनायक की,
पढ़त पुकार हू कैं पार अगुवाए हौ॥
बाएँ पंचजन्य जात बाजत बजाएँ बिना,
दाएँ चकरात चक्र बेग यौं बढ़ाए हौ।
कौन जन कातर गुहार लगिबे कैं काज,
आज इमि आतुर गुपाल उठि धाए हौ॥

इतनी शीघ्रता से जाने पर भी यदि भक्त को कुछ भी कष्ट हो गया तो अपना ही अपराध समझते हैं। देखिए गजराज का शरीर अपने पीतांबर से कैसे अँगोछ रहे हैं:—

सुंड गहि आतुर उबारि धरनी पै धारि,
बिबस बिसारि काज सुर के समाज कौ।
कहै रतनाकर निहारि करुना की कोर,
बचन उचारि जो हरैया दुःख-साज कौ।
अंबु पूरि दृगनि बिलंब आपनोई लेखि,
देखि देखि दीह छत दंतनि द्राज कौ।
पीत पट लै लै कै अँगोछत सरीर कर,
कंजनि सौं पोंछत भुसुंड गजराज कौ॥

देखिए गजराज की दशा देखकर आप की क्या दशा हो रही है:—

पच्छीपति पौन चंचला सौं चख चंचल सौं,
चित्त हूँ सौं चौगुने चपल चलि राह मैं।
बारन उबारि दसा दारुन बिलोकि तासु,
डुबकन लागे आप करुना-प्रबाह मैं॥

भक्त गजराज को अपने भगवान् की यह दशा देख कर और भी कष्ट हुआ। उसने प्रभु से कहा कि यदि हम जानते कि आपकी ऐसी दशा होगी तो एक की क्या कोटि प्राणों को सुख से न्यौछावर कर देते पर आप को कभी न पुकारते:—

ढारै नैन नीर ना सँभारै साँस संकित सो,
जाहि जोहि कमला उतारयौ करै आरते।

कहै रतनाकर सुसकि गज साहस कै,
भाष्यौ हरैं हेरि भाव आरत अपारते ॥
तन रहिबे कौ सुख सब बहि जैहै हाय,
एक बूँद आँस मैं तिहारे जो बिचारते।
एक की कहा है कोटि करुनानिधान प्रान,
वारते सचैन पै न तुमकौं पुकारते ॥

एकबार कवि ने भी भगवान् के स्वभाव की इस कोमला को ध्यान में न रखकर उन्हें पुकारा। पर कवि को अपनी सुनाने के बदले प्रभु की ही मनुहार करनी पड़ीः—

जानत हूँ तुमकौं अजान बनि टेरयौ हाय,
अब सो अजानता की ग्लानि गरिबौ परयौ।
कहै रतनाकर हराँस के हरैया रंच,
आँस औ उसास हूँ सँभारि भरिबौ परयौ ॥
पाई आप पीर जो अधीरता हमारी हेरि,
देखि कै अधीर तुम्हैं धीर धरिबौ पर्यौ।
आप तौ हमारे मनुहार कौं पधारे पर,
उलटौ हमैं ही मनुहार करिबौ पर्यौ ॥

इसी संकोच से भक्त अपने प्रभु को कभी अपनी वेदना ही नहीं सुनाताः—

धीर बहि जात्यौ नैन-नीर मैं तिहारै जौ न,
तौ पै चीर पकरि कछूक कहते सही।

एकबार द्रौपदी पर भी विपत्ति पड़ी थी। बेचारी ने 'जदुनाथ'

'जदुनाथ' कहकर पुकारा पर आने में कुछ विलंब हुआ। तब उसने उसी प्यारे गोपाल नाम से टेरने का विचार कियाः—

हारी जदुनाथ जदुनाथ हूँ पुकारि नाथ,
हाथ दाबि कढ़त करेजहिं दरेरों मैं।
देखी रजपूती की सकल करतूति अब,
एक बार बहुरि गुपाल कहि टेरौं मैं॥

राजा महाराजा योंहीं सब की पुकार पर नहीं दौड़ पड़ते। वहाँ तो व्यवस्था की विधियों के अनुसार अपनी प्रार्थना पहुँचानी पड़ती है। संभवतः इसी लिए यदुनाथ पुकारने का कुछ फल न हुआ। पर प्रभु अपने प्रेमियों की लाड़भरी पुकार की उपेक्षा नहीं कर सकते। वे प्रेमी भी न जाने क्यों कुछ छोटे ही से नाम से टेरते हैं। देखिए यदुनाथ ने जब दीन द्रौपदी को आर्त वाणी में गोपाल नाम से पुकारते सुना तो उनकी क्या दशा हुईः—

दीन द्रौपदी की परतंत्रता पुकार ज्यौंहीं,
तंत्र बिन आई मन-जंत्र बिजुरीनि पै।
कहै रतनाकर त्यौं कान्ह की कृपा की कानि,
आनि लसी चातुरी-बिहीन आतुरीनि पै॥
अंग पर्‌यौ थहरि लहरि दृग रंग पर्‌यौ,
तंग पर्‌यौ बसन सुरंग पँसुरीनि पै।
पंचजन्य चूमन हुमसि होंठ वक्र लाग्यौ,
चक्र लाग्यौ घूमन उमगि अँगुरीनि पै॥

भगवान् को अपने भक्तों पर इतना छोह है कि उनके लिए

अपनी प्रतिज्ञा भी भंग कर देते हैं। सरकार ने बड़ी शान से महा-भारत के युद्ध में अस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी। पर भक्त शिरो-मणि भीष्म ने उधर प्रभु की प्रतिज्ञा भंग करा देने की प्रतिज्ञा कीः-

कैतौ प्रीति-रीति की सुनीति उठि जाइगी कै,
आज हरि-प्रन की प्रतीति उठि जाइगी।

इतनी कठोर प्रतिज्ञा 'प्रीति-रीति' के भरोसे की गई। अब या तो भक्त की प्रतिज्ञा भंग होती या प्रभु की। दोनों को प्रतिज्ञाओं का एक साथ निर्वाह हो ही नहीं सकता था। भगवान् यह कब सह सकते थे कि उनके भक्त की बात जाय। पर अपनी बात जाने में मर्यादा-भंग के अतिरिक्त लोक-हँसाई की भी आशंका थी। पर भगवान् इन सब के लिए प्रस्तुत हुए। लोग हँसे ही होंगे। और तो और स्वयं भीष्म के मुँह पर मंद हँसी आ गईः—

जाकी सत्यता मैं जग-सत्ता कौ समस्त तत्व,
ताके ताकि प्रन कौं अतत्त्व अकुलाए हैं।
कहै रतनाकर दिवाकर दिवस ही मैं,
झंप्यौ कंपि झूमत नछत्र नभ छाए हैं॥
गंगानंद आनन पै आई मुसकानि मंद,
जाहि जोहि वृंदारक-वृंद सकुचाए हैं।
पारथ की कानि ठानि भीषम महारथ की,
मानि जब बिरथ रथांग धरि धाए हैं॥

कवि अनेक भावों को थोड़े से चुने हुए शब्दों के द्वारा व्यंजना करता है। प्रभु को अपनी प्रतिज्ञा तोड़ते देख कर भीष्म

के हृदय में जितने भाव उठे सब को बड़े संयम से केवल एक पंक्ति में कहा है:—

गंगानंद आनन पै आई मुसकानि मंद,

भीष्म के लिए गंगानंद शब्द का प्रयोग यों ही नहीं किया गया है। यह भी एक विशेष व्यंजना में सहायक हो रहा है। भीष्म ने अपने पिता शांतनु-तथा माता गंगादेवी का नाम लेकर शपथ पूर्वक प्रतिज्ञा की थी। कहा था कि यदि हरि से अस्त्र ग्रहण न करवा दूँ तो माता गंगा का पुत्र नहीं। भीष्म की प्रतिज्ञा-पूरी हुई। अब उनका 'गंगानंद' नाम चरितार्थ हुआ। अतः कवि लिखता है:—

गंगानंद आनन पै आई मुसकानि मंद,

क्या यह मुसकान अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होने तथा प्रभुकी प्रतिज्ञा टूटने से आई ? संभव है ऐसा ही हो। पर भावुकों को तो यह मानने में अधिक आनंद है कि प्रभुकी भक्तवत्सलता से भीष्म का मुखकमल सहज विकसित हो गया।

पीछे से चलने वाला प्रसंग प्रभु के स्वभाव की उन विशेषताओं को दिखाने को था जिनसे प्रभावित होकर भक्त भगवान् की ओर उन्मुख होते हैं। रत्नाकर जी ने भगवान् की कृपा पर विशेष रूप से लिखा है। भक्त मानते हैं कि जिस प्रकार जन भगवान् के लिए उत्सुक होते हैं उसी प्रकार भगवान् भी अपने जनों के योग-क्षेम के लिए उत्सुक रहते हैं। जैसे माता अपने शिशुओं के प्रति अनुराग रखती है उसी प्रकार भगवान् अपने भक्तों के प्रति। वैष्णवों का यह विश्वास है कि भक्तों का परम कल्याण भगवान् के

अनुग्रह पर ही निर्भर है। यह विश्वास केवल 'पुष्टिमार्ग' की अपनी संपत्ति नहीं। यह तो भक्तों का एक मात्र आधार है। तुलसीदास ने राम के नाम का बहुत महत्व बताया है। यहाँ तक कि राम से भी अधिक राम नाम को कहा है।

रत्नाकर जी ने उसी प्रकार भगवान् की कृपा शक्ति का गुणगान किया है। भगवान् अपनी कृपा की बान को स्वयं भी अपने वश में नहीं कर पाते हैं। शुभाशुभ कर्मों की समुचित व्यवस्था के लिए तथा न्याय के सत्य सिद्धांतों का पालन करने के लिए भगवान् कृपा को दबाना चाहते हैं। पर वह अपने प्रभु की सुनती ही नहीं। उधर भक्त ढीठ होकर कहता है कि प्रभु जब तक आप कृपा करना न छोड़ेंगे तब तक हम पाप करना भी नहीं छोड़ सकते। भला जब पाप ही न होंगे तो कृपा व्यर्थ ही न हो जायगी। भक्त नहीं चाहता कि भगवान् की एक विशेषता यों ही रह जायः—

ऐते बड़े नाथ हूँ न हाथ करि पावैं जाहि,
ताकौ वार हाय हमवार किमि आड़ैंगे।
कहै रतनाकर न हम हमता मैं आइ,
ऐसे मन प्रबल-प्रभाइ सौं बिगाड़ैंगे।।
निज करनी-फल के बिफल सहारे कहा,
रावरौ भरोसौ-तरु कामद उजाड़ैंगे।
छाड़ैंगे न कान्ह आप जब लौं कृपा की कानि,
तौ लौं बानि हमहूँ कुठानि की न छाड़ैंगे।।

यह 'कृपाबानि' जनों को ढीठ कर देती है। फिर वे कुछ

अकार्य भी कर डालते हैं। इसमें बेचारे भक्तों का क्या दोषः—

निज बल प्रबल-प्रभाव कौ भरोसौ थापि,
और सब भावनि कौं निदरि भजावै है।
कहै रतनाकर तिहारे न्यावहू कौ ध्यान,
ताके अभय-दान-आगैं आवन न पावै है॥
तापै हमहीं कौ तुम दोषिल बतावत हौ,
तातैं बिलखात यह बात कहि आवै है।
राखौ रोकि आपनी कृपा जौ कह्यौ मानै नीठि,
ढीठ हमकौं जो करि अकर करावै है॥

कभी कवि बड़े भोले ढंग से पूछता हैः—

निज रचना के उपजोग की तुम्हैं जौ चाह,
तौ न निरबाह मैं हमैं हूँ कठिनाई है।
मान्यो मरजाद सबै आपनी रचाई पर,
यह तौ बतावौ कृपा कौन की बनाई है॥

पर भक्त भगवान् से इस कृपा की भीख भी नहीं मागना चाहता। वह कहता है कि आपने न तो जन्म देते समय किसी से पूछा न मनुष्य बनाते समय किसी की सम्मति ली। ऐसे अनेक कार्य अपनी स्वतंत्र इच्छा से स्वयं किए। अब कृपा करने के लिए दास से क्यों कुछ कहवाना चाहते हैं। अब स्वयं ही कृपा करिएः—

कौन की बिनै पै जग जनम दियौ है नाथ,
कौन की बिनै पै पुनि मानुष बनायौ है।

कहै रतनाकर त्यौं कौन के कहे पै कहौ,
चित सुख-चाव कौ सुभाव उपजायौ है ॥
ऐतौ सब कीन्यौ आपनी ही मनसा सौं आप,
काहू कैं अलाप औ न चाप उकसायो है।
अब क्यौं कृपाल कृपा-ढार ढरिबे की बार,
चाहत कछूक हाय हम सौं कहायौ है॥

अतः यही अच्छा है किः—

तातैं बिना कारन कृपा के उद्गारनि मैं,
तुमहूँ अनंद लहौ हमहूँ सुखी रहैं।

जब भक्त नियम, व्रत, संयमादि कर लेगा तब तो वह कृपा का पात्र हो ही जायगा। इसमें प्रभु का कौन निहोरा? वह कृपा तो सकारण न होगी। पर भक्त चाहता है कि भगवान् को अकारण कृपा करने का आनंद प्राप्त हो। इसी से वह दुःख पड़ने पर भी अपने गोपाल या राधा को नहीं पुकारताः—

दुखहू परे पै ना पुकारत गुपाल तुम्हैं,
कबहूँ उचारत उसास भरि राधा ना।
कहै रतनाकर न प्रेम अवराधैं रंच,
नेम व्रत संजम हू साधैं करि साधा ना॥
याही भावना मैं रहैं भभरि भुलाने कहूँ,
उभरि करेजैं परै करुना अगाधा ना।
अकथ अनंद जो अकारन कृपा कौ नाथ,
हाथ करिबै मैं तुम्हैं ताहि परै बाधा ना॥

इतनी सब बातें भक्त अपने लिए नहीं कहता है। उसे अपने निस्तार की उतनी चिंता ही नहीं है। दूसरे उसकी प्रकृति ही दूसरे का एहसान लेने की नहीं है। पर भक्त की दुर्दशा से प्रभु की ही हेठी होती है। उससे यह नहीं सहा जाताः—

फिकिर नहीं है कछु आपनी बिसेष हमैं,
प्रकृति हमारी अहसान चहती नहीं।
कहै रतनाकर पै रावरे कहावत हैं,
तातैं यह हेठता तिहारी सहती नहीं॥
यातैं करि साहस पुकारि कै चिताए देत,
रावरी कृपा जौ नाथ हाथ गहती नहीं।
तौपै करुना-निधान सान सोम-बंसिनि की,
आन भानु अंसिनि की आज रहती नहीं॥

तुलसीदास भी भगवान् की 'लज्जा' की रक्षा ही के लिए चिंतित थे। उन्हें भी कुछ अपनी नहीं पड़ी थीः—

कृपासिंधु ताते रहौं निसि दिन मन मारे।
महाराज लाज आपुही निज जाँघ उघारे॥

भगवान् की करुणा तथा भक्तवत्सलता के भरोसे भक्त भगवान् की ओर बढ़ता चलता है। पर उसे रह-रह कर अपने पापों का भी ध्यान आता है। अनुराग प्रभु तथा सेवक के बीच की दूरी कम करता जाता है। ज्यों-ज्यों प्रभु पास आते जाते हैं भक्त को अपने पाप उतने ही अधिक प्रतीत होने लगते हैं। नंगे पैरों धूल भरे मार्ग में यात्रा करने वाले पथिक को अपने पैरों के मैले

होने का सबसे अधिक ध्यान उसी समय होता है जब वह निर्मल चाँदनी से आच्छादित किसी बिछौने पर पैर रखने को होता है। प्रभु की निर्मलता के प्रकाश में भक्त को अपने दोष अधिक स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक बात और। ज्यों-ज्यों प्रभु प्रिय लगने लगते हैं त्यों-त्यों उन्हें पाने, उन्हें अपना बनाने या उनका अपना बनने, की कामना बढ़ती जाती है। अब भक्त उनके विना जैसे रहा नहीं सकता। उसे डर लगता है कि कहीं उसके पाप प्रभु के पास पहुँचने में बाधा न उपस्थित करें। कहीं प्रभु पापों को देखकर मुँह न फेर लें। अनुरागी भक्त अत्यंत कातर हो उठता है। पर किया क्या जाय? क्या प्रभु से दुराव संभव है? कभी नहीं। भक्त साहस कर के अपने पापों को प्रभुके सम्मुख निवेदन करता है। यदि प्रभु दण्ड देना चाहें तो भी वह शिरोधार्य करने को प्रस्तुत हो जाता है। पर इतना वह तब भी चाहता रहता है कि प्रभु उसे अपना समझते रहें। अत्यंत दीन वाणी से आँखें नीची करके प्रभु के चरण कमलों पर दृष्टि जमाकर वह पुकार उठता है:—

जैसो हौं तैसो हौं राम रावरौ हौं।

वह अपने को सब से बड़ा पापी समझता है। अपने-सा 'कुटिल खल कामी' किसी को समझता ही नहीं। तुलसीदास जी कहते हैं कि मेरे पापों की तो गणना ही नहीं हो सकती:—

तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं।
जौ जमराज काज सब परिहरि यही ख्याल उर अनिहैं॥

रत्नाकर जी ने तो इसी भरोसे एक युक्ति निकाली है। वे

पापियों को यमराज के यहाँ यह सिखा कर भेजना चाहते हैं कि वे वहाँ जा कर यह कहें कि सब से पहले हमारे सरदार 'रत्नाकर' के पापों की गणना होनी चाहिए। पापियों के सरदार रत्नाकर के पापों की गणना होते होते युगों की अनेक चौकड़ियाँ बीत जायँगी। बस और पापियों की जांच की पारी ही नहीं आवेगी:—

एहो बीर पातकी अधीर जनि होहु सुनौ,
यह तदबीर भीर रावरी भजावैगी।
भाषैं यहै आगैं हूँ अभागे हमसौं जो जाहिं,
याही एक बात घात सकल बनावैगी॥
पहिलैं हमारे सरदार रतनाकर कौ,
पातक - अपार - परतार पार पावैगी।
जैहैं बस चौकड़ी अनेक जुगवारी बीति,
पारी फेरि जाँच की तिहारी नाहिं आवैगी॥

आधुनिक विधान के अनुसार प्राप्त संशय की सुविधाओं से भी वे लाभ उठाना चाहते हैं:—

केते मनु-अंतर निरंतर व्यततीत ह्वैहैं,
केती चित्रगुप्त जम औधि उटि जाइगी।
कहै रतनाकर खुल्यौ जो पाप-खाता मम,
तौ गनि बिधाता हू की आयु खुटि जाइगी।
जैहै बाँचि-बूझि अबकी ना लिपि भाषा नैंकु,
औरै पाप पुन्य-परिभाषा जुटि आइगी॥

लाहु लहि संसय कौ संसय बिना ही बस,

पापिनि की मंडली अखंड छुटि जाइगी।

कभी कभी कवि अपने को कर्त्ता ही मानना नहीं चाहता। वह कहता है कि घट-घट में आपही हो। जैसा नाच आपने नचाया वैसा ही बेचारा जीव नाचता रहा। अब आपने यह पाप-पुण्य का क्या बखेड़ा खड़ा किया:—

सोई सो किए हैं जो जो करम कराए आप,

तिनपै भले की और बुरे की छाप छापौ ना।

कहै रतनाकर नचाइ चित चाह्यौ नाच,

काच-पूतरी पै गुन दोष आप आपौ ना॥

खोटे खरे भेद औ प्रभेद धरि राखौ उतै,

बिबस बिचारे पै वृथा ही थाप थापौ ना।

थापौ जहाँ भावै तुम्हैं थापिबौ हमैं पै नाथ,

माथ पै हमारे पाप-पुन्य-थाप थापौ ना॥

यदि पाप पुण्य के अनुसार ही फल मिलेगा तो नाथ आप सर्वशक्तिमान क्यों कहलाते हो:—

भाग अरु कर्म ही कौ धर्म राखिबौ जौ हुतौ,

तौपै धरी सीस कहौ सर्व-सक्तिताई क्यौं।

जौ पै नाथ रावरी कृपा मैं ना समाई हुती,

ऐती ठकुराई ठानि ठसक बढ़ाई क्यौं॥

पर प्रभु की कृपा भी भक्त यों ही लेना नहीं चाहता है। वह कहता है कि अपना समझ कर चाहे कृपा करिए चाहे क्रोध। पर

दूसरा समझ कर जो कृपा करनी हो उसे अपने पास रख छोड़िए। संभवतः रत्नाकर की जितनी प्रभु का अपना बनने की कामना है उतनी प्रभु की कृपा पाने की नहीं:—

आपनौ हीं जानि कृपा कोप जो करौ सो करो,
आन मानि धारौ तो कृपाहू रंच धारौ ना।

आखिर भक्त की चाह क्या है? वह अपनी कामना को एक युक्ति से सिद्ध करना चाहता है। वह कहता है कि प्रभु मेरा तो किसी भी लोक में ठिकाना नहीं है। यदि अपने अगणित घोर पापों को लिए दिए मैं यमलोक जाऊँ तो वहाँ समा ही नहीं सकता। यदि पापों का नाश कर दीजिएगा तो मैं यमलोक जा ही नहीं सकता। और मेरे स्वर्ग जाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि वहाँ तो धर्मात्मा ही जा पाते हैं और मैं ठहरा घोर पापी। ऐसी कठिन अवस्था में यही उचित होगा कि जब तक मेरे योग्य कोई नया लोक न बन जावे तब तक मैं आपके द्वार पर अमानत रूप में पड़ा रहूँ:—

जाउँ जम-गाउँ जौ समेत अपराधनि के,
तौ पै तिहिं ठाउँ ना समाउँ उबरयौ रहौं।
कहै रतनाकर पठावौ अघ-नासि जु पै,
तौ पै तहाँ जाइबे की जोगता हरयौ रहौं॥
सुकृत बिना तौ सुर-पुर मैं प्रबेस नाहिं,
पर तिन तैं तौ नित दूर ही टरयौ रहौं।
तातैं नयौ जौ लौं ना निवास निरमान होइ,
तौ लौं तब द्वार पै अमानत परयौ रहौं॥

पर संभवतः उस द्वार पर एक बार पहुँच कर और आगे जाने का कवि का विचार ही नहीं है। वह तो चाहता है कि प्रभु का होकर चाहे भवसागर ही में चक्कर काटता रहे। इतने साधकों ने साधना कर के परम पद प्राप्त कर लिया। तब क्या कवि ही प्रयत्न करने पर न तर जाता। पर यहाँ तो पार जाने की कामना ही नहीं है। भक्त भगवान् पर अनुरक्त होकर मोक्ष इत्यादि की ओर से निस्पृह हो जाता है:—

लेते गांह तूमड़ी अनेक एक की को कहै,
सॉसनि के सासन सौं नैंकु डरते नहीं।
कहै रतनाकर बिधान तरिबे के आन,
जेते ध्यान माहिं तिनहूँ सौं टरते नहीं॥
हाथ पाय मारते बिचारते उपाय सबै,
एतनि मैं हमहीं कहा धौं तरते नहीं।
होतौ चित चाव जौ न रावरे कहावन कौ,
भाँवरे भवांबुधि मैं भूलि भरते नहीं॥

जब केवल एक अपने प्रभु ही से नेह नाता है तो फिर पार जाने की कामना किस लिए की जावे:—

एक तुमही सौं तौ सकल नेह नातौ बस,
और की न जानत न मानत सगाई हम।
कहै रतनाकर सुवार पार धार हू मैं,
सोई तुम्हैं देखत अपार सुखदाई हम॥

जानते जौ काहू जानकार दूसरे के कहैं,
पार जान ही मैं कछु अधिक भलाई हम।
जप-तप-साधन दुसाध की कमाई करि,
देते मनभाई तुम्हैं नाथ उतराई हम॥

ज्यों-ज्यों अपनाइत बढ़ती जाती है भक्त कुछ-कुछ ढीठ होता जाता है। तुलसीदास ऐसे विनीत भक्त भी 'पूतरो' बाँधने को प्रस्तुत हो गए थे। भगवान् को भी यह कुछ रुचता ही है। अपने को दूर-दूर रखनेवाले सेवकों से प्रभु को उतना आनंद प्राप्त नहीं होता। वे कभी उपालंभ सुनना चाहते हैं कभी फटकार। छोटे बालकों की ढिठाई देख कर भृकुटी तनेनी करने का प्रयत्न करती हुई भी जननी अपनी मुस्कान को कहाँ रोक पाती है। इसमें भी एक संतोष है। रत्नाकर जी ने भी कभी-कभी प्रभु से मान किया है। वे कहते हैं कि प्रभु आप सदा अपने भक्तों का पक्षपात करते रहे। यह पक्षपात न्याय विधान के अनुकूल नहीं है। ऐसी अवस्था में आपकी ठकुराई में रहना संभव नहीं:—

उदर बिदारयौ हरिनाकुस कौ केहरि ह्वै,
जन प्रहलाद परयौ देखि कठिनाई मैं।
कहै रतनाकर रिषीस दुरबासा सीस,
बिपति ढहाई अंबरीष की हिताई मैं॥
बिग्रह बिलोकि ग्राह निग्रह कियौ है धाइ,
गहरु न लाई गज-उग्रह कराई मैं।

भाई तुम्हैं भकनि की एती पच्छताई तौ पै,
नाथ ना रहाई अब तव ठकुराई मैं ॥

कवि के अनुसार भक्ति का आदर्श क्या है ? वही जो सब अनुरागी प्रेमियों का होता है । प्रेमी प्रियमय हो जाता है । उसी का स्मरण करता है उसीका नाम जपता है । उसीकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है । बुद्धि उसी का विचार करती रहती है हृदय उसी का ध्यान । कवि की भावना भी यही है:—

नेह की निकाई नित छाई अंग - अंग रहै,
उठति उमंग रहै अमित अनंद की ।
कहै रतनाकर हिये मैं रस पूरि रहै,
आनि ध्यान-मनि मैं मरीचैं मुखचंद की ॥
राँची रसना मैं आठौं जाम मधुराई रहै,
ताके नाम रुचिर रसीले गुलकंद की ।
प्रेम-बूँद नैनानि निमूँद नित छाई रहै,
लाई रहै ललित लुनाई नँदनंद की ॥

उस प्रिय की प्राप्ति में यदि विलंब है तो रहे । भावुक तो उसके वियोग के दिनों को भी सौभाग्य से ही प्राप्त हुआ समझते हैं । उसके वियोग में जलने का सौभाग्य भी तो कम भाग्यवानों ही को प्राप्त होता है । यह वियोग प्राप्त हो गया तो फिर पंचाग्नि आदि आडंबरों की क्या आवश्यकता रह गई ? यदि प्रेम-रत्नाकर की एक बूँद भी प्राप्त न हुई तो जीवन व्यर्थ है । यदि यह प्राप्त हो गई तो

फिर वियोग तो बिना माँगे ही मिला समझिए। और यदि यह प्राप्त हो गया तो फिर बचा ही क्या ? :—

गहकि गह्यौ ना गुन रावरौ गुनी जो गुनि,
सो पुनि गहीलौ गुन-गौरव गह्यौ कहा।
बूँदहू लही ना तव प्रेम रतनाकर की,
लाहु तौ अलाहु लहि जीवन लह्यौ कहा॥
रंचहू दह्यौ ना तो बिछोह-दुख दाहनि जो,
सो करि प्रपंच पंच पावक दह्यौ कहा।
जान्यौ तुम्हैं नाहिं सो अजान कहा जान्यौ आन,
जान्यौ तुम्हैं ताहि आन जानन रह्यौ कहा॥

भगवान् के सिपुर्द अपने को करके भक्त अपने भविष्य के विषय में फिर निश्चिंत हो जाता है:—

ह्वैहै हठि सोई जो तिहारैं मन भैहै नाथ,
भैहै तुम्हैं सोई तौ हमारौ हित ह्वैहै जो।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि इनके भक्ति के उद्‌गारों में भक्तोचित कोमलता की मात्रा कितनी है। क्या इनकी भक्ति की रचनाएँ सच्चे अनुराग तथा अनुभूति पर निर्भर है ? इस प्रश्न के उत्तर के पहले हम इसीसे संबद्ध एक और बात पर कुछ विचार कर लें। जिन लोगों के चरित्र को अधिक पास से देखने का हमें अवसर मिल चुकता है उनमें भक्ति इत्यादि भावों की अनुभूति मानने को हम शीघ्र प्रस्तुत नहीं रहते। इसका कारण क्या है ? हम उनके चरित्र में कुछ ऐसी बातें पा जाते हैं जिनका सामं-

जस्य हम भक्ति ऐसी उच्च तथा पावन भावनाओं से नहीं वर पाते। यद्यपि भक्ति के लिए चारित्रिक शुद्धता आवश्यक है पर इसे हम सदा अनिवार्य नहीं मान सकते। जीवन के ढालू पथ पर कभी-कभी फिसल कर चलने वाले मनुष्य के हृदय में भी वह कोमलता तथा भावुकता पाई जा सकती है जो भक्ति के अनुकूल हो। किसी वैष्णव आचार्य के पास दो मनुष्य दीक्षा लेने गए। आचार्य द्वारा उनकी रुचिओं के विषय में प्रश्न किए जाने पर एक ने कहा कि मुझे संसार की किसी वस्तु से अनुराग नहीं। दूसरे ने संकुचित होते हुए कहा कि मुझे सौंदर्य बहुत आकृष्ट करता है और प्रायः मैं उसके आकर्षण का अवरोध करने में समर्थ नहीं हो पाता। आचार्य ने पहले मनुष्य को शिष्य बनाना अस्वीकृत कर दिया। उससे कहा कि जब तुम्हें किसी से अनुराग नहीं तो प्रभु से कैसे प्रेम कर पाओगे ? दूसरे को यह समझ कर दीक्षा दी कि उसमें प्रेम का स्रोत अवश्य है जो अभी विपरीत दिशा में प्रवाहित हो रहा है, उसे केवल अभिप्रेत दिशा की ओर मोड़ना ही है। पर जिसके हृदय में प्रेम का स्रोत ही नहीं है वह भक्त नहीं बनाया जा सकता। भक्तों की बहुत बड़ी संख्या अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में सौंदर्य-प्रेम ही थी। तुलसीदास तथा रसखान के उदाहरण तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र के भक्ति के उद्गारों को कौन असत्य कह सकता है ? उनके चरित्र के धुँधले कोनों का परिचय रखने वाले व्यक्ति को भी उनकी रससिक्त भक्तिमयी कविताओं पर मुग्ध ही होना पड़ता है। रत्नाकर जी के चरित्र के

विषय में अभी कुछ निश्चित सिद्धांत सामने नहीं आए हैं। यदि कोई यह सिद्ध भी कर दे कि वे संयम के अधिक क़ायल नहीं थे तो भी उनकी भक्ति की रचनाओं का महत्व कम नहीं होता। कवि की ऐसी अनुरागमयी उक्तियों को कौन अनुभूति-हीन कह सकता है:—

ऐसौ कछु बानक बनाइ दै बिधाता जदि
तौ पै गुनैं ताकी ताकि करुना अगाधा कै।
धाइ ब्रज-बीथिनि अघाइ जमुना कैं बारि
एकौ बार उमगि पुकारैं हम राधा कै॥

कवि की भक्ति रस की रचनाओं में सांप्रदायिक कट्टरता के कहीं भी दर्शन नहीं होते। कवि के उपास्य राधा कृष्ण हैं। इन्हीं की लीलाओं के वर्णन अधिकांश भक्ति की कविताओं में प्राप्त होते हैं। हिंडोला तथा उद्धव शतक के विषय कृष्ण से ही संबंध रखते हैं। विष्णुलहरी, कृष्णाष्टक आदि में विष्णु अथवा कृष्ण ही भक्ति के उद्गारों के विषय है। सुदामा-अष्टक, गजेंद्र-मोक्ष-अष्टक, द्रौपदी-अष्टक आदि में भी कृष्ण के चरित्र अंकित करने का प्रयत्न है। इसी प्रकार विनय के अन्य कवित्तों में भी कृष्ण से बिनती की गई है। गंगा पर गंगावतरण नामक सुंदर प्रबंध काव्य के अतिरिक्त गंगालहरी बनाई है तथा अनेक फुटकल रचनाओं में गंगा का गुण गान किया है। विष्णु के राम अवतार को भी अनेक रचनाओं का विषय बनाया गया है। इनके साथ ही अन्य देवताओं जैसे गणेश, सरस्वती, शंकर आदि पर भी सुंदर रचनाएँ की गई हैं। इन रच-

नाओं में भी वैसा ही अनुराग लक्षित होता है जैसा कृष्ण से संबंध रखने वाली रचनाओं में। यदि कवि कृष्ण की कृपा का भरोसा किए बैठा है तो साथ ही अपने को माँ सरस्वती के वात्सल्य का पात्र भी समझता है। नीचे की पंक्तियों में माता सरस्वती से कवि के विषय में कैसे छोह भरे शब्द कहवाए गए हैं:—

माख मानि बैठ्यौ पैंठि लाड़िलौ हमारौ ताकौ,
 करि मनुहार सुधा-धार उपराजैं हम।
साजैं सुख संपति के सकल समाज आज,
 चलि रतनाकर कौं नैंसुक निवाजैं हम॥

औढर दानी भोलानाथ पर भी कवि का अत्यन्त अनुराग है:—

गंग की न धार जो सिधार जटा-जूटनि में
 भूप बिनती बिनु धधाइ धरा धैहै ना।
कहै रतनाकर तरंग भंगहू की नाहिं
 जो निज उमंग और अंग दरसैहै ना॥
यह करुनाहूँ की कदंबिनी न नाथ सुनौ
 ताप बिनुहीं जो द्रवि आप झर लैहै ना।
यह तौ कृपा की धुनि-धार है अपार संभु
 मानस ढरारे मैं तिहारे रुकि रैहै ना॥

ढरारे विशेषण का प्रयोग कितनी सार्थकता से किया गया है। इसमें श्लेष है। एक अर्थ शब्द के वाच्यार्थ से प्राप्त है दूसरा लक्ष्यार्थ से। वाच्यार्थ (ढालू) की संगति कृपा-धारा से है। लक्ष्यार्थ (कृपा करने को उन्मुख रहनेवाला) की संगति मानस से

है। मानस शब्द का श्लिष्ट प्रयोग भी ढरारे के दोनों अर्थों से अपनी पटरी बैठाता चलता है।

अब कवि के तात्विक सिद्धांतों का अध्ययन भी अप्रासंगिक न होगा। अद्वैतवाद भारतीय मस्तिष्क की बहुत प्राचीन उत्पत्ति है। पर भक्तिमार्ग में सदा सेवक-सेव्य भाव ही चलता रहा। पीछे से कुछ वैष्णव आचार्यों को द्वैतवाद की वैदिकता प्रतिपादित करने की धुन सवार हुई। पर यह द्वैत सिद्धांत भाष्यों तथा शास्त्रार्थों ही तक सीमित रहा। जनता के हृदय से बहुत प्राचीन काल से दृढ़ जमे हुए सिद्धांत हट न सके। प्रायः भक्त कवियों की रचनाओं में व्यावहारिक सेवक-सेव्य भाव के पीछे अद्वैतवाद भी चलता ही रहा। तुलसीदास जी की ऐसी उक्तियाँ अद्वैत भाव ही की ओर झुकती हैः—

ईश्वर-अंस जीव अबिनासी। चेतन, अमल, सहज, सुखरासी।
सो माया बस भयेउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥

पर यह सिद्धांत को बात हुई; व्यावहारिक पक्ष इससे भिन्न हैः—

सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।

इसी प्रकार के भाव अन्य भक्त कवियों के हैं। रत्नाकर जी ने भी उपासना की परिधि के भीतर सेवक-सेव्य भाव माना है। पर सिद्धांततः ये भी अद्वैत सिद्धांत के समर्थक हैं। इन पंक्तियों को देखिएः—

साधि हैं समाधि औ अराधि हैं न ज्ञान-ध्यान,
बाँधि हैं तिहारैं गुन प्रान मुकलैहैं ना।

कहै रतनाकर रहैंगे ह्वै तिहारे भृत्य,
दुरभर भार भरतार कौ भरैहैं ना॥
आपनी ही चिंता सौं न चैन चित रंच लहैं,
जगत निकाय कौ प्रपंच सिर लैहैं ना।
एकै घट नाधि साध सकल पुराईं अब,
हम तुम ह्वै कै घट-घट मैं समैहैं ना॥

"हम तुम ह्वै कै" से कवि का सिद्धांत स्पष्ट हो जाता है। नीचे की पंक्तियों से तो अद्वैत का स्पष्ट ही समर्थन किया गया है—

एक ही साँचौ स्वरूप अनूप है
खाँचौ यहै मन एक लकीरैं।
त्यौं रतनाकर सेस कौ भेस
असेस लसैं भ्रम की भरी भीरैं॥
ता बिनु और जो देखि परै
थिति ताकी सुनौ औ गुनौ धरि धीरैं।
लोचन द्वैतता दोष लगैं
यह एक तैं ह्वै गईं द्वै तसवीरैं॥

पर कवि उन अद्वैतवादियों में नहीं है जो जगत् को भ्रम मानते हैं। उसके अनुसार चराचर सृष्टि प्रभु-मय है। इसे देखना प्रभु को ही देखना है। इसे मिथ्या बताकर ज्ञान की कहानी कहनेवालों से कवि सहमत नहीं है:—

देखत तुम्हैं ना तौ कहा हैं नैन देखत ये
सुनत तुम्हैं ना तौऽब स्रवन सुनैं कहा।

कहै रतनाकर न पावै जौ तिहारी बास
नासा तौ प्रसूननि सौं ललकि लुनै कहा ॥
तेरे बिनु काकौ रस रसना लहति यह
परसन माहिं त्वक अपर चुनैं कहा ।
कोऊ धुनैं ज्ञान की कहानी मनमानी बैठि
अलख लखैयनि कौं हम पै गुनैं कहा ॥

कवि ज्ञान को मनमानी कहानी कहता है इसी से प्रकट होता है कि उसे ज्ञान मार्ग की व्यावहारिकता पर अधिक विश्वास नहीं। 'अलख लखैयनि कौं हम पै गुनैं कहा' से कवि की दृष्टि में ज्ञानियों का जितना महत्व है उसकी भी व्यंजना हो रही है। कवि ज्ञान-मतवालों को मतवाला ही समझता है तथा अपना आधार प्रभु के प्रेम ही मानता है:—

आप हैं कहाँ तैं कहाँ जाइबौ कहाँ है फेरि
काकी खोज माहिं फिरैं जित तित मारे हैं।
कहै रतनाकर कहा है काज तासौं पुनि
काज औ अकाज के बिभेद कत न्यारे हैं ॥
भेद भावना कौ कहा कारन औ काज कछू
कारन औ काज के कहाँ लगि पसारे हैं।
ये सब प्रपंच गुनैं ज्ञान-मतवारे बैठि
हम तौ तिहारे प्रेम-पान-मतवारे हैं ॥

अलंकार

भावों को रमणीयता प्रदान करनेवाली, विभावों का चित्रण करनेवाली तथा काव्योपयोगी चमत्कार की सृष्टि करनेवाली कुछ विधियाँ अलंकार हैं। काव्य का साध्य भाव-व्यंजना है। अलंकार-विधान इत्यादि उसके साधन हैं। जब ये साधन न रह कर साध्य बनते हैं तो अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। ये एक प्रकार की चमत्कार-पूर्ण व्यंजना में सहायक होते हैं। फिर वह व्यंजना आगे बढ़कर भाव-व्यंजना की प्रतिष्ठा में सहायक होती है। इस प्रकार अलंकारों की रमणीयता भावों तथा रसों की रमणीयता से भिन्न चमत्कार की सृष्टि रचते हुए भी केंद्रीय भाव-व्यंजना के उपकार में—उसे ग्राह्य तथा रमणीय बनाने में—तत्पर रहती है। आलंबन के नेत्रों को कमल के समान कहने से उनके सौंदर्य की व्यंजना हुई जो उस आलंबन पर स्थित सौंदर्य भावना को उत्तेजित करने में सहायक हुई। जो अलंकार इस आवश्यक भाव-स्थापन में जितना ही अधिक योग देते रहते हैं उतना ही उनका महत्त्व है तथा इस योग-दान में जितना पीछे पड़ते जाते हैं उतना ही अपने महत्त्व को खोते चले जाते हैं तथा इसी विपरीत दिशा की ओर उतरते उतरते अंत में भारस्वरूप हो जाते हैं। अब देखना है कि अपने साध्य को ध्यान में रख कवि किस प्रकार अपने साधनों का उपयोग करता है। हमारे मानस में भावों की स्थिति अत्यंत सूक्ष्म तथा जटिल है। अनेक भाव-धाराएँ परस्पर मिली-जुली प्रवाहित होती रहती

है। कवि का कर्त्तव्य अपने पाठकों के हृदय का इस भाव-धारा के केंद्र से संबंध स्थापित कर देना है। फिर, उस केंद्र के सहारे पाठक संपूर्ण धारा में अवगाहन करने में समर्थ होता जाता है। इसके लिए गोचर-विधान एक उपयोगी उपकरण है। हम स्थूल तथा दृश्य स्वरूपों को जितना ग्रहण कर लेते हैं उतना सूक्ष्म भावों को नहीं कर पाते। इस लिए कवि भावों को एक गोचर स्वरूप प्रदान करता है। पर काव्य-विधान में गोचर का तात्पर्य केवल उन्हीं वस्तुओं से नहीं है जो बाह्य-करणों को ग्राह्य हों। यहाँ गोचर का संकेत उन सब पदार्थों तक है जो सुग्राह्य हों, चाहे बाह्येन्द्रियों से चाहे हृदय-वृत्तियों से। कवि झूँक लेते हुए हिंडोले का वर्णन कर रहा है। हिंडोला बड़ी शीघ्र गति से इधर उधर झोंके खा रहा है। कवि इस गति को अपने पाठकों के सामने लाना चाहता है। वह स्थूल गोचर जगत् से अप्रस्तुत विधान न करके हमारे तथा अपने हृदय के भीतर टटोलता है। उसे एक ऐसा व्यापार मिल जाता है जो हिंडोले के झोंकों के बहुत मेल में बैठता है। वह उसीको सामने लाता है। यहाँ पर विधान यद्यपि स्थूल दृष्टि से गोचर नहीं हुआ पर सहृदयों के लिए अत्यंत सुग्राह्य हो गयाः—

किधौं लाज मदन कैं मध्य पर्यौ मध्या-जिय,
कै अभिसार-समै कुलकामिनि कौ धरकत हिय।
किधौं राग कुलकानि बीच अनुरागिनि कौ चित,
सकै न ठिकु ठहराइ जात आवत नित उत इत॥

इस प्रकार के विधान को भी काव्य में गोचर माना जाता है।

गोचर स्वरूप उपस्थित करने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि कवि भाव-धारा के उन ठोस तटों को उपस्थित करता है जो पाठक की दृष्टि को एक केंद्र पर टिका कर किसी भाव में मग्न होने योग्य कर देते हैं। उसी हिंडोले के सौंदर्य का वर्णन करते समय जब कवि कहता है कि:—

तरुनि तियनि की चल चितौनि कौ सार बखानौ।

तो वह हमारे सामने एक ऐसी वस्तु रखता है जिसके सहारे प्रस्तुत के (हिंडोले के) सौंदर्य की आवश्यक व्यंजना की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। पर नीचे की पंक्तियों में गोचर-विधान नहीं हो पाया है:—

सगर-कुमारनि के तारन कौं धावा किए,
मानहु भगीरथ कौ पुन्य ललकारै है।

इस से गंगा के माहात्म्य की व्यंजना तो अवश्य होती है पर कोई हृदय-ग्राह्य वस्तु सामने नहीं आती। पर रत्नाकर जी ने अपनी रचनाओं में काव्योपयोगी विधान की सृष्टि करने का सदा ध्यान रखा है।

अब कवि के अलंकार-विधान की एक दूसरी सलक्ष्य विशेषता के अध्ययन की ओर अग्रसर हुआ जाय। रत्नाकर जी प्रायः अपना अप्रस्तुत विधान भी प्रस्तुत की परिधि के भीतर ही करते हैं। उनकी कल्पना प्रस्तुत भाव-धारा के तटों से बहुत दूर हट कर अपना अनोखा लोक बनाने में उतनी नहीं लगती। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके चित्रों में आकर्षण या नवीनता नहीं रहती। उदा-

हरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। महाराज छत्रसाल का कोई शत्रु उनसे परास्त होकर भाग रहा है। कवि उस पर उत्प्रेक्षा कर रहा है:—

कहै रतनाकर परान्यौ हाथ माथैं दिये,
मानौ टकटोरत कहाँ धौं भाग फूट्यौ है।

अत्यंत विपत्ति में लोग घबड़ा कर माथे पर हाथ रख लेते हैं। कवि कल्पना करता है कि वह देख रहा था कि उसका भाग्य कहाँ पर फूट गया था। संभवतः उसका माथा फूट गया हो, वह उसी पर हाथ रखे हो। 'भाग्य फूटना' प्रयोग फूटने के लाक्षणिक प्रयोग से प्राप्त होता है। यहाँ पर यह कल्पना प्रस्तुत की परिधि के ही भीतर कैसे अद्भुत चमत्कार की सृष्टि कर रही है। कोई स्त्री गंगा-तट पर पृथ्वी पर माथा टेक कर चंद्रमा की बंदना कर रही है:—

कोउ झुकि करति प्रनाम टेकि महि माथ मयंकहिं।
मेटति मनहुँ विसाल भाल के कठिन कुअंकहिं॥

गंगा स्नान से संभवतः उसके भाग्य के (भाल के) कुअंक तो मिट ही गए हैं। कवि कल्पना कर रहा है कि वह चंद्र-बंदना के समय पृथ्वी पर माथा टेक कर माथे पर लिखे ब्रह्मा के अक्षर मिटा रही है। भाग्यलिपि मस्तक पर अंकित रहती है इस विश्वास के आधार पर कैसी सुंदर कल्पना की गई है। उसके पाप तो उपासना जन्य पुण्य से नष्ट होंगे पर कवि एक सहायक व्यापार ही पर अपना विधान खड़ा करता है। इसी प्रकार की यह कल्पना है:—

मानत न नैंकु निरबान पदबी कौ मान,
तेरी सुख-साजी बनराजी मैं धँसत जो।
कहै रतनाकर सुधाकर सुधा न चहैं,
तेरौ जल पाइ कै अघाइ हुलसत जो॥
बंक बिधि-लेख की न रेख रहि जात तासु,
दिब्य सिकता लै भव्य भाल मैं घसत जो।
हँसत हुलास सौं विलास पर देवनि के,
तेरैं तीर परन-कुटीर मैं बसत जो॥

गंगा के सिकता का इतना माहात्म्य है कि उससे पापों का नाश हो जाता है। इसके लिए उन्हें माथे पर घिसना कोई ऐसा आवश्यक कर्म नहीं है। पर कवि तो मानता है। माथे पर ब्रह्मा की बक्र लिपि लिखी हुई है। उसे जब तक बालू से रगड़ रगड़ कर घिसा न जाय तब तक वह कैसे मिटेगी:—

बंक बिधि-लेख की न रेख रहि जात तासु,
दिब्य सिकता लै भव्य भाल मैं घसत जो।

'सितारा चमकना' एक प्रयोग है। गंगा की सिकता के कण चमकते ही रहते हैं। इस मुहावरे तथा एक तथ्य के सहारे देखिए कैसी सुंदर कल्पना की गई है:—

आवत हीं ध्यान मैं बिधान तिहिं धावन कौ,
अदस अपावन कौ कटत करारा है।
कहै रतनाकर सु ताके सिकता मैं चारु,
चमकत दीन पातकीन कौ सितारा है॥

गंगा के कणों में पापियों के भाग्य चमकाने की शक्ति है। पर गंगातट के बालू में जो चमक होती है क्या वही पापियों के सितारे की (भाग्य की) चमक है ? कवि ने कल्पना को वास्तविकता से ऐसा मिला दिया है कि संधि लक्षित नहीं होती। यह कला रत्नाकर जी को छोड़ और हिंदी कवियों में प्रायः नहीं मिलती। इस प्रकार का सुंदर विधान रचने में कवि को अपने फारसी ज्ञान से बहुत सहायता मिली है। फारसी तथा उर्दू साहित्यों में मुहावरों की सहायता से ऐसे चमत्कारों को उत्पन्न करने की अनेक प्रणालियाँ हैं।

गंगा का जल चमकता हुआ आकाश से शंकर के मस्तक पर गिर रहा है। शंकर ने इस डर से कि कहीं गिर न पड़े चंद्रमा को कस कर सर्प से बाँध दिया है। चन्द्रमा तारों का नायक है। कवि कहता है कि संभव है अपने नायक चंद्र को व्याल-पास में बँधा देख कर तारों की सेना आकाश से उतरी चली आ रही है। तारों की सेना से तथा जगमगाते हुए गंगा-प्रवाह से स्वरूप साम्य है ही। सेना भी ऊपर ही से उतरेगी तथा गंगा ऊपर से ही गिर रही हैं। पर कवि केवल इतने ही से विराम नहीं लेता वह गंगाजल को तारों की सेना बना कर कुछ उपयोग भी सिद्ध करता है जो प्रस्तुत के एकदम मेल में है :—

कै निज नायक बँध्यौ बिलोकत ब्याल पास तैं।
तारनि की सैना उदंड उतरति अकास तैं॥

महाराज सगर के साठ-सहस्र पुत्र कपिल के कोप से भस्म हो गए हैं। कवि दूर न जाकर कहता है कि गंगावतरण के लिए ये

साठ सहस्र नरमेध-यज्ञ संपन्न हुए। गंगावतरण आगे होने ही वाला है। कवि ने अपनी कल्पना के सूत्र को उसी से जोड़ दियाः—

इमि सगर-नृपति-नंदन सकल कपिल-कोप परि जरि गए।
मनु साठ सहस नरमेध मख गंग-अवतरन-हित भए॥

नीचे की कल्पनाओं को भी कवि ने अपने प्रस्तुत-प्रसंग-गंगा माहात्म्य वर्णन—में मिला दिया हैः—

कोउ ढारति सिर छाइ छीर लीन्हे करवा कर।
सुर-धारा पर सुधा-धार मनु स्रवत सुधाधर॥
सजि बातिनि की पाँति उमगि कोउ करति आरती।
बिधि-सरबस पर वारति मनि-गन मनहु भारती॥

इस प्रकार की एक सुंदर कल्पना और देखिएः—

लखि ब्रजराज कौ लड़ैतौ वहिं ग्वैंड़ अरी
पैंड़ पैंड़ पेंड़ि पग धारत चलत है।
कहै रतनाकर बिछाई मग आँखिनि के
लाख अभिलाषन उभारत चलत है॥
सुमन सुबास लाइ रुचिर बनाइ रच्यौ
कंदुक अनंद सौं उछारत चलत है।
करि करि मनौ हाथ मन दिखवैयनि के
परखत-पारत सँभारत चलत है॥

वह ब्रजराज का लड़ैता एक गेंद उछालता हुआ जा रहा है। कवि कहता है कि वह गेंद क्या उछालता है देखनेवालों के मन उछाल रहा है। न जाने उनके मन उसने अपने हाथ में कर लिए

हैं। देखिए कितनी रमणीय तथा सूक्ष्म कल्पना है पर विषय के बाहर नहीं गई है। अपने चमत्कार के साथ ही एक भाव व्यंजना की ओर संकेत भी कर रही है। पर ऐसी कल्पनाओं की सृष्टि करना जो दूर की सूझ कहे जाने के योग्य होते हुए भी विषय के बाहर नहीं जातीं तथा भावव्यंजना में पूरा योग प्रदान करती हैं, बहुत ही शक्ति-संपन्न सिद्ध कवियों की सामर्थ्य का काम है। पाठक स्वयं निर्णय करें प्रस्तुत कवि में ऐसी सामर्थ्य तथा शक्ति कितनी अधिक मात्रा में है।

रत्नाकर जी के अलंकार-विधान की एक अन्य आवश्यक विशेषता का विधान समुचित प्रयोगों तथा मुहावरों के योग पर निर्भर रहता है। जब कोई कवि सांग-रूपक अथवा किसी ऐसे ही अन्य अलंकार के ढाँचे को खड़ा कर अग्रसर होता है तो हम उससे आशा करते हैं कि वह प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच किसी प्रकार के सादृश्य को आधार बनाता चले। पर किसी भी दूर तक चलनेवाले आरोप में प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच बिंब-प्रतिबिंब भाव मिलना संभव नहीं होता। ऐसी अवस्था में अप्रस्तुत-विधान कृत्रिम-सा हो जाता है। रत्नाकर जी जब देखते हैं कि किसी विशेष प्रकार की समता न प्राप्त होने से आगे बढ़ना उचित नहीं है तो वे ऐसे चुने हुए प्रयोग करते हैं जिनसे एक प्रकार के चमत्कार-पूर्ण अप्रस्तुत-विधान का कुछ आभास मिलता है। कवि ऐसे आरोप में कुछ स्वरूपों के उपस्थित करने का आग्रह नहीं करता पर शब्द योजना से एक सुंदर झलक दे देता है। जिस समय महाराज सगर ने अपने साठ

सहस्त्र पुत्रों के मरने का समाचार सुना उस समय का एक वर्णन देखिए:—

> उमड़्यौ सोक-समुद्र भई बिप्लुत मख-साला।
> बड़वागिनि सी लगन लगी जज्ञागिनि-ज्वाला॥
> गयौ तुरत फिरि सब उछाह आनँद पर पानी।
> बढ़ी पीर की लहर धीर-मरजाद नसानी॥

शोक-समुद्र में रूपक है। शोक के आधिक्य के कारण यज्ञाग्नि भी बड़वाग्नि सी लगने लगी! अग्नि तो वह पहले ही थी। ऐसी अवस्था में बड़वाग्नि की आवश्यकता ताप के आधिक्य को सूचित करने को उतनी नहीं है जितनी समुद्र का रूपक पूरा करने को। अब आगे देखिए कवि कैसी कुशल योजना से इस रूपक का निर्वाह करता है। जब समुद्र उमड़ेगा तो आस पास की भूमि इत्यादि अवश्य जल-मग्न होने लगेगी। यहाँ भी उछाह तथा आनंद पर पानी फिर गया है। पानी फिरने का अर्थ केवल उनके नष्ट होने से है। पर इस उपयुक्त मुहावरे के चुनाव ने समुद्र की स्वरूप-प्रतिष्ठा में कितना अधिक योग दिया है। समुद्र की लहरों का कुछ शाब्द आभास 'पीर की लहर' से मिल रहा है। शोक-समुद्र जब उमड़ पड़ा है तो मर्यादा अवश्य नष्ट होगी। यहाँ भी धैर्य्य की मर्यादा नष्ट हो गई है। कवि यदि कठहुज्जत करके कहता कि पीर की लहर ही समुद्र की लहर है तथा आनंद पर पानी फिरना ही सुमद्र का पानी बढ़ना है तो हमें उसमें उतना आनंद न मिलता क्योंकि तब हमें कवि के विधान के पीछे आधारभूत किसी न किसी साम्य के

अन्वेषण में तत्पर होना पड़ता। साम्य का कुछ अधिक आधार न पाकर हमें क्षोभ ही होता। पर रत्नाकर जी ने केवल शब्द योजना से एक सुंदर साम्य-सा प्रस्तुत कर दिया है जो अत्यंत चमत्कार-पूर्ण है। हरिश्चंद्र काव्य से एक ऐसे ही सुंदर उदाहरण को देखिए। श्मशान का अंतिम दृश्य है। रानी अपने मृत पुत्र को लेकर विलाप कर रही है। राजा हरिश्चंद्र को अब तक यह पता न था कि यह उन्हीं की महारानी थीं। किंतु रानी के एक वाक्य से उन्हें अचानक ज्ञात होता है कि यह तो वे ही हैं:—

> एतहि मैं रोवत रोवत सो बिलखि पुकारी।
> "हाय आज पूरी कौसिक सब आस तिहारी"॥
> यह सुनि एकाएक भई धक सौं नृप छाती।
> भरी भराई सुरँग माहिं लागी जनु बाती॥
> धीरज उड़्यौ धधाइ धूम दुख कौ घन छायौ।
> भयौ महा अंधेर न हित अनहित दरसायौ॥

अचानक यह समाचार सुन कर महाराज की छाती धक से हो गई—दहल गई, काँप उठी। मानों भरी हुई सुरंग में बत्ती लग गई हो और वह धक से फूट पड़े। सुरंग उड़ने से दुर्ग उड़ जाता है। चारो ओर अँधेरा छा जाता है। कुछ दिखाई नहीं पड़ता। यहाँ भी ये सब बातें हुईं पर केवल शब्द योजना की सामर्थ्य से। उपयुक्त शब्दों के चुनाव से कवि ने प्रस्तुत अप्रस्तुत को मिलाने का कितना सफल प्रयत्न किया है। उसी प्रकार नीचे की पंक्तियों में भी घन-घटा का स्वरूप पूरा किया गया है। यदि पाठक चाहें घटा के

घिरकर छा जाने, बिजली के चमकने, कड़कने, तथा जल वृष्टि होने इत्यादि के सब दृश्यों का आनंद ले लें। कवि कुछ ऐसे शक्ति संपन्न शब्द अवश्य रख देता है जो आलंकारिक विधान में पूरा योग देते हैं:—

निरखि नीठि निज ओर परति दुहुँ-दीठि कनौड़ी।
अनख-घटा अति सघन घूमि राधा-उर औंड़ी॥
उठी चमक चित भए सजल दृग-छोर छबीले।
प्रगटे सब्द कठोर भाव बरसे तरजीले॥

ऐसे ही शब्दों की समुचित योजना से राणा प्रताप के द्वारा किए गए आतिथ्य का यह वर्णन हुआ है:—

कुंत असि सायक के फल सौं अघाए इमि,
पायक औ नायक सिपाह सुलतानी के।
कहै रतनाकर रही न उठिबै की सक्ति,
जित तित लोटैं परे लाड़िले पठानी के॥
मागत न पानी हूँ किए यौं तृप्त जीवन सौं,
ठाठि कै प्रताप नए ठाठ मेहमानी के।
घाट-हलदी सौं जमपुर की बताइ बाट,
म्लेच्छनि उतारयौ घाट कठिन कृपानी के॥

अपने शत्रुओं का राणा प्रताप ने कैसा सुंदर आतिथ्य किया है। पहले उन्हें फलों से तृप्त कर दिया। फिर जल से तृप्त कर दिया। बेचारे तृप्त होकर भू-शय्या पर इधर-उधर लेट गए। फिर हलदी घाट से आगे जाने के लिए यमपुर का मार्ग बता दिया। मार्ग में जो नदी पड़ती थी उसके भी पार उतार दिया। यह सब योजना

केवल थोड़े से शब्दों की सहायता से पूरी हुई। फलों का काम तो कुंत इत्यादि के फलों ने चलाया। पानी का काम जीवन शब्द के श्लिष्ट प्रयोग ने पूरा किया। मार खाते खाते जीवन से (ज़िन्दगी से) अवश्य ही तृप्त हो गए होंगे (ऊभ गए होंगे)। कृपाणी के घाट से उन्हें उतार दिया। घाट शब्द के प्रयोग से यहाँ कृपाणी रूप नदी का स्पष्ट आभास मिल रहा है।

रत्नाकर जी की इस प्रकार की कला की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए इतने उदाहरण पर्याप्त हैं।

जब रत्नाकर जी देखते हैं कि संपूर्ण प्रस्तुत दृश्य को विधान के अंतर्गत लेकर भी अप्रस्तुत विधान किया जा सकता है तो वे अपनी प्रतिभा से एक सुंदर दृश्य उपस्थित करते हैं जो प्रस्तुत के मेल में ठीक बैठ जाता है। देखिए यहाँ लता-सुहागिन का कैसा मंगलमय स्वरूप उपस्थित है:—

> बर बल्लिनि के कुंज-पुंज कुसमित कहुँ सोहैं।
> गुंजत मत्त मलिंद-बृंद तिन पर मन मोहैं॥
> मनौ सुहागिनि सजे अंग बहुरंग दुकूलनि।
> गावतिं मंगल मोद भरीं छाजे सिर फूलनि॥

लताओं को कवि ने सुहागिन बनाया है। पुष्प अपने प्रस्तुत रूप में ही अप्रस्तुत विधान में योग दे रहे हैं। कवि भौरों के स्वरूप की ओर नहीं देखता। उनके मधुर गुंजन को उन सुहागिनों के मंगल-गान के रूप में सामने लाता है। प्रस्तुत दृश्य से प्राप्त होने वाली सौंदर्य, मंगल तथा आनंद की भावना भी अप्रस्तुत में लगी

चलती है। विषय (उपमेय) तथा विषयी (उपमान) का इस प्रकार का सामञ्जस्य बहुत कम विधानों में मिल पाता है। ऐसे व्यापक साम्य की ओर बहुत कम सिद्ध-कवियों की दृष्टि जा पाती है। पर रत्नाकर जी का निरीक्षण इतना सूक्ष्म तथा शक्ति संपन्न है कि वे बहुत दूर तक चलनेवाले साम्य की स्थापना करने में सफल हो जाते हैं। एक नायिका का वर्णन करते समय कवि कहता हैः—

अरुन उदै की कंज कली सी लसति है।

बालिका किशोरावस्था से कुछ आगे की ओर उकसने लगी है। सूर्य्योदय अभी हुआ है। कमल कली खिलने ही को है। कितना सुंदर साम्य है। पर कवि को इतने ही से संतोष नहीं, उसकी सुकुमार कल्पना इस अरुणोदय तथा कमल कली को देखकर स्फूर्ति से भर उठती है और वह संपूर्ण दृश्य का पूरा विधान रच डालती है। देखिएः—

अमल अनूप रूप-पानिप-तरंगनि मैं,
जगमग ज्योति आनि सान सौं बसति है।
कहै रतनाकर उभार भए अंग माहिं,
रंचक सी कंचुकी अदेख उकसति है॥
रसिक-सिरोमनि सुजान मनमोहन को,
लाख-अभिलाष-भौंर-भीर हुलसति है।
अभिनव जोबन-प्रभाकर-प्रभा सौं बाल,
अरुन उदै की कंज कली सी लसति है॥

कंज कली का पूरा सौंदर्य किसी पुष्करणी में ही निखरता है।

यह अभिनव यौवन में पैर रखनेवाली बाला भी रूप-पानिप की तरंगों में सुशोभित है। भौंरे भी प्रसन्न होने लगे हैं। यौवन-प्रभाकर का अभी उदय ही हुआ है। प्रभाकर शब्द यहाँ कितना सार्थक है जो दोनों ओर ठीक लगता है। यौवन ने बाला की प्रभा को बढ़ा दिया है अतः वह प्रभाकर हुआ। दूसरी ओर वह सूर्य के अर्थ में सार्थक है। यहाँ केवल प्रभाकर शब्द में श्लेष, परिकर तथा परिकरांकुर तीन तीन अलंकारों का सुयोग हुआ है। प्रभाकर शब्द में श्लेष होने से उसका एक अर्थ (प्रभा करने वाला) यौवन का विशेषण हो जाता है अतः यहाँ परिकर हुआ। जब प्रभाकर का अर्थ सूर्य्य लेते हैं तो यहाँ परिकरांकुर हो जाता है क्योंकि तब प्रभाकर स्वयं विशेष्य हो जाता है। दोनों अवस्थाओं में शब्द की साभिप्रायता बनी रहती है। साथ ही यौवन-प्रभाकर के रूपक का चमत्कार अलग ही है। इस प्रकार रूप-पानिप से प्रारंभ होनेवाला रूपक अंत में 'कंज कली-सी' में पहुँच कर अपने को उस सुंदर उपमा का साधन बना देता है। कभी कभी कवि अपनी उक्ति से स्वयं होड़ करने लगता है तथा एक के मेल में दूसरी रचना रखता है। इसी कंज कली के अलंकार को नीचे की पंक्तियों में कुछ परिवर्तन के साथ इस प्रकार उपस्थित किया है:—

सरसन लाग्यौ रस रंग अंग-अंगनि मैं,
पानिप तरंगनि मैं बाल बिलसति है।
कहै रतनाकर अनंग कौ प्रसंग पौन,
पाइ कंपि जाइ कांति दूनी दरसति है॥

रति-रस लंपट मलिंद मनभावन के,
उर अभिलाष लाख भाँति की बसति है।
परम पुनीत बैस-संधि कौ प्रभात पाइ,
अरुन उदै की कंज कली सी लसति है॥

नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है। कवि इस पर नदी का अध्यवसान करता है। देखिए यहाँ नदी का स्वरूप कितनी कुशा-लता से पूरा किया गया है:—

जस-रस मधुर लुनाई रतनाकर कौ,
काननि मैं बरसि घटा लौं ननदी चली।
बहि तृन पात लौं सकल कुलकानि गई,
गुरु गिरि रोक-टाक ह्वै जिमि रदी चली॥
लाख अभिलाष-भौंर-भ्रमन गँभीर लगीं,
उमगि उमंग-बाढ़ करति बदी चली।
धीरज-करार फोरि लज्जा-द्रुम तोरि बोरि,
नोकदार नैननि तैं निकसि नदी चली॥

यश रूप जल की कानों में वृष्टि करके वह चली गई। मधुर यश सुन लेने पर कुलकानि का बह जाना स्वाभाविक ही है। धैर्य्य का करारा फूट गया है। लज्जा रूप वृक्ष छिन्न-भिन्न हो गया है। इस प्रकार उस नदी के स्वरूप का निर्वाह बड़े कौशल से किया गया है।

रत्नाकर जी की काव्य-कला की एक और विशेषता यह है कि वे अपने अप्रस्तुत विधान को प्रस्तुत भावधारा के मेल में ही रखते हैं। इनके अप्रस्तुत ऐसे भावों को सामने नहीं लाते जिनसे प्रस्तुत

भावों की व्यंजना पर आघात पहुँचे। माता सरस्वती के कुंचित केशों का वर्णन करना है। शृंगार रस की व्यंजना के उपयोग में आनेवाले उपमानों से देवता विषयक रति पर आघात पहुँचता। देखिए कवि ने कितनी चतुरता से अप्रस्तुत विधान किया है:—

मात सारदा के मुसकात मंजु आनन पै,
कलित कृपा के चारु चाव बरसत हैं।
कहै रतनाकर सुकबि प्रतिभा पै मनौ,
मधुर सुधा से भूरि भाव सरसत हैं॥
सारी सेत ऊपर सुगंध कच कुंचित यों,
छहर छबीले मुरवानि परसत हैं।
इंद्रनील-खचित कबित्तनि के दाम मनौ,
रजत-पटी पै अभिराम दरसत हैं॥

कवि प्राचीन काव्य-परंपरा से प्राप्त उपमानों को योंही नियोजित करके संतुष्ट नहीं हो जाता है, वह उनका विधान करते समय भी कुछ कौशल प्रदर्शित करता है। देखिए पँखड़ियों से वेष्टित कमल-कली का स्वरूप कैसी कला से पूरा किया गया है:—

सूनौ निहारि बिलोकि इतै उत, रोकि लियौ मग कुंज गली कौ।
आँगुरी चूमि चितै चटकाइ, बलाइ लै भाइ बिहाइ छली कौ॥
ठोडी ठगी ठसकीली दिए कर-कंज किए अनुहार कली कौ।
चूमि कपोल बिकाइ बिलोकत आनन श्रीवृषभानु-लली कौ॥

कृष्ण के हाथ की अँगुलियाँ कमल की पँखड़ियों का काम दे रही हैं। बीच में 'ठसकीली' ठोढ़ी कमल कलिका सी है। इस प्रकार के

विधान सूक्ष्म निरीक्षण तथा उर्वरा कल्पना शक्ति पर निर्भर रहते हैं। रत्नाकर जी में इन दोनों का समुचित सामंजस्य सदा बना रहता है। इसी से उनके अप्रस्तुत-विधान में सर्वत्र एक नवीनता तथा अद्भुत चमत्कार सदा मिलते हैं। अंशुमान अश्वमेध के घोड़े को खोजता खोजता अंत में पातालगामी मार्ग पर पहुँचता है। उसकी गहराई को वह दृष्टि से थाह रहा है। थाहने के लिए डोर इत्यादि की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में दृष्टि के ऊपर यह आरोप कितना सुंदर तथा सार्थक हुआ है। ऐसे व्यापारों में संलग्न रहने पर दृष्टि-रश्मियाँ एक को डोर रूप में केंद्रित हो जाती हैं:—

इक दिन देख्यौ जात भूमि-नीचैं कौ मारग।
सगर-सुतनि कौ खन्यौ अतल-बितलादिक-पारग॥
तिहिं लखि ललकि कुमार लग्यौ दृग-डोरनि थाहन।
कछु बिस्मय कछु हर्ष कछुक चिंता सौं चाहन॥

अलंकार-विधान करते समय कभी तो कवि भावों को स्पष्ट करने या रमणीय बनाने की ओर ध्यान रखता है तथा कभी बाह्य-स्वरूपों के चित्रण की ओर। कभी-कभी भावों तथा बाह्य-दृश्यों की एक साथ योजना करनी पड़ती है। ऐसी परिस्थितियों के अनुकूल अप्रस्तुत बहुत कम मिल पाते हैं क्योंकि संसार में मानव-हृदय के अंतरंग भावों तथा उनसे उत्पन्न बाह्य आंगिक विकारों तथा चेष्टाओं को एक साथ अलंकृत करनेवाले उपादान बहुत कम मिलते हैं। पर जो कवि ऐसी संश्लिष्ट योजना करने में जितना व्यापक तथा

विस्तृत अधिकार रखते हैं उनके अप्रस्तुत-विधान में उतनी ही रमणीयता तथा काव्योपयुक्तता रहती है। भीष्म पितामह घोर युद्ध में प्रवृत्त हैं। उनके तीक्ष्ण बाणों से कट कट कर रुंड पृथ्वी पर इधर उधर छटपटाते हुए लोट रहे हैं। यहाँ पर कवि को उन योद्धाओं की पीड़ा का भी प्रत्यक्षीकरण करना है तथा लोट पोट होते हुए रुंडों का भी। पर पहले कवि इतना ही कहता है:—

मुंड लागे कटन पटन काल-कुंड लागे,
रुंड लागे लोटन निमूल कदलीनि लौं।

छिन्नमूल कदली वृक्ष जैसे गिर पड़ते हैं वैसे ही कटे हुए रुंड पृथ्वी पर गिर कर लोट रहे हैं। इन दोनों व्यापारों में बाह्य साम्य तो अवश्य है। पर कटे हुए कदली वृक्षों को देख कर हमारे हृदयों में कोई विशेष भाव नहीं उत्पन्न होता। इस अलंकार योजना को भाव विधान की दृष्टि से उदासीन ही कहना होगा। पर कवि आगे कहता है:—

कहै रतनाकर बितुंड-रथ-बाजी-झुंड,
लुंड मुंड लोटैं परि उछरिति मीनि लौं।

यहाँ पर दुःख से छटपटाती हुई मछलियों को सामने रख कर कवि हृदय-पक्ष को भी सामने रखने में सफल हुआ है। रत्नाकर जी ने अपने अप्रस्तुत-विधान में यथासाध्य भाव तथा गोचर-स्वरूप, दोनों को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया है। जहाँ दोनों की एक साथ व्यंजना करनेवाले अप्रस्तुत नहीं मिल सकते थे वहाँ बाह्य दृश्यों की उपेक्षा कर भावों ही की ओर ध्यान रखा है। ऐसा

करते रहने से उनके अलंकार भावों के लिए भार स्वरूप नहीं हुए हैं; वे भी भाव-व्यंजना के अत्यंत आवश्यक अंग से प्रतीत होते हैं। साठ-सहस्र पुत्रों के भस्म हो जाने का समाचार सुन कर सगर की रानियों की क्या अवस्था हुई होगी? वे पछाड़ खा खा कर इधर उधर लोटने लगीं। यदि कवि इस व्यापार को प्रकट करने को परिश्रम से थके हुए घोड़ों के धूल में लोटने के दृश्य को सामने लाता तो कहना होता कि वह हृदयहीन है क्योंकि बाहर से लाया हुआ यह व्यापार प्रस्तुत भाव-धारा के मेल में न बैठता, पर देखिए कवि कैसी भाव-पूर्ण योजना करता है:—

लागीं खान पछाड़ धाड़ मारन सब रानी।
मानहु माजा मज्जि तलफि सफरी अकुलानी॥

प्रसंग के अनुसार जब भाव का महत्त्व होता है तो रत्नाकर जी उसी को लक्ष्य कर अप्रस्तुत-विधान करते हैं। ऐसे विधानों में बाह्य-स्वरूपों का साम्य चाहे उतना न मिले पर ऊपर से आई हुई वस्तुओं का प्रसंग-प्राप्त भावों के साथ अवश्य साम्य रहता है। वही ऊपरवाला प्रसंग है। सगर ने पुत्रों के भस्म हो जाने का समाचार सुना है:—

भयौ भूप जड़-रूप अंग के रंग सिराए।
बज्राघात सहस्र साठ संगहिं सिर आए॥
कढ़्यो कंठ नहिं बैन न नैननि आँसु प्रकास्यौ।
आनन भाव-बिहीन गाँव ऊजड़ लौं भास्यौ॥

महाराज जड़ रूप हो गए। अंगों की कान्ति (रंग) नष्ट हो

गई। वाणी मूक हो गई। नेत्रों में आँसू तक न आए। सर्वत्र उदासी छा गई। कवि ने शोक के इस व्यापक स्वरूप के मेल में ऊजड़ गाँव का दृश्य उपस्थित किया है। उजड़े हुए सूनसान जन-हीन गाँव का शोक से उदास मुख के साथ कितना भाव-साम्य है। रत्नाकर जो अप्रस्तुत उपस्थित करते समय इसी प्रकार के साम्य पर अधिक दृष्टि रखते हैं। ऐसे अप्रस्तुत भाव-व्यंजना में बहुत योग देते हैं। यदि भय इत्यादि की व्यंजना अभीष्ट होती है तो कवि वैसे ही उपमान भी प्रस्तुत करता है। देखिए भीष्म के तीव्र गति से छूटने वाले बाणों की गति तथा भयानकता का इस विधान में कैसा सुंदर निर्वाह हुआ है:—

लच्छ लच्छ भीषम भयानक के बान चले,
सबल सपच्छ फुफुकारत फनीनि लौं।

सपक्ष तथा सबल फुफकारते हुए फणी भयानक बाणों के वाह्य-स्वरूप अर्थात् गति, आकार-प्रकार, वर्ण इत्यादि को ही नहीं चित्रित कर रहे हैं, वे भाव के भी मेल में बैठे हैं। क्षत करना, प्राण लेना इत्यादि भयानक कार्यों की शक्ति जैसी बाणों में है वैसी ही फणियों में भी। इस प्रकार यह उपमान प्रस्तुत के पूरे मेल में बैठा है। वीर अभिमन्यु शत्रुओं की सेना को देखिए कैसा चीरता हुआ घुसा जा रहा है—

सारदूल-सावक बितुंड-झुंड मैं ज्यौं त्यौंहीं,
पैठ्यौ चक्रब्यूह की अनूह अरबर मैं।

यह उपमान वीर रस के कैसा उपयोगी है। बल, उत्साह,

निर्भयता, भयानकता इत्यादि की एक साथ ही व्यंजना हो जाती है। रत्नाकर जी इस प्रकार के साम्य का ध्यान उस समय भी रखते हैं जब अनेक अप्रस्तुतों की झड़ी सी बाँध देते हैं। गुरु गोविंदसिंह के शत्रुओं की सेना को छिन्न-भिन्न कर बाहर निकलने के दृश्य को देखिएः—

जैसैं मदगलित गयंदनि के बृंद बेधि,
कंदत जकंदत मयंद कढ़ि जात है।
कहै रतनाकर फनिंदनि के फंद फारि,
जैसैं बिनता कौ नंद कढ़ि जात है।
जैसैं तारकासुर के असुर-समूह सालि,
स्कंद जग बंद निरद्वंद कढ़ि जात है।
सूबा-सरहिंद-सेन गारि यौं गुबिंद कढ़यौ,
ध्वंसि ज्यौं बिधुंतुद कौं चंद कढ़ि जात है।

जब कवि को भीष्म अभिमन्यु आदि किसी वीर पुरुष के आक्रमण की भयानकता, उग्रता इत्यादि का स्वरूप उपस्थित करना अभीष्ट रहता है तो इन वीरों को केहरी बना कर शत्रु सैन्य को गज समूह इत्यादि बनाता है पर जब इनके पराक्रम को दिखाना चाहता है तो आक्रमण से तितिर बितर होती हुई शत्रु सेना को फेन ही बना देता है क्योंकि यहाँ उस सेना को आक्रमण का अवरोध करने की शक्ति तथा क्षमता दिखाना अभिप्रेत नहीं, केवल अपने योद्धा की शक्ति दिखाना अभीष्ट है। देखिए देवी दुर्गावती के आक्रमण का अवरोध करने में असमर्थ शत्रु सैन्य कैसी फटी चली जा रही हैः—

देवी दुरगावती के धावत मलेच्छ-सेन,
फाटि चली फेन लौं रुकी ना हरकहु मैं।

उसी प्रकार प्रतापी प्रताप के सामने शत्रु सैन्य बादल के समान नष्ट हो गई :—

कुंत करवार सौं प्रचार करि वार दारि,
केते दिये डारि केते भभरि भगाने हैं।
प्रबल प्रताप-ताप-दाप सौं हवा ह्वै सद्द,
बद्दल समान मुगलद्दल बिलाने हैं॥

'हवा हो जाना', अपनी रक्षा के लिए तीव्रता से भाग जाना–प्रयोग बादलों को उड़ा ले जाने के कार्य में वितना योग दे रहा है। जब हवा अधिक होती है तो बादल उड़ जाते हैं। मुहावरों का ऐसा समुचित प्रयोग रत्नाकर जी की एक विशेष कला है जो हिंदी के अन्य कवियों में नहीं मिलती।

प्रायः रसों तथा भावों की व्यंजना में आलंबन का चित्रण एक महत्व का अंग होता है। कुछ रसों में तो आलंबन ही सब कुछ होता है। शृंगार रस में यद्यपि विभाव, अनुभाव आदि सभी आवश्यक हैं पर रस का मूल आधार आलंबन का स्वरूप ही है। अतः कवि भी अलंकार-विधान आदि युक्तियों से उस आलंबन को प्रत्यक्ष करने तथा उसे रसोपयोगी बनाने में प्रयत्नशील रहते हैं। इस कार्य में कवि को साम्य पर निर्भर अलंकारों से जैसे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अपह्नुति से बहुत सहायता प्राप्त होती है। अद्भुत कल्पना का प्रदर्शन करने तथा चमत्कार की सृष्टि करने में विरोध, विषम ऐसे अलंकारों

से सहायता मिलती है। पर सौंदर्यादि की व्यंजना में उपर्युक्त विधियाँ ही समर्थ हैं। देखिए यह उपमा सौंदर्य, वर्ण (पीत), कान्ति, चंचलता आदि की एक साथ व्यंजना करने में कितनी समर्थ है:—

सुभ सुघरइ-दीपक-लौ सी गोप-कुमारी,
भूपाली लौं देति कान्हरायहि सुख भारी।

उसी प्रकार इस उपमा को देखिए: —

पाती लै चितौति चहुँ ओरनि निहोरनि सौं
आई बन बाल ज्यौं तरंग छबि-बारी की।

उसके चारों ओर चंचलता से देखने की क्रिया के मेल में तरंग कैसी ठीक लगती है। 'छबि-बारी' के रूपक से इस उपमा की सिद्धि में कितनी सहायता मिल रही है।

देखिए इस उपमा में कितनी सुकुमार कल्पना है तथा उससे कितनी कमनीय व्यंजना प्राप्त हो रही है:—

फूलन की सेज तें सुगंध सुखमा सी उठी,
प्रात अँगिरात गात आरस गहर है।

वह रात में पुष्प शैय्या पर लेटी थी। प्रातः काल अँगड़ाती हुई उठी है। कवि कहता है कि वह सुगंध तथा सुषमा सी उठी है।

दोनों उपमानों से नायिका के सौंदर्य की व्यंजना में कितनी सहायता मिली है। पहली कल्पना—सुगंधसी—का आधार भी है। रात भर पुष्पों के संसर्ग में रहने से उसका शरीर अवश्य सुगंधित हो गया होगा। इस उपमा-सिद्धि में अतिशयोक्ति का हाथ कहाँ तक

है, यह भी देख लेने की बात है। पर सहृदय इस पर मुग्ध ही हो सकते हैं। कवि नहीं चाहता कि उसका विधान नोच नोच कर, विकृत कर देखा जाय।

कवि जिन उपमानों को नियोजित करता है वे आलंबन-गत संपूर्ण विशेषताओं की व्यंजना में प्रायः समर्थ नहीं हो पाते क्योंकि प्रकृति ने अपनी रचना करते समय कवियों की आवश्यकताओं पर ध्यान रख कर कार्य नहीं किया है। पर जो कवि अपने निरीक्षण के क्षेत्र में से ऐसे उपमान भी लाने में समर्थ होता है जो कम से कम एक विशेषता की भी समता कर सकें वह अपने उद्देश्य में सफल होता है। पर उपमानों को नियोजित करते समय कवि इस बात के संकेत की आवश्यकता नहीं समझता कि किस उपमान को उपमेय की किस विशेषता के मेल में रखा गया है। इसके लिए वह सहृदय पाठकों की कल्पना पर निर्भर रहता है। शरीर का उपमान यष्टि प्रायः व्यवहृत होता है पर इसके द्वारा कवि केवल यष्टि की लपलपाहट का आरोप चंचल शरीर पर करना चाहता है। उसी प्रकार चंचल चखों के मेल में डूबती, उतराती, तिरती सफरी रखी जाती है। बस। कवि इतना ही चाहता है। देखिए:—

गोरे गात सुहात स्वच्छ कलधौत छुरी से।
तिन मैं चल चख चमचमात सुंदर सफरी से॥

कवि उत्प्रेक्षा के द्वारा जो उपमान लाता है उनमें उपमेय से मिलने वाले अनेक प्रकार के साम्यों का ध्यान रखता है। सुलोचनी स्त्रियाँ मुसक्याती हुई जल-क्रीड़ा में तत्पर हैं। देखिए उनकी

विविध चंचल क्रीड़ाओं, सौंदर्य, मुसकान आदि की व्यंजना में यह उत्प्रेक्षा कितना योग दे रही है:—

सुमुखि-सुलोचनि बृन्द मंद मुसकात कलोलत।
दर-बिकासत अरबिंद मनौ बीचिन-बिच डोलत॥

'दर-बिकसित' से मुसकान का आभास मिल रहा है।

उसी प्रकार इस उत्प्रेक्षा को देखिए:—

सुमुखि-बृंद सानंद सुघर तन रतन सजाए।
बिहरत बलित-बिनोद ललित लहरत जल भाए॥
तारनि सहित अमंद-चंद - प्रतिबिंब मनोहर।
मनु बहु बपु धरि फबत फलक-जुत फटिक सिला पर॥

गंगा में स्नान करती हुई स्त्रियों की तैरते समय की चंचल क्रीड़ाओं के मेल में यह उत्प्रेक्षा देखिए:—

तैरत बूड़त तिरत चलत चुभकी लै जल मैं।
चमकति चपला मनहुँ सरद-घन-बिमल पटल मैं॥

रत्नाकर जी प्रायः संपूर्ण प्रस्तुत दृश्य को अप्रस्तुत विधान के के समय अपनी दृष्टि के संमुख रखते हैं। यह उत्प्रेक्षा देखिए:—

कोउ लंकहिं लचकाइ लचकि कच-भार निचोरति।
मर्कत-बल्लिनि मींड़ि मंजु मुकता - फल झोरति॥

यहाँ काले केश, श्वेत जल-बिंदु तथा लचकने और निचोड़ने की क्रियाओं के एक साथ अप्रस्तुत उपस्थित किए गए हैं। कवि ने कल्पना से एक ऐसे विधान की सृष्टि की है जो प्रस्तुत के पूरे मेल में बैठता है।

ऐसे ही एक दृश्य के मेल में यह उत्प्रेक्षा देखिए:—

निकसत चारु चुभकी लै मुख मंडल पै
केसनि कौ कलित कलाप मढ़ि आयौ है।
मानौ निज बैरि के कढ़त रतनाकर तैं
ब्योम तैं पसरि तम-तोम बढ़ि आयौ है।
ताहि सरुझाइ उभकाइ सीस टारयौ बाल
भाव यह चित्त पै सचाव चढ़ि आयौ है।
मानौ मंद राहु के निवारि तम फंद-बंद
अमल अमंद चारु चंद काढ़ि आयौ है।

समस्यापूर्त्ति के आग्रह से रत्नाकर जी ने एक-आध बार 'करामाती' उत्प्रेक्षाओं की भी सृष्टि की है। एक उदाहरण देखिए:—

गोकुल गाँव मैं फाग मच्यौ
हुरिहारिन के उर आनँद भूले।
मूठ चलावत स्याम चितै
रतनाकर नैन निमेष हैं भूले॥
लाल गुलाल की धूँधरि मैं
ब्रज-बालनि के इमि आनन तूले।
काम-कलाकर की मनौ मूठ सौं,
पावकपुंज में पंकज फूले॥

चित्रण का कार्य यों तो उपमा, रूपक, अपन्हुति इत्यादि से भी लिया जाता है पर इस कार्य में जितनी वस्तूत्प्रेक्षा समर्थ है

उतना कोई अन्य अलंकार नहीं। इस अलंकार में कवि की प्रतिभा को क्रीड़ा करने के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र मिलता है। अब प्रसंगानुसार यह देख लेना आवश्यक होगा कि कवि ने दृश्यों के चित्रण में इस अलंकार का कैसा प्रयोग किया है। गंगा की धारा चंचल तरंगों की क्रीड़ा के कारण सुंदर दृश्य उपस्थित करती हुई प्रवाहित हो रही है। देखिए इसके मेल में कैसा दृश्य उपस्थित किया गया है:—

जल सौं जल टकराइ कहूँ उच्छलत उमंगत।
पुनि नीचैं गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत॥
मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाए।
लरि अति ऊँचैं उलरि गोति गुथि चलत सुहाए॥

गंगा की श्वेत वर्ण की चंचल तरंगें आपस में टकराती हुई ऊपर उछलती हैं, फिर नीचे गिरती हैं। इनके ऊपर आपस में झगड़ते हुए कपोतों का आरोप किया गया जो कुछ दूर ऊपर को उड़ कर फिर नीचे उतर आते हैं। उत्प्रेक्षा की विशेषता प्रस्तुत अप्रस्तुत के बीच बिंब-प्रतिबिंब भाव की पूर्ण रक्षा में है। ऐसा ही इस उत्प्रेक्षा में हुआ है:—

कहूँ पौन-नट निपुन गौन कौ बेग उछारत।
जल-कंदुक के बृंद पारि पुनि गहत उछारत॥
मनौ हंस-गन मगन सरद-बादर पर खेलत।
भरत भाँवरैं जुरत मुरत उलहत अवहेलत॥
गंगोत्तरि तैं उतरि तरल घाटी में आई।
गिरि-सिर तैं चलि चपल चंद्रिका मनु छिति छाई।

बक - समूह इक संग गोति गिरि तुंग-सिखरत ।
गए फैलि दुहुँ-बाहु बीचि कै फाबि फहरतैं ॥

प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कवि ने ऐसी ही कला से काम लिया है। नीचे चाँदनी के ऊपर की गई उत्प्रेक्षा देखिएः—

छिटकति सरद-निसा की चाँदनी सौं चारु,
दीपति के पुंज परैं उचटि उछारे हैं ।
स्वच्छ सुखमा के परि-पूरित प्रभा के मनौ,
सुंदर सुधा के फूटि फबत फुहारे हैं ॥

इसी प्रसंग में साम्य पर निर्भर प्रतीप, व्यतिरेक आदि अन्य अलंकारों को देख लिया जाय। देखिए इन पंक्तियों में प्रतीप तथा व्यतिरेक दोनों अलंकारों की कैसी मित्रता-पूर्ण योजना हुई हैः—

सो तौ करै कलित प्रकास कला सोरस लौं,
यामैं बास ललित कलानि चौगुनी कौ है ।
कहै रतनाकर सुधाकर कहावै वह,
याहि लखैं लगत सुधा कौ स्वाद फीकौ है ।
समता सुधारि औ बिसमता बिचारि नीकैं,
ताहि उर धारि जो बिसद ब्रज टीकौ है ।
चारु चाँदनी कौ नीकौ नायक निहारि कह्यौ,
चाँदनी कौ नीकौ कै हमारौ चाँद नीकौ है ॥

केवल प्रतीप की योजना यहाँ देखिएः—

आजु हौं गई ती नंदलाल बृषभानु-भौन,
सुधि ना तहाँ की बुधि नैंकु बहरति है ।

कहै रतनाकर बिलोकि राधिका कौ रूप,
सुखमा रती की ना रतीकु ठहरति है।

बिनोक्ति के साथ प्रतीप की योजना यहाँ देखिएः—

अंजन बिनाहूँ मन-रंजन निहारि इन्हें,
गंजन है खंजन-गुमान लटे जात हैं।
कहै रतनाकर बिलोकि इनकी त्यौं नोक,
पंचबान - बाननि के पानी घटे जात हैं।
स्वच्छ सुखमा की समता की हमता सौं खिले,
बिबिध सरोजनि सौं हौज पटे जात हैं।
रंग है री रंग तेरे नैननि सुरंग देखि,
भूलि भूलि चौकड़ी कुरंग कटे जात हैं।

शरद् के इस वर्णन में अपन्हुति देखिएः—

बिकसन लागे कल कुमुद-कलाप मंजु,
मधुर अलाप अलि अवलि उचारै है।
कहै रतनाकर दिगंगना-समाज स्वच्छ,
कास मिसि हास के बिलासनि पसारै है।
कार-चाँदनी मैं रौन-रेती की बहार हेरि,
याही निरधार ही हुलास भरि धारै है।
जीति दल बादल के परब पुनीत पाइ,
कूल कालिंदी के चंद रजत बगारै है।

यहाँ केवल "कास मिसि हास के विलासनि पसारै है" पंक्ति से प्रयोजन है; क्योंकि अपन्हुति इसी में है। अन्य अलंकारों पर

भी पाठक मुग्ध हो सकते पर उन के उल्लेख की उतनी आवश्यकता नहीं है ।

सादृश्य पर निर्भर रहनेवाले अलंकारों में रूपक का भी महत्व का स्थान है। यह भाव-व्यंजना में सहायता पहुँचाने के साथ ही एक प्रकार के चमत्कार की सृष्टि भी करता है। इसका आधार लक्षणा है। किसी को अधिक साहसी तथा पराक्रमी देखकर हम कहते हैं 'वह सिंह है'; उसी प्रकार किसी भीरु-प्रकृति पुरुष को देख हम उसे सियार कह देते हैं। ऐसी उक्तियों का आधार उपमेय तथा उपमान में प्राप्त होनेवाला गुण-साम्य है। किसी को सिंह बना कर हम उसके पुरुषार्थ आदि की व्यंजना करना चाहते हैं। यही कार्य अविधा के द्वारा भी किया जा सकता था। पर वह बात न आ पाती जो लाक्षणिक प्रयोग से प्राप्त होती है। लक्षणा हम जो कहना चाहते हैं उसकी प्रतिमा खड़ी कर देती है। ऐसी प्रतिमाएँ काव्य-कला के लिए बहुत अनुकूल पड़ती हैं क्योंकि कवि किसी बात की सूचना ही नहीं देना चाहता वह उस वस्तु के प्रति एक भाव भी जगाना चाहता है। किसी मूर्ख पुरुष को केवल मूर्ख या महामूर्ख कह कर हम उसके विषय में कुछ साधारण धारणा उत्पन्न कर सकते हैं, पर उसे 'गदहा' कह कर हम उसकी मूर्खता को साक्षात् सम्मुख खड़ा कर देते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों की परंपरा को ले कर चलनेवाला रूपकालंकार भाव-व्यंजना के लिए बहुत ही आवश्यक उपकरण है। ऐसी उक्तियों में प्रारंभ में कुछ अर्थ संगति में बाधा होती है। यह बाधा

चमत्कार की सृष्टि करती है। इस प्रकार रूपक दोनों कार्यों में—रमणीयता संपादित करने तथा काव्योपयोगी चमत्कार की सृष्टि करने में—समर्थ होता है। पर जब कवि आवश्यक साम्य का विचार न कर इसकी योजना करते हैं तो इसके महत्व तथा उपयोगिता को नष्ट कर देते हैं। परंपरित तथा सांग रूपकों में तो यह आवश्यक साम्य प्रायः नहीं ही प्राप्त हो पाता है। रत्नाकर जी ने रूपकालंकार की योजना बड़ी कलापूर्ण शैली से की है। जब वे देखते हैं कि साम्य बहुत दूर तक नहीं प्राप्त होता तो वे इसका कुछ हलका सा आभास देकर दूसरे अलंकारों की ओर बढ़ जाते हैं। इसी से कवि के प्रायः अलंकारों में रूपक का एक सुंदर पुट मिलता है। उपमा तथा रूपक का वांछनीय मेल तो अनेक स्थानों पर मिलाया गया है। कहीं उपमा का पर्यवसान रूपक में हो गया है तथा कहीं रूपक का पर्यवसान उपमा में हो गया है। एक उदाहरण:—

चलत न चारयौ भाँति कोटिनि बिचारयौ तऊ
दाबि दाबि हारयौ पै न टारयौ टसकत है।
परम गहीली बसुदेव देवकी की मिली
चाह-चिमटी हूँ सौं न खैंचौ खसकत है।
कढ़त न क्यौं हूँ हाय बिथके उपाय सबै
धीर-आक-छीर हूँ न धारैं धसकत है।
ऊधौ ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान धस्यौ
निस-दिन काँटे लौं करेजैं कसकत है।

यहाँ 'चाह-चिमटी', 'धीर-आक-छीर', आदि में रूपक है। पर अंत में पहुँचकर यह रूपक-शृंखला उपमा की सिद्धि में सहायता पहुँचाती है। पाठकों को रत्नाकर जी की कृतियों में ऐसे उदाहरण स्थान स्थान पर मिलेंगे जिनमें रूपक तथा उपमा का अथवा किसी अन्य अलंकार का सामंजस्यपूर्ण गठन किया गया है। अनेक अलंकारों में तो रूपक आधार-भूत उपस्थित हुआ है। सांग-रूपक के ढग के दूर तक चलनेवाले आरोपों में भी कवि ने प्रायः किसी न किसी प्रकार के साम्य का ध्यान रखा है। देखिए:—

प्रथम भुराइ चाय-नाय पै चढ़ाइ नीकैं
न्यारी करी कान्ह कुल-कूल हितकारी तैं।
प्रेम-रतनाकर की तरल तरंग पारि
पलटि पराने पुनि प्रन-पतवारी तैं॥
और न प्रकार अब पार लहिबै कौ कछू
अटकि रही हैं एक आस गुनवारी त।

यहाँ प्रायः ओरोपों का कुछ न कुछ आधार है। जिस प्रकार कुल अमर्यादित उच्छृंखलता का अवरोध करता है उसी प्रकार नदी का तट। कुल की विधियों को शिरोधार्य करके चलनेवाली रमणी को व्यर्थ की विपत्तियों में नहीं पड़ना पड़ता उसी प्रकार नदी-कूल पर बँधी रहने वाली नाव को निमज्जित होने का भय नहीं रहता। गुन शब्द के श्लिष्ट प्रयोग ने भी एक रूपक की सिद्धि में सहायता पहुँचाई है। पर इस आरोप का आधार केवल श्लेष ही नहीं है। प्रेमी यदि आशा की डोरी से बँधा न रहे तो विषम वियोग की

आँधियों से डगमगा कर प्रेम-समुद्र में मग्न हो जाय। जैसे डोर नाव को थामे रहती है, वैसे ही आशा प्रेमी के जीवन का आधार है। इसी प्रकार और साम्यों को भी देखा जा सकता है।

पर कवि द्वारा प्रस्तुत सब रूपकों में ऐसा साम्य पाना असंभव है। देखिए, इसी उदाहरण में साम्य बहुत ही कम मिल रहा है:—

बातनि की ललित लपेट कदली कैं फेंट,
अरथ - कपूर भरपूर सरसत है।
कहै रतनाकर सुकोस लेखिनी कैं सुचि,
आखर कौ रोचन रुचिर दरसत है॥
रूरे रस-सिंधु-अवगाही मति सुक्ति माहिं,
उक्ति-जुक्ति-मुकिनि कौ पुंज परसत है।
सारद-सुसीले मंद-हास स्वाति-बारिद तैं
जब सुखकारि कृपा-बारि बरसत है॥

फिर भी रत्नाकर जी के सांग-रूपक और कवियों के रूपकों की अपेक्षा बहुत ही सफल रहे हैं। संभवतः जितने अधिक सांग-रूपक रत्नाकर जी ने लिखे हैं उतने किसी अन्य हिंदी कवि ने नहीं लिखे। तुलसीदास ऐसे कवियों के सांग-रूपकों में भी कहीं कहीं व्यर्थ का शब्दाडंबर ही प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए 'कामधेनु काशी' वाले रूपक में 'कर्ण-घंटा' मोहल्ले को कामधेनु के गले का घंटा बनाया गया है। यहाँ केवल शब्द-साम्य ही प्राप्त है। ऐसे थोथे साम्यों पर श्रेष्ठ कवि निर्भर नहीं रहते। तुलसीदास जी ने भी ऐसा एक-आध स्थल पर ही किया है। इस में

संदेह नहीं, रत्नाकर जी ने भी आवश्यक साम्य की अनुपस्थिति में भी आरोप किए हैं, फिर भी वे रूपकों के बहुत ही सफल लेखक हैं।

रूपकों की पटरी बैठाने की धुन में कभी कभी कवि ने कुछ त्रुटियाँ भी की हैं। एक उदाहरण देखिए:—

जासौं जाति बिषय-बिषाद की बिवाई बेगि
चोप-चिकनाई चित चारु गहिबौ करै।
कहै रतनाकर कबित्त-बर-ब्यंजन मैं
जासौं स्वाद सौगुनौ रुचिर रहिबौ करै॥
जासौं जोति जागति अनूप मन-मंदिर मैं
जड़ता-बिषम-तम-तोम दहिबौ करै।
जयति जसोमति के लाड़िले गुपाल, जन
रावरी कृपा सौं सो सनेह लहिबौ करै॥

बिवाई पैर में होती है। भगवान् का प्रेम यदि श्लेष के आग्रह से पैर की बिवाई दूर करने लगेगा तो कितना बड़ा दोष होगा। यही त्रुटि है।

परंपरित रूपकों में प्रायः बिना साम्य के योंहीं परंपरा मिलाने को आरोप कर लिया जाता है। रत्नाकर जी ने परंपरित रूपक अधिक नहीं लिखे हैं। कुछ स्थानों पर तो परंपरा-निर्वाह के साथ ही आवश्यक साम्य की भी रक्षा हुई है। एक उदाहरणः—

आप ही सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तोपै
ऊधौ ये बियोग के बचन बतरावौ ना।

कहै रतनाकर दया कार दरस दीन्यौ
दुख हरिबै कौं, तौपै अधिक बढ़ावौ ना ॥
टूकटूक ह्वैहै मन-मुकुर हमारौ हाय
चूकि हूँ कठोर-बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजारयौ मोहिं
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना॥

मुकुर बाह्य स्वरूपों का प्रतिबिंब ग्रहण करता है, मन भावों को ग्रहण करता है। कठोर बाणी पर पत्थर का आरोप भी काव्योचित है। अधिक अभेद तथा न्यून अभेद रूपकों की एक साथ ही योजना यहाँ देखिएः—

अधर-सुधाधर कौं देखति कहा हौ उतै,
देखौ यह सुधर सुधाधर धरा का है।

पृथ्वी का चंद्र (धरा कौ सुधाधर) कहने से न्यून अभेद रूपक सिद्ध हुआ। कवि ने अधिक अभेद रूपक का आभास बड़ी चतुरता से दिया है। यह 'अधर' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग पर निर्भर है। कवि कहता है कि वह चंद्रमा तो अधर में निराधार लटका है। पर यह पृथ्वी का चंद्र एक आधार पर ठिकाने से स्थित है। यही इस चंद्र की अधिकता है।

प्रकृत अर्थात् उपमेय में उपमान के संशय को संदेहालंकार कहते हैं। यह साम्य के आधार पर बहुत आगे बढ़ी हुई कोटि है। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि में प्रकृत पर अप्रकृत का आरोप किया जाता है। इस आरोप की प्रत्येक अलंकार में भिन्न भिन्न शैलियाँ

होती हैं। उपमेय उपमान के बीच संदेह की उद्भावना कर कवि उनमें प्राप्त होनेवाले साम्य की बहुत अधिक व्यंजना करने में समर्थ होता है। जब प्रस्तुत में अप्रस्तुत का संदेह होने लगता है तो यह प्रत्यक्ष ही है कि प्रस्तुत अप्रस्तुत में इतनी अधिक समता है कि दर्शक उनका पृथक् पृथक् निर्देश नहीं कर पाते। यहाँ दोनों कोटियाँ समान रहती हैं। समता के बल उपमेय तथा उपमान एक बार ठीक आमने सामने बैठ जाते हैं। इस अलंकार के ढाँचे को आधार बना कर कवि अनेक अप्रस्तुत एक साथ नियोजित करने में समर्थ होता है। अनेक उपमानों की योजना उपमा-माला इत्यादि में भी संभव है। पर संदेह की शैली से एक साथ ही अनेक उपमान अधिक चमत्कारक होते हैं। प्रायः जब कवि उपमानों की शृंखला को बहुत बढ़ाने लगते हैं तो साम्य की उपेक्षा कर देते हैं। पर श्रेष्ठ कवि संदेह की प्रत्येक नवीन कोटि में प्रकृत अप्रकृत के बीच आवश्यक साम्य को अपना आधार अवश्य बनाए रहते हैं। रत्नाकर जी के शिवा जी की दुधारा के इस वर्णन को देखिए:—

कैधौं खल-मंडल उदंड चंड दंडन कौं,
उद्दत अखंडल कौ अस्त्र दमकत है।
कहै रतनाकर कै जमन-प्रलै कैं काज,
त्र्यंबक कौ अंबक त्रितीय रमकत है॥
कैधौं दीह दिल्ली-दल-बन-घन जारन कौ,
दपटि दवानल सताप तमकत है।

चमकत कैधौं सूर-सरजा-दुधारा किधौं,

सहर सितारा कौ सितारा चमकत है ॥

शिवा जी की दुधारा शत्रुओं के लिए कालरूपिणी है। अतः उसके लिए वैसे ही भयानक उपमान भी रखे गए हैं। पर वह दुधारा सितारा नगर निवासियों के भाग्याकाश की तारक-रूपा है। प्रत्येक उपमान रस की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए नियोजित हुआ है। कहीं भी संदेह की कोटियाँ भिड़ाने की धुन में भाव-विरोधी अथवा शिथिल और उदासीन उपमानों को नहीं भरा गया है। कवि ने अपने संदेह के उदाहरणों में इसका सदा ध्यान रखा है। रत्नाकर जी के अलंकार मिथ्या आडंबर के लिए नहीं आते। रस की व्यंजना में योग देते हुए आते हैं। देखिए इस संदेह से ग्रीष्म की प्रचंडता की कैसी व्यंजना हो रही है:—

कैधौं अति दुसह दवागि की दपेट कैधौं,

बाड़व की बिषम झपेट-झर-झार है।

कहै रतनाकर दहकि दाह दारुन सौं,

उगिलत आगि कैधौं पावक-पहार है॥

रुद्र-दृग तीसरे की कैधौं बिकराल ज्वाल,

फेकत फुलिंग कै फनिंद-फुफुकार है।

कैधौं ऋतुराज-काज अवनि उसास लेति,

कैधौं यह ग्रीषम की भीषम लुआर है॥

हिंदी के कवियों ने इस अलंकार का प्रायः ऐसा ही स्वरूप माना है जिसमें संदेह की कोटियाँ कविता के अंत तक चलती ही रहती

हैं। साहित्यदर्पणकार ने इस अलंकार का एक भेद निश्चयान्त संदेह भी माना है। आदि के संशय का अंत में निश्चय में पर्यवसान हो जाने पर यह भेद माना है। उन्होंने जो उदाहरण दिया है उसका भावार्थ यह है "सरोवर में यह कमल है अथवा किसी तरुणी का मुख शोभित है। क्षण भर संशय करके किसी ने विलासों (विव्वोक) को देख कर—जो कि बकों के साथ पाए जाने वाले कमलों में नहीं प्राप्त होते—यह तरुणी ही है ऐसा निश्चय कर लिया" यहाँ व्यतिरेक के द्वारा उत्थापित संदेह को नष्ट कर दिया गया है। संदेह का चमत्कार क्षण भर भी नहीं ठहर पाता कि निश्चय सामने आ बैठता है। रत्नाकर जी का एक कवित्त इस निश्चयान्त संदेह का अच्छा उदाहरण हो सकता है। वह यह है:—

रोधन कै भानु दुरदिन दुरजोधन कैं,
जोधनि कौं कैधौं रैनि बोधन करायौ है।
कहै रतनाकर द्विविध अंधराज कौ कै,
राजनि पै संगति-प्रभाव दरसायौ है॥
कैधौं सिंधुराज तन जीवन ह्वै धूमधार,
पटल अपार पारि तपन छपायौ है।
मेरी जान कान्ह भक्त-रंजन कृपा कैं पुंज,
नेम पैं धनंजय के छेम-छत्र छायौ है॥

यहाँ कवि ने अंत में अपना निश्चय उपस्थित किया है। पर यह निश्चय भी कवि-प्रतिभोत्थित है। वास्तविक नहीं है। अतः यहाँ संदेह का चमत्कार छिन्न-भिन्न नहीं होने पाया है।

भ्रांतिमान् अलंकार में कवि साम्य के आधार पर संदेह से एक कोटि और आगे बढ़ जाता है। अत्यंत साम्य के कारण जब प्रकृत में अप्रकृत का भ्रम हो जाना दिखाया जाता है तो यह अलंकार होता है। पर यह भ्रम कविप्रतिभोत्थित ही होना चाहिए। वास्तविक भ्रम में अलंकार नहीं होता। यदि किसी को अंधकार में पड़ी हुई रज्जु को देख कर सर्प का भ्रम हो तो यहाँ अलंकार न माना जायगा। बालि तथा सुग्रीव का आकार मिलता-जुलता था। जब वे दोनों मल्लयुद्ध में भिड़े तो रामचंद्र जी ने बालि कौन है, यह नहीं जान पाया। कहीं सुग्रीव के बाण न लग जाय इस आशंका से राम ने बाण नहीं छोड़ा। देखिए:—

एक रूप तुम भ्राता दोऊ, तेहि भ्रम ते मारेउ नहिं मोऊ।

यहाँ भ्रम वास्तविक है। कवि द्वारा अलंकार रूप में आरोपित नहीं है। कवि भ्रम की उद्भावना द्वारा उपमेय तथा उपमान के साम्य की व्यंजना करना चाहता है। यह व्यंजना उपमेय के सौंदर्यादि विधान में सहायक होती है। देखिए, इस उदाहरण में भ्रम कितने भोले ढँग से आया है:—

आजु अति अमल अनूप सुख-रूप रची,
सरद-निसामुख की सुखमा सुहाति है।
कहै रतनाकर निसाकर दिवाकर की,
एकै दुति दोऊ दिसि माहिं दरसाति है॥
कुमुद सरोज अध-मुकुलित देखि परैं,
चाय-बोरी चहकि चकोरी चकराति है।

चलि चलि चकई चपल दुहुँ ओर चाहि,
चकित कराहि औ उमाहि रहि जाति है ॥

शरद्-ऋतु है। सायंकाल का समय है। चंद्रोदय हो चुका है। पर अभी सूर्य्यास्त नहीं हो पाया है। इस ऋतु में सूर्य्य-बिंब कुछ ठंडा सा, निस्तेज-सा, प्रतीत होता है। चकोरी चकरा गई है। निश्चय नहीं कर पाती कि कौन सा चंद्र है। उधर चकई भी चकित हो रही है। यह भ्रम तो जीवधारियों को हुआ है। कुमुद-सरोज भी दिन-रात का निश्चय नहीं कर पाते। वे भी अध-मुकुलित हैं। आधे खिले, आधे बंद। सायंकाल में सूर्य्य बिंब के अदृश्य हो जाने ही पर कमल बंद होते हैं। कभी कभी तो सूर्य्यास्त के पश्चात् भी सूर्य की पहले की गर्मी से उष्णता प्राप्त करते हुए कुछ क्षणों को खिले रहते हैं। कुमुदिनी भी सूर्य्यास्त के कुछ देर पश्चात् चंद्रबिंब के कुछ ऊपर चढ़ने पर खिलती है। ये प्राकृतिक व्यापार हैं। कवि ने इनसे अपने भ्रमालंकार के स्वरूप-साधने में सहायता ली है। वह दिखाना चाहता है कि कुमुद तथा सरोज भी भ्रम में पड़े हैं। अपने विस्तृत प्रकृति-निरीक्षण से कवि ने स्वाभाविकता को ही अलंकार बना दिया है। सिद्ध कवियों को अप्रस्तुत-विधान की सामग्री खोजने के लिए बहुत दूर दूर नहीं भटकना पड़ता। उसकी दिव्य-दृष्टि साधारण उपवन को ही नंदन-कानन बना देती है। एक-आध स्थान पर रत्नाकर जी ने भी कृत्रिम भ्रम की अवतारणा की है। देखिए इस बाल ने कितने पशु-पक्षियों को भ्रम में डाल रखा है:—

बाल-बन-केलि लाल देखन चलौ जू दौरि,
औरै और ना तौ सुख-लौंक लुने लेत हैं।
कहै रतनाकर रुचिर रस-रंग देखि,
भृंग भाँवरे दै भूरि भाग गुने लेत हैं॥
भूलि भूलि कलित कुलंग जुरि दंग भए,
बानी-बीन बिसद कुरंग सुने लेत हैं।

बेचारी बाल कितनी विपत्ति में पड़ी है। भृंग चारो ओर से उसे छोपे हुए हैं। कुरंग उसकी बाणी सुनने को संभवतः चारों ओर चक्कर काट रहे हैं। चकोर-समूह उसके मुखचंद्र के चारों ओर मँड़रा रहा है। जहाँ श्रम-जल-कण दिखाई पड़े कि चकोरों ने चोंच चलाई। संभवतः इन्हीं विपत्तियों के विचार से कवि अपने लाल को दौड़ कर चलने के लिए कह रहा है। संभवतः लाल के वहाँ पहुँचने से बाल की कुछ विपत्ति कटे। ऐसी उक्तियों पर प्राचीन कृत्रिम काव्य-परंपरा का प्रभाव है। रत्नाकर जी की जो उक्तियाँ परंपरा का अनुसरण करनेवाली हैं वे ऐसी ही हैं। पर कवि इस कठोर परंपरा के कठघरे से शीघ्र ही बाहर निकल कर स्वाभाविक काव्य-भूमि पर विचरण करने लगता है।

इन अलंकारों के प्रसंग में स्मरणालंकार का उल्लेख भी आवश्यक है। यह अलंकार प्रायः स्मृति (भाव) से मिल जाता है। जब स्मरण करानेवाली वस्तु तथा स्मरण की हुई वस्तु में उपमेय उपमान भाव हो तो अलंकार माना जाता है। अन्य परिस्थितियों में स्मृति भाव ही माना जाना समीचीन है। महापात्र विश्वनाथ

ने इस अलंकार का जो उदाहरण दिया है उससे इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है:—

अरविंदमिदं वीक्ष्य खेलत्खंजनमञ्जुलम् ।
स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चञ्चललोचनम् ॥

यहाँ क्रीड़ा करते हुए खंजनों से रमणीय कमल को देख कर मुखारविंद का स्मरण हो रहा है। यहाँ दृष्ट वस्तु तथा स्मृत वस्तु में उपमेयोपमान भाव है। पर प्रायः उदाहरणों में अलंकार तथा भाव परस्पर मिल जाते हैं। देखिए —

न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि,
बास-बासना सौं नैंकु नासिका लगायौ है॥
त्यौंहीं कछु घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है॥

कमल को देख कर कमलवदनी राधा का स्मरण हुआ। कमल की मुरझाई हुई अवस्था ने वियोग-वेदना से मुरझाई हुई राधा का स्मरण कराया। यहाँ उपमेयोपमान भाव की प्राप्ति से स्मरणालंकार हुआ। उधर हम कृष्ण की दशा को देख कर यहाँ स्मृति-भाव भी मानने को बाध्य होते हैं। वास्तव में यहाँ दोनों हैं तथा इतने घुले-मिले हैं कि एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा

सकते। पर नीचे के उदाहरण में स्मृति ही माननी पड़ती है स्मरणालंकार नहीं:—

करुना - प्रभाव कल कोमल सुभाव-वारौ,
जन-रखवारौ सदा दिवस त्रिजामा कौ।
कहै रतनाकर कसकि पीर पावै उर,
ध्यान हूँ परे पै दुख दीन नर बामा कौ॥
याही हेत आखत कौ राखत बिधान नाहिं,
पूजा माहिं प्रीतम प्रबीन सत्यभामा कौ।
पांडवबधू कौ बच्यो भात सुधिआइ जात,
छाइ जात नैननि पै तंदुल सुदामा कौ॥

अक्षतों को देख कर सुदामा के तंदुल का स्मरण हो आता है। यहाँ उपमेयोपमान भाव न होने से वास्तविक स्मरण-भाव ही होगा, अलंकार नहीं।

उल्लेख अलंकार की योजना द्वारा भी कवि अनेक उपमान एक साथ सजाने में समर्थ होता है। यह अलंकार चमत्कार उत्पन्न करने के साथ ही रमणीयता भी संपादित करता है। कृष्ण के नेत्रों के इस वर्णन को देखिए:—

कोऊ कहैं कंज हैं कलानिधि-सुधासर के,
कोऊ कहैं खंज सुचि-रस के निखारे हैं।
कहै रतनाकर त्यौं साधा करि कोऊ कहैं,
राधा-मुख-चंद के चकोर चटकारे हैं॥

कोऊ अंग-कानन के कहत कुरंग इन्हैं,
कोऊ कहैं मीन ये अनंग-केतु-वारे हैं।
हम तौ न जानैं उपमानैं एक मानैं यहै,
लोचन तिहारे दुख-मोचन हमारे हैं॥

पर प्रायः यह अलंकार अलंकारान्तर विच्छिति मूलक होता हैं। इसकी योजना के साथ ही किसी अन्य अलंकार का चमत्कार भी प्राप्त होता है। उस अन्य अलंकार का चमत्कार उल्लेख के चमत्कार का सहायक होता है। ऊपर दिए हुए उदाहरण में ही "कोऊ कहैं कंज हैं" इत्यादि में रूपक है। इस रूपक-माला से उल्लेख अलंकार की स्थापना हुई है। इस उदाहरण में अनेक व्यक्तियों द्वारा कृष्ण के नेत्रों को भिन्न-भिन्न रूप में समझे जाने का उल्लेख हुआ है। पर कवि स्वयं भी किसी का अनेक प्रकार से 'उल्लेख' कर सकता है। देखिए इस उदाहरण में ऐसा ही हुआ है:—

सिद्धनि की सिद्धि औ समृद्धि तप-वृद्धनि की
परम प्रसिद्ध रिद्धि प्रेम-निधि बर की।
कहै रतनाकर सुरस - रतनाकर की
सुचि रतनाकर-निधान धूरि छरकी॥
भक्ति की प्रसूति भुक्ति मुक्तिनि की सूति मंजु
परम प्रभूत है बिभूति बिस्व-भर की।
बृंदारक-बृंद जामैं लहत अनंद-कंद
ऐसी रज बंद्य बृंदाबन के डगर की॥

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भाव-व्यंजना के बहुत उपयोगी होता है। यह काव्य-व्यंजना-शैली के बहुत अनुकूल पड़ता है। इसे व्यंजना का ही एक प्रकार मानना उचित होगा। साथ ही यह कुछ बक्रता की भी सृष्टि करता है जो काव्य के बहुत अनुकूल पड़ती है। एक उदाहरण:—

परसत नीर तीर बंजुल निकुंज कहूँ,
 और फल-फूल की न सूल उर ल्यावैं हैं।
कहै रतनाकर पसारे कर गंग ओर,
 सुरपुर-पथ कहूँ तरु बिखरावैं हैं॥
मृग कलहंस बलीबरद मयूर सबै,
 पाइ जल ग्रीवहिं उचाइ मटकावैं हैं।
चंद, चतुरानन, पँचानन, षड़ानन के,
 याननि के हेरि हँसि आनन बिरावैं हैं॥

गंगा का माहात्म्य प्रस्तुत है। उसका प्रत्यक्ष वर्णन न कर कार्य के द्वारा कारण का बोध कराया गया है। मृग इत्यादि का इतना महत्व बढ़ गया है कि वे चंद्र इत्यादि के वाहनों को देख मुँह चिढ़ाते हैं। इस कार्य का कारण क्या है? वही गंगा-स्नान, गंगाजल-पान आदि! चंद्र इत्यादि असंबंधी के साथ संबंध जोड़ने से अतिशयोक्ति भी प्राप्त है। उसी प्रकार यहाँ भी कार्य के द्वारा कारण का बोध कराया गया है:—

बीर अभिमन्यु-मन्यु मन मैं न हुज्यौ मानि,
 जानि अब रन कौ बिधान किमि पैहौं मैं।

पायौ पैठि संगहूँ न रंग-भूमि मैं जब,
जैहै तहाँ को तब जहाँ अब सिधैहौं मैं ॥
कालिह चंद्र-व्यूह पैठिबे के पहिलैं हीं तुम्हैं,
हाल रन-भूमि कौ उताल पहुँचैहौं मैं।
कै तौ तव विजय जयद्रथ सुनैहै जाय,
कै तौ लौ पराजय-प्रलाप आप पैहौं मैं ॥

अर्जुन कहना चाहता है कि "कल या तो मैं जयद्रथ का बध करूँगा या जयद्रथ मेरा बध करेगा।" इसी बात की व्यंजना कैसी बक्रता-पूर्ण शैली से की गई है। अन्योक्ति भी इसी अप्रस्तुत-प्रशंसा का एक भेद है। इसका भी एक उदाहरण देख लीजिए:—

आयसु दै टेरि बलि-पायस खवैएँ खिन
निज गुनरूप की हमायस बढ़ावै ना।
कहै रतनाकर त्यौं बावरी बियोगिनि कैं
कंचन मढ़ाएँ चंचु चाव चित ल्यावै ना ॥
निज तन धारे इंद्र-नंद मति-मंद जानि
मानि दग-हानि हियैं हौंस हुमसावै ना।
हंस कौं दिखावै जा नृसंस गति-गर्व छाक
ए रे काक कोकिल कौं काकली सुनावै ना ॥

कुछ अलंकारों का आधार कारण-कार्य के विषय की विचित्र तथा लोकोत्तर कल्पना होता है। प्रकृति के साधारण व्यापारों का निरीक्षण करके कारण-कार्य के पारस्परिक संबंध के विषय में कुछ सिद्धांत निश्चित कर लिए गए हैं। कवि अपनी सृष्टि में इन सिद्धांतों

को मानने को बाध्य नहीं है। उसकी उर्वर कल्पना ऐसे लोक का सृजन करती है जिसमें कारण-कार्य अपने स्वाभाविक संबंध को छोड़ एक भिन्न ही रूप में उपस्थित होते हैं। इसीलिए उसकी कल्पना लोकोत्तर है। इस लोकोत्तर कल्पना से एक चमत्कार की सृष्टि होती है इसी से यह विचित्र लगती है। अथवा यों कहें कि यह विचित्र लगती है अतः चमत्कृत करनेवाली होती है। लोक में बिना कारण के कार्योत्पत्ति नहीं होती पर कवि विभावनालंकार में बिना कारण के ही कार्य का होना दिखाता है। पर्याप्त कारण की उपस्थिति में कार्य अवश्य होता है। पर विशेषोक्ति अलंकार की योजना कर कवि हमें कारण के उपस्थित रहते हुए भी कार्य के न होने के दृश्य दिखाता है। पहले कारण की उपस्थिति होती है, तब कार्य-संपादन होता है। पर अतिशयोक्ति में कारण-कार्य का एक साथ होना तथा कारण के पहले ही कार्य का हो जाना दिखाया जाता है। जिस स्थान पर कारण की स्थिति होती है उसी स्थान पर कार्य-निष्पत्ति होती है। पर कवि इस स्वाभाविक संगति के विपरीत असंगति के दृश्य उपस्थित करता है। इसी प्रकार विभावना के अन्य भेदों में कारण-कार्य के विषय में कुछ अद्भुत कल्पनाएँ की जाती हैं, जैसे अपर्याप्त कारण से कार्य होना, प्रतिबंधक के होते हुए भी कार्योत्पत्ति, कार्य से कारणोत्पत्ति इत्यादि।

कवि की इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह प्रकृति के स्वभावसिद्ध नियमों को परिवर्तित कर दे। फिर उसकी कल्पना ऐसे अद्भुत दृश्य कैसे उपस्थित कर पाती है? कवि शब्दों की योजना ऐसी करता है जिससे

प्राकृतिक नियमों का खंडन होता हुआ प्रतीत होता है। पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। कवि अपनी सम्मोहिनी सृष्टि से हमें मुग्ध कर देता है; फिर हम तात्त्विक अन्वेषण में तत्पर न होकर उसके साथ-साथ लगे फिरते हैं। ऐसी योजनाओं से चमत्कार की सृष्टि होती है। पर एक कुशल कवि चमत्कार की सृष्टि करते हुए भी अपने लक्ष्य-अर्थात् भाव-व्यंजना पर दृष्टि रखता है। एक प्रश्न और भी विचारणीय है। कवि की इस चमत्कार-योजना रूप साध्य का साधन क्या है? उसकी सहायता लाक्षणिक प्रयोग तथा श्लिष्ट शब्द करते हैं। यहाँ केवल उन लाक्षणिक प्रयोगों से तात्पर्य है जिनमें साम्य के आधार पर एक का अध्यवसान दूसरे पर किया जाता है। जब हम किसी ब्राह्मण को बढ़ई का काम करते हुए देखते हैं तो कहते हैं कि यह बढ़ई है। इसी प्रकार की लक्षणा से अतिशयोक्ति की स्थापना होती है। मुख उपमेय को एक दम से हटा कर चंद-उपमान की स्थापना इसी लक्षणा की सहायता से होती है। पर जहाँ-जहाँ यह विशेष प्रकार की लक्षणा होती है वहाँ-वहाँ अतिशयोक्ति सदा नहीं रहती। जब स्वरूपादि के सौंदर्य की व्यंजना के लिए इस साम्य को आधार बना कर आगे बढ़ा जाता है तो अतिशयोक्ति होती है और जब केवल तात्पर्य-बोध अथवा किसी गुण इत्यादि के कुछ आधिक्य को सूचित करने को ऐसे प्रयोग किये जाते हैं तो वहाँ केवल लक्षणा रहती है। कार्य-कारण के संबंध की कुछ विचित्र कल्पना अतिशयोक्ति अलंकार में भी होती है तथा अभी कहा है कि अतिशयोक्ति की सहायता ही से अन्य अलंकारों की स्थापना

हो पाती है अतः यही उचित होगा कि पहले इसी अलंकार पर कुछ विचार कर लिया जाय। आगे आनेवाले प्रसंगों में कभी-कभी आवश्यकतानुसार यह दिखाते रहना भी आवश्यक होगा कि ऐसे अलंकारों की स्थापना के पीछे अतिशयोक्ति किस प्रकार छिपी रहती है।

अध्यवसान के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति होती है। उपमेय का निगरण करके उपमान के साथ उसके अभेद ज्ञान को अध्यवसान कहते हैं। निगरण से यहाँ केवल अधःकरण से तात्पर्य है। यह अधःकरण उत्प्रेक्षा इत्यादि में साध्य ही रहता है। 'राधा का मुँह मानों चंद्रमा है' कहते समय कवि राधा के मुँह को कुछ पीछे कर चंद्रमा को अधिक सामने लाता है, पर अभी चंद्रमा इतना सामने नहीं आ पाता कि मुख छिप जाय। यहाँ अधःकरण साध्य ही रहता है। अतिशयोक्ति में उपमान सामने आ जाता है तथा उपमेय का निगरण हो जाता है। पर यह अध्यवसान किसी बहुत ही परिचित तथा प्रत्यक्ष साम्य के आधार पर ही संभव होता है क्योंकि यदि किसी नवकल्पित उपमान से उपमेय निगीर्ण होगा तो उसे पहचानना भी असंभव ही हो जायगा। इसीलिए इस प्रकार की अतिशयोक्ति (रूपकातिशयोक्ति) में प्रायः चिरपरिचित उपमान ही रखे जाते हैं। चिरपरिचित सामग्री में नवीनता का प्रायः अभाव ही रहता है। अतः रूपकातिशयोक्ति अलंकार की योजना में प्रायः वैसा चमत्कार नहीं रहता। पर कुशल कवि इस संकुचित क्षेत्र में भी बहुत कुछ नवीनता नियोजित कर सकते हैं। नीचे सूर्योदय के वर्णन को देखिए:—

जाके अरुनच्छद उमंग कौ प्रसंग पाइ,
सुखद सुगंध पौन मंद मंद थरके।
कहै रतनाकर सुमन-गन फूलि उठे,
दिग-बनितानि पै अनूप रूप छरके॥
करत जुहार चारु चहकि उचाइ ग्रीव,
चाय-भरे चपल बिहंग फिरैं फरके।
आयौ देत दिवस बधायौ बर हेम-हंस,
मोती मंजु चुनत सु जोती-पुसकर के॥

यहाँ हेम-हंस के द्वारा सूर्य का स्वरूप निगीर्ण हो गया है, उसी प्रकार मोतियों का उपमेय ओस-कण भी छिपा हुआ है। इस कल्पना के द्वारा कैसा सुंदर स्वरूप उपस्थित किया गया है। कल्पना के भीतर कैसी सुंदर अध्यवसान-परंपरा निहित है। सूर्य के प्रकाश के बढ़ने से क्रमशः ओस-कण नष्ट होते जाते हैं। कवि एक ज्योति-पुष्कर की कल्पना करता है तथा इन ओस-कणों को उसका मोती बनाता है। इन मोतियों को चुनने के लिए एक हेम-हंस भी उपस्थित हो जाता है। रूपकातिशयोक्ति ऐसे अलंकार के भीतर भी कवि ने कैसा अद्भुत कौशल दिखाया है। कवि ने प्रायः ऐसी ही योजनाएँ की हैं। पर कुछ स्थानों पर प्राचीन परंपराभुक्त उपमानों की सहायता से भी अतिशयोक्ति का ढाँचा खड़ा किया गया है। इठलाती हुई नायिका के लिए कभी-कभी ऐंड़ते हुए घोड़े को उपमान-रूप में लाते हैं। इस विधान में यद्यपि इठलान की व्यंजना में कुछ सहायता अवश्य होती है, फिर भी घोड़े का

स्वरूप शृंगार-रस के उतना अनुकूल नहीं पड़ता। प्राचीन कवियों ने भी इसका प्रायः अधिक उपयोग नहीं किया है। देखिए, नीचे अनंग का तुरंग ऐंड़ता हुआ चला आ रहा है:—

तंग अँगिया सौं तन्यौ चोटी सौं चमोटी पाइ
हिय हुमसावत सुढंग चल्यौ जात है।
कहै रतनाकर त्यौं जोबन-उमंग-भरयौ
ग्रीवा तानि उन्नत उतंग चल्यौ जात है॥
पायौ मरुभूमि मैं कहाँ तैं इतौ पानिप जौ
पूरत तरंग अंग अंग चल्यौ जात है।
घूँघट बनाए ठमकत पैंड़ पैंड़ लखौ
ऐंड़त अनंग कौ तुरंग चल्यौ जात है॥

यहाँ पर भी अलंकार-योजना ने पहेली का रूप धारण नहीं किया है क्योंकि ऊपर से इस बात का संकेत मिलता जाता है कि यह घोड़ा वास्तव में क्या है। इसी उपमान की सहायता से कवि ने एक स्थान पर एक अद्भुत दृश्य खड़ा किया है जो देखने में कुछ चमत्कारपूर्ण तो अवश्य है पर किसी सुंदर व्यंजना में योग देता हुआ प्रतीत नहीं होता। नेत्रों का उपमान कुरंग कहा जाता है। यद्यपि मृग-नयनी का तात्पर्य मृगों के नेत्रों के समान नेत्रवाली होता है पर कवि अपनी चमत्कार-योजना करते समय इतना विचार नहीं भी करते। स्त्रियों का घूँघट घोड़े के मुख-सा लगता है। इसी के आधार पर देखिए कैसी योजना की गई है:—

वै दियौ हँसौंहैं हेरि घेरि पट घूँघट कौ,
कै दियौ कुरंग कैद मुख मैं तुरंग के।

ऐसी कल्पनाएँ अधिक भावोपयोगी नहीं होतीं। रत्नाकर जी ने इनकी योजना प्रायः नहीं के समान की है। अतिशयोक्ति अलंकार अनेक अलंकारों का किस प्रकार आधार है यह आगे चल के देखना है। यहाँ इसके उन भेदों को देख लिया जाय जिनमें कारण-कार्य का पौर्वापर्य-व्यत्यय दिखाया जाता है। देखिएः—

बोधि बुधि बिधि के कमंडल उठावत हीं,
धाक सुरधुनि की धँसी यौं घट-घट मैं।
कहै रतनाकर सुरासुर ससंक सबै,
बिबस बिलोकत लिखे-से चित्र-पट मैं॥
लोकपाल दौरन दसौं दिसि हहरि लागे,
हरि लागे हेरन सुपात बर बट मैं।
श्रसन नदीस लागे, खसन गिरीस लागे,
ईस लागे कसन फनीस कटि-तट मैं॥

कारण-कार्य के एक साथ होने का एक उदाहरण और देखिएः—

परी वृषभानुजा तिहारे दृग-बाननि पै,
ज्यौंहीं सुरमे सौं सुठि सान चढ़ि जाति है।
रूप-गुन-गरब-मथैया मनमोहन पै,
त्यौंहीं मनमथ की कमान चढ़ि जाति है॥

कारण के पहले ही कार्य होने का उदाहरण असंगति अलंकार के प्रसंग में आगे देखेंगे। अब क्रम से विभावना आदि को देख लिया

जाय। विभावना में बिना कारण के कार्योत्पत्ति का वर्णन रहता है। देखिए:—

रहति सदाई हरियाई हिय-घायनि मैं
ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है।
पीव-पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति हैं
सोई रतनाकर पुकार पपिहा की है॥
लागो रहै नैननि सौं नीर की झरी औ उठै
चित मैं चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम-धाम ब्रज-मंडल मैं
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है॥

बिना घनश्याम (श्याम वर्ण का मेघ) के ही ब्रजमंडल में वर्षा ऋतु रहती है। इस विभावना का आधार घनश्याम शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है जिसके भीतर अतिशयोक्ति छिपी हुई है। घनश्याम प्रयोग का एक अर्थ (श्यामघन) पहले अर्थ (श्यामवर्ण के कृष्ण) का उपमान है। अतिशयोक्ति ने दोनों को एक कर दिया है। इस एकीकरण में श्लेष से सहायता मिली है। अतः यहाँ श्लेष तथा अतिशयोक्ति-मूलक ही विभावना है। यदि इसे खोल के देखा जायगा तो कारण के अभाव में कार्योत्पत्तिरूप चमत्कार न रहेगा। कृष्ण के वियोग में ही न गोपियों के नेत्रों से आँसू बहते रहते हैं जिन्हें कवि वर्षा की झड़ी के रूप में उपस्थित करता है। ऐसी अवस्था में कृष्ण का वियोग (बिनु घनस्याम के) उस वर्षा की बहार का कारण ही है। पर कवि इस कारण का अपह्नव कर के हमारा ध्यान

श्याम मेघों की ओर ले जाता है। यही चमत्कार का मूलाधार है। लक्षणामूलक अतिशयोक्ति इस अलंकार की स्वरूप-सिद्धि में कैसे सहायक होती है यह इस उदाहरण में देखिए:—

कोकिल की कूक सुनि हूक हिय माहिं उठै,
लूक-से पलास लखि अंग झरसान्यौ है।
करिहौं कहा धौं धीर धरिहौं कहाँ लौं बीर,
पीरद समीर त्यौं सरीर सरसान्यौ है॥
पल पल दूजैं पल आवन की आस जियौ,
ताहू पर पत्र आइ बिष बरसान्यौ है।
अवधि बदी है कल आवन की कंत अरु,
आज आइ ब्रज मैं बसंत दरसान्यौ है॥

नायिका वियोगिनी है। उसे खिले हुए पलासों को देख कर पीड़ा होती है। इस पीड़ा के आधिक्य की व्यंजना के लिए झुलसना शब्द रखा गया है। झुलसाना अग्नि का धर्म है जो पलास में संभव नहीं। पर कवि इस धर्म का अध्यवसान पलास पर करता है। इस अध्यवसान में लक्षणा सहायक है। इस प्रकार अतिशयोक्ति सिद्ध हुई। इसकी सहायता से आगे विभावना सिद्ध हो रही है। झुलसने के लिए स्पर्श आवश्यक है। पर यहाँ झुलसना-रूप कार्य देखने मात्र से (अपर्याप्त कारण से) सिद्ध हो रहा है। यही विभावना है। इस प्रकार यहाँ अतिशयोक्ति तथा विभावना के अंगांगि-भाव से स्थित होने से संकर हुआ। पर सदा अतिशयोक्ति के अंगरूप में प्राप्त होने पर भी संकर नहीं मानते

क्योंकि यह तो, जैसा कहा गया है, प्रायः दूसरे अलंकारों की सहायता को पहुँच ही जाती है। एक बात का निर्देश कर देना आवश्यक होगा। प्रायः अलंकार वाक्यों के ढाँचे पर निर्भर रहते हैं। थोड़े से परिवर्तन मात्र से एक अलंकार के स्थान पर दूसरा आ बैठता है। उदाहरण के लिए यदि यहाँ लिखा जाता कि अंगारों के समान पलासों को देखते हैं नेत्र, पर झुलसते हैं अंग, तो असंगति हो जाती तथा विभावना आदि उसके अंग-रूप में सहायक हो जाते। कुछ स्थानों पर कवि ने शब्दों की योजना ऐसी की है जिससे किसी अलंकार विशेष का कुछ आभास-सा मिल जाता है पर कुछ ध्यान देने पर वह अलंकार टिकता नहीं। ऐसी योजना से एक अद्भुत चमत्कार की सृष्टि होती है। नीचे देखिए, विभावना का-सा कुछ क्षणिक आनंद मिलता है:—

भाव नए चित चाव नए अनुभाव नए उपराजति ही रहै।
आँस सौं नैन उसास सौं आनन गाँस सौं प्राननि छाजति ही रहै।
कीजै कहा रतनाकर हाय अकाज के साजनि साजति ही रहै।
कानन मैं बिन बाजे हुँ बैरिनि काननि मैं नित बाजति ही रहै॥

कानन (जंगल) में बिना बजे भी 'कानन' में (कानों में) बजती रहती है। इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों पर ध्यान जाने के पहले एक भिन्न ही चमत्कार प्रतीत होता है। इस चमत्कार की सृष्टि 'कानन' तथा 'बिनु' शब्दों के योग से होती है।

अब विशेषोक्ति अलंकार का वर्णन प्रसंग-प्राप्त है। पर्याप्त

कारण के उपस्थित रहते हुए भी कार्य के न होने के वर्णन में यह अलंकार होता है। देखिए:—

रूप-रतनाकर-अनूप-ओप आनन पै
बिलुलित लोल लट ललित लटूरी है।
मैन-मद-माते नैन ऐंड़—इठलाते बैन
जोबन कैं ठैन छक्यौ आसव अँगूरी है॥
रोम-रोम रमत निहारैं छबि-पानिप सो
ताहू पै दरस-रस-तृपति अधूरी है।
लहियत प्रान कान्ह लखत हजारनि पै
वारनि की होति तऊ लालसा न पूरी है॥

रोम रोम में पानिप रम रहा है फिर भी तृप्ति नहीं होती। कारण उपस्थित है पर कार्य नहीं होता। यदि हम कुछ सूक्ष्मता से देखते हैं तो कुछ और ही दशा प्रतीत होती है। साधारण पानी से प्यास बुझ जाती है। पर छबि-पानिप कुछ ऐसा अनोखा होता है कि पीने से और भी प्यास बढ़ती जाती है। अतः जिसे यहाँ प्यास बुझाने के कारण-रूप में उपस्थित किया गया है वह प्यास बढ़ाने ही का कारण है। ऐसी अवस्था में प्यास का बना रहना कोई विशेष बात नहीं। पर कवि नहीं चाहता कि उसकी सुकुमार सृष्टि को इतने कठोर तात्विक विवेचन से छिन्न-भिन्न किया जाय। यह विशेषोक्ति भी रूपक-मूलक है क्योंकि यह चमत्कार छबि-पानिप में रूपक मान कर आगे बढ़ने ही से प्राप्त होता है। उसी प्रकार अंतिम पंक्तियों में भी विशेषोक्ति है। इसी प्रकार की एक विशेषोक्ति

और देखिए जिसकी योजना एक मुहावरे की सहायता से हुई है। जब हम किसी को किसी का सदा ध्यान करते देखते हैं तो कह देते हैं कि उसके नेत्रों में तो सदा वही (उसका प्रिय) नाचता रहता है:—

नाचत स्याम सदा इन पै तऊ ये तौ रहैं दिखसाध मैं सानी।
चाहति रूप कौ लाहु लहैं पै सहैं सुख संपति (कै) नित हानी॥
है बिपरीत महा रतनाकर रीति परै इनकी नहिं जानी।
पानिप ही की तृषारत हैं तऊ ढारति हैं अँखियाँ नित पानी॥

नेत्रों पर श्याम सदा नाचते रहते हैं पर 'दिखसाध' पूरी नहीं होती। यह नाचना 'दिखसाध' को पूरी करने का कारण न हो कर उसे और भी बढ़ाने का कारण है। इन उदाहरणों से देखा जा सकता है कि जिसे कारण-रूप में उपस्थित किया जाता है वह कारण न होकर विपरीत ही कार्य का कारण होता है पर कवि कभी मुहावरों की सहायता से कभी लक्षणा की सामर्थ्य से तथा कभी अतिशयोक्ति की प्रतिष्ठा से एक अनोखी ही सृष्टि रचता है। कभी किसी भाव की व्यंजना के लिए यों ही कल्पना कर लेता है। कारण तो वास्तविक रहता है पर उसकी अनुपस्थिति में भी उसकी उपस्थिति मान लेता है। शिवा जी के शत्रु युद्ध में भिड़ने के लिए अपनी फेंटों को कस-कस के बाँधते हैं पर फिर भी उनके सूथन ढीले हो जाते हैं। यह कल्पना शिवा जी के प्रताप तथा आतंक की व्यंजना के लिए की गई है। कस के सूथन बाँधना उनके ठीक प्रकार से बँधे रहने का कारण है। पर इसके वर्तमान रहते भी कार्य

अर्थात् सूथन का ठिकाने से रहना नहीं होता। यहाँ कवि कारण की अनुपस्थिति में भी उसकी कल्पना कर लेता है क्योंकि उनका डर के मारे कस-कस के सूथन बाँधना कवि की कल्पना मात्र है:—

कसि कसि बाँधैं फेंट भेंट करिबे कौ प्रान,
छाने तऊ सूथन ठिकाने ना रहत हैं।

यह अलंकार भी प्रायः अतिशयोक्ति से पोषित होता है। हिंडोले के प्रसंग में कवि ललिता आदि सखियों का वर्णन कर रहा है:—

जिनकौ कछु न कहाइ जदपि स्रुति सेस बखानैं,
चहन लहन अरु कहन आपुनी आपुहिं जानैं।

श्रुति इत्यादि बखान करते हैं पर उनका कुछ भी वर्णन नहीं कर पाते। कारण उपस्थित है पर कार्य नहीं होता। यहाँ अतिशयोक्ति-मूलक ही विशेषोक्ति है। यदि केवल 'जिनका वर्णन श्रुति आदि भी नहीं कर पाते' कहा जाता तो केवल अतिशयोक्ति ही रहती। पर 'बखान' तथा 'कछु' इत्यादि शब्दों की सामर्थ्य से विशेषोक्ति प्राप्त है।

अब 'असंगति' के भी कुछ उदाहरण देख लेने चाहिए। इस अलंकार में प्रतीत होती हुई असंगति कवि-प्रतिभोत्थित होती है। साधारण उक्तियों में जो लोक व्यवहार में स्वाभाविक हैं, यह अलंकार नहीं होता। 'आभूषण तो अंग धारण करते हैं पर तृप्त होते हैं नेत्र' ऐसी उक्तियों में अलंकार नहीं माना जाता। सेवक कवि की एक रचना में असंगति का बहुत ही सुंदर प्रयोग हुआ है। कवि असनी गाँव के रहनेवाले थे, पर अंतिम समय में काशी में रह रहे थे। एक

दिन उन्हें अपने असनीवाले घर के गिर जाने का समाचार मिला। कवि ने छूटते ही कहा कि 'घर तो हमारा असनी में गिरा पर हम तो काशी में ही दब गए'। जहाँ घर गिरता है वहीं कोई उसके नीचे दब सकता है। पर यहाँ बात कुछ असंगत हुई। कारण (घर गिरना) असनी में हुआ तथा कार्य (दब जाना) काशी में हुआ। यह असंगति केवल 'दबने' के लाक्षणिक प्रयोग पर निर्भर है, जिसका व्यवहार अत्यंत विपत्ति में पड़ जाने के अर्थ में होता है। यदि कोई इस बात का आग्रह करे कि इस लौकिक प्रयोग का मूल क्या है तो हम कहेंगे कि वही अभेदाध्यवसान जी अतिशयोक्ति का प्राण है। दो प्रकार के दबने को एक मान लिया गया है। अब रत्नाकर जी का असंगति का एक उदाहरण देखिए:—

सील-सनी सुरुचि सु-बात चलैं पूरब की,
औरै ओप उमगी दृगनि मिदुराने तैं।
कहै रतनाकर अचानक चमक उठी
उर घनस्याम कैं अधीर अकुलाने तैं॥
आसाछन्न दुरदिन दीस्यौ सुरपुर माहिं
ब्रज मैं सुदिन बारि-बृंद हरियाने तैं।
नीर कौ प्रबाह कान्ह - नैननि कैं तीर बह्यौ
धीर बह्यौ ऊधो-उर-अचल रसाने तैं॥

इस कवित्त के अन्य अलंकारों के विवेचन में तत्पर न हो कर हम अंतिम पंक्तियों की असंगति पर विचार करें। जहाँ जल का प्रवाह होता है वहीं कोई वस्तु उसमें बह सकती है। पर यहाँ तो

विपरीत ही गति है। नीर का प्रवाह तो कृष्ण के नेत्रों के तीर (तट पर) बह रहा है पर धैर्य्य ऊधव के हृदय से बहा जा रहा है। इस असंगति का आधार 'बह्यो' प्रयोग है। यदि इसके स्थान पर "धैर्य्य छूटता है' लिखा जाता तो अलंकार सिद्ध न होता। जब हम धैर्य्य के साथ प्रयुक्त 'बह्यो' का अर्थ 'नष्ट होना' समझ लेते हैं तो इस असंगति का संगति में पर्यवसान हो जाता है, क्योंकि अन्य के रोने से किसी अन्य का धैर्य्य छूटना स्वाभाविक ही है। यह कहने की तो संभवतः आवश्यकता नहीं कि यहाँ भी 'बहना' प्रयोग अतिशयोक्ति पर आश्रित है। तन्मूलक ही यहाँ असंगति है। तीर शब्द का प्रयोग भी श्लिष्ट है जो एक ओर प्रवाह के साथ 'तट' अर्थ में सार्थक है, दूसरी ओर नेत्रों के साथ 'निकट' अर्थ में। यदि पाठक चाहें तो अन्य अलंकारों पर भी मुग्ध हो लें। वर्षा ऋतु का कैसा सुंदर दृश्य उपस्थित किया गया है जिसमें वायु के चलने से लेकर जल वृष्टि के पश्चात् नदियों के उमड़ कर बहने तक के सब दृश्य उपस्थित हैं। कवि ने केवल कुछ शब्दों के कलापूर्ण प्रयोग से यह दृश्य उपस्थित किया है। अब नीचे के उदाहरण में कारण के पहले कार्य होने की अवस्था में अतिशयोक्ति तथा कारण-कार्य के भिन्न-भिन्न अधिकरणों में स्थित होने की अवस्था में असंगति, साथ साथ देखिए:—

कत अटवी मैं जाइ अटत अठान ठानि,
परत न जानि कौन कौतुक बिचारे हैं।
कहै रतनाकर कमल - दल हूँ सौं मंजु,
मृदुल अनूपम चरन रतनारे हैं॥

धारे उर-अंतर निरंतर लड़ावैं हम,
गावैं गुन बिबिध बिनोद-मोद-वारे हैं।
लागत जौ कंटक तिहारे पाय प्यारे हाय,
आइ पहिलैं सो हिय बेधत हमारे हैं॥

यहाँ केवल अंतिम पंक्तियों के अलंकारों से प्रयोजन है। काँटा किसी के पैर में लगता है पर बेधता है किसी अन्य के हृदय में। प्रथम तो पैर का चुभा काँटा पैर ही में पीड़ा उत्पन्न करता है, दूसरे जिसके पैर में लगता है उसी के पीड़ा होनी चाहिए। पर यहाँ दोहरी असंगति है। यहाँ काँटे के चुभने से होनेवाली पीड़ा पर अपने प्रिय के कष्ट को देख कर उत्पन्न होनेवाली पीड़ा का अभेदाध्यवसान किया गया है। यह अतिशयोक्ति हुई। इसी की सहायता से असंगति सिद्ध होती है। एक बात और। काँटा लगने की स्थिति तो पीछे प्राप्त होती है पर बेधना रूप कार्य पहले ही उपस्थित हो जाता है। कारण-कार्य के पौर्वापर्य-व्यत्यय से यहाँ अतिशयोक्ति हुई। पर इस अतिशयोक्ति की स्थापना असंगति की स्थापना के लिए अनिवार्य नहीं है। दोनों के चमत्कार के अलग-अलग होने से यहाँ संसृष्टि हुई।

हेतूत्प्रेक्षालंकार को भी इसी प्रसंग में देख लेना उचित होगा। इस अलंकार में वास्तविक हेतु का निगरण करके अहेतु की हेतु रूप से संभावना की जाती है। इसके मूल में भी प्रायः अतिशयोक्ति ही रहती है। हेमंत में ऋतु-सुलभ शैत्य के आधिक्य से नलिनी मुरझा गई है पर इस ऋतु में प्राप्त होनेवाले अन्य पुष्प खिले हुए

हैं। कवि नलिनी के मुरझाने के वास्तविक कारण (शैत्य का आधिक्य) को छिपा लेता है तथा एक अन्य कल्पित हेतु उपस्थित करता है। वह कहता है कि नलिनी ने यह देख कर कि उसका समीर और और कलियों को खिलाने में लगा है मान किया है। वह रूठी हुई है, इसी से मुरझा गई है। रूठने (माख मानने) की क्रिया जड़ पदार्थों में नहीं होती। कवि इसका अभेदाध्यवसान करता है। यही अतिशयोक्ति हेतूत्प्रेक्षा का पोषण कर रही है:—

बिकसन लागे मुचुकुंद लवली औ लोध,
कछु परसौं तैं सरसौं हूँ दलिनी भई।
कहै रतनाकर मनोज-ओज पोषन कौं,
बन उपबन मैं प्रफुल्ल फलिनी भई॥
औरै और कलिनि खिलावत समीर हेरि,
माख मन मानिकै मलिन नलिनी भई।
हेंवँत मैं काम की अपूरब कला सौं चकि,
कोकिल भुलाने कूक मूक अलिनी भई॥

उसी प्रकार कोकिल तथा अलिनी के मूक हो जाने के हेतुओं की उत्प्रेक्षा की गई है।

शिशिर में पृथ्वी पर पाला छाया हुआ है। देखिए इसका क्या कारण है:—

ह्वैकै भय-भीत सीत-प्रबल-प्रभावनि सौं,
पाला माहिं मेदिनी सुगात निज ग्वै रही।

मेदिनी ने शीत से डर कर पाला में अपने अंग छिपा लिए

हैं। जड़ पदार्थों में भय नहीं होता अतः ऊपर ही की भाँति यहाँ भी अतिशयोक्ति सहायता कर रही है। अब इस उदाहरण को देखिए:—

स्रम-जल-कन अति अमल आनि अलकनि अधिकाने।
मनु सिंगार के तार हास मुकता मन माने॥
सोऊ पियप्यारी-अनूप-पानिप सौं लाजैं,
ह्वै पानी च्वै परैं पाय परसन के काजैं॥

श्रम-जल-कण मोती-से होने पर भी पिय-प्यारी के अनूप पानी (कांति) के सामने फीके पड़ जाते हैं। वे पानी होकर गिर रहे हैं। 'लज्जा से पानी पानी होना' एक लोक-प्राप्त प्रयोग है उसी की सहायता से कवि लिखता है कि वे लज्जा से पानी होकर टपक रहे हैं; नहीं तो, वास्तव में वे पानी ही हैं। हाँ, कवि ने कुछ क्षणों को उन्हें मुक्ता अवश्य बना दिया था। यहाँ उनका पानी होना स्वयं अध्यवसान पर निर्भर है। अतः इसमें अतिशयोक्ति हुई। उधर इसके हेतु की जो उत्प्रेक्षा की गई है वह भी अतिशयोक्ति पर निर्भर है क्योंकि न तो मोतियों में लज्जा होती है न श्रम-जल-कणों में। एक ओर हेतु अतिशयोक्ति पर निर्भर है दूसरी ओर कार्य भी। इस प्रकार यह हेतूत्प्रेक्षा सिद्ध हुई। यहाँ हेतूत्प्रेक्षा-रूप अंगी की अतिशयोक्ति अंग-रूप से सहायता कर रही है। यह हुआ अंगांगि संकर। एक बात और। उनके पानी हो कर चूने का उद्देश्य भी है। वे लज्जित हो गए हैं अतः राधा के पैरों का स्पर्श करने को नीचे (पैरों की ओर) टपक रहे हैं। यह फलोत्प्रेक्षा हुई। हेतूत्प्रेक्षा

तथा फलोत्प्रेक्षा दोनों के अलग-अलग सिद्ध होने से संसृष्टि भी हुई। पर यहाँ कुछ अद्भुत ही चमत्कार है जिसे न संकर कहने से संतोष होता है न संसृष्टि। रत्नाकर जी बड़ी अद्भुत कला से एक के भीतर दूसरे अलंकार की योजना करते हैं। पर कहीं भी कृत्रिमता नहीं आने पाती।

पीछे के उदाहरणों में दिखाया जा चुका है कि कवि की रचनाओं में प्रायः एक से अधिक अलंकार एक में मिले रहते हैं। रत्नाकर जी की अनेक रचनाओं में संसृष्टि अथवा संदेह के उदाहरण मिलते हैं। कवि की भाषा में ऐसी चुस्ती तथा लाघव रहता है कि वह अनेक अलंकारों की मैत्रीपूर्ण योजना करने में समर्थ होता है। पर कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उसने बड़े श्रम से अनेक अलंकारों को ठूँस-ठूँस कर भरा है। स्वाभाविकता इनके अलंकार-विधान की सबसे बड़ी विशेषता है। नीचे के उदाहरण में देखिए कितने अलंकारों की झलक एक साथ मिल रही हैः—

सजि सनेह सौं थार आरती उमँगि उतारी,
मनु पतंग बनि दीप देह-दुति पै बलिहारी।

(क) 'मनु पतंग देह दुति पै बलिहारी' में उत्प्रेक्षा स्पष्ट ही है।

(ख) 'पतंग दीप बन कर बलिहारी' है में अपन्हुति की ध्वनि है। यह दीप नहीं है, पतंग है।

(ग) उसकी देह-द्युति के सामने पतंग दीप बन जाता है। यह भाव लेने से प्रतीप हुआ।

(घ) पतंग उसकी देह-द्युति पर बलिहारी है। यह भी प्रतीप हुआ।

(ङ) पतंग तथा दीप में अभेदाध्यवसान करने से अतिशयोक्ति प्राप्त हुई।

(च) पतंग का अध्यवसान करने से असंबंधातिशयोक्ति भी प्राप्त है।

(छ) देह-द्युति उपमेय की पतंग उपमान से अधिकता की व्यंजना हो रही है; पतंग अपने को न्यून पाता है तभी न अपने को न्यौछावर कर रहा है। इस प्रकार यह व्यतिरेक हुआ।

ये तो बहुत ही प्रत्यक्ष अलंकार हैं। आगे बढ़ने से कुछ और अलंकार भी दिखाए जा सकते हैं। ये अलंकार परस्पर इतने मिले-जुले हैं कि संधियाँ लक्षित नहीं होतीं। अतिशयोक्ति तो—जैसा कि अनेक बार दिखाया भी जा चुका है—अनेक उक्तियों में मिली रहती है। एक ही छंद में अनेक अलंकारों का स्फुट तथा एक दूसरे से पृथक् निर्दिष्ट होने योग्य चमत्कार भी प्रायः मिलता ही है। ऊपर ही उद्धृत पंक्तियों में 'स्नेह' शब्द के श्लेष का चमत्कार अलग ही है। नीचे की पंक्तियों में विशेषोक्ति, विचित्र, श्लेष, ऐसे अनेक अलंकार प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं:—

नाचत स्याम सदा इन पै तऊ ये तौ रहैं दिखसाध मैं सानी।
चाहति रूप कौ लाहु लहैं पै सहैं सुख-संपति की नित हानी॥
है बिपरीत महा रतनाकर रीति परै इनकी नहिं जानी।
पानिप ही की तृषारत हैं तऊ ढारति हैं अँखियाँ नित पानी॥

विशेषोक्ति तो पीछे दिखाई ही जा चुकी है। विचित्र यत्न करने से विचित्र अलंकार हुआ। पानिप में श्लेष तथा अतिशयोक्ति दोनों हैं।

पीछे कारण-कार्य से संबंध रखनेवाले, कल्पना पर निर्भर, अलंकारों का उल्लेख हो चुका है। ऐसे अलंकार चमत्कार की सृष्टि करने के साथ ही भावों को रमणीय बनाते हैं। कुछ अलकारों में चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति अधिक होती है। उनसे भाव-व्यंजना में वैसी सहायता नहीं प्राप्त होती। ऐसे अलंकारों में विरोध, विषम इत्यादि लिए जा सकते हैं। रत्नाकर जी ने विरोध अलंकार का बहुत अधिक प्रयोग किया है। यह उनके अत्यंत प्रिय अलंकारों में से एक है। इसके द्वारा कुछ हलकी-सी 'चकपकाहट' उत्पन्न होती है जो अर्थ-संगति पर कुछ ध्यान देने से मिट जाती है। देखिए:—

जब तैं बिलोक्यौ बाल लाल बन-कुंजनि मैं,
तब तैं अनंग की तरंग उमगति है।
कहै रतनाकर न जागति न सोवति है,
जागत औ सोवत मैं सोवति जगति है॥
डूबी दिन-रैन रहै कान्ह-ध्यान-बारिधि मैं,
तौहूँ बिरहागिनि की दाह सौं दगति है।
धूरि परौ प री इहिं नेह दई-मारे पर,
जाकी लाग पाइ आग पानी मैं लगति है॥

'पानी में आग लगना' यही 'विरोध है। यहाँ और भी अनेक

अलंकारों का चमत्कार है। वारिधि में डूबे रहने पर भी आग से दगने में विशेषोक्ति तथा विरोध दोनों हैं। 'ध्यान-वारिधि' में रूपक है। चतुर्थ पंक्ति में क्रम भी है। 'धूरि परौ ए री इहिं नेह दई-मारे पर' में तिरस्कार है। नेह शब्द में श्लेष है। कुछ और भी अलंकार देखे जा सकते हैं। विरोध का एक सुंदर उदाहरण औरः—

मेरी जान सोई महा चतुर सुजान जाकी,
सुमति तिहारैं गुन-गननि ठगी रहै।
कहै रतनाकर सुधाकर सौं उज्ज्वल सो,
जामैं सुभ स्यामता तिहारी उमगी रहै॥
तिहिं मन-मंदिर पतंग दुरभाव नाहिं,
जामैं तव ज्योति की जगाजग जगी रहै।
मगन न होत सो अपार भवसागर मैं,
तव गरुता की जाहि लगन लगी रहै॥

विषम तथा विरोध का मेल यहाँ देखिएः—

फेरै तव सेतता सियाही लेख जातक कैं,
स्नातक कैं अंग राग-रंग ह्वै जगति है।
कहै रतनाकर तिहारी मधुराई कलि-
दाँतनि की पाँतिनि खटाई ह्वै खगति है॥
सीतल सुखारौ जन-हीतल सदाई करै,
रावरे प्रताप की अमाप गूढ़ गति है।
सीत सौं तिहारे ताप-भीत जम-दूत रहैं,
आप सौं अनोखी आगि पाप मैं लगति है॥

व्याजस्तुति अलंकार का आधार विपरीत लक्षणा है। इसमें स्तुति के द्वारा निंदा तथा निंदात्मक शब्दों के द्वारा प्रशंसा की जाती है। यह अलंकार बाह्य वक्रता तथा चमत्कार की सृष्टि करने में बहुत समर्थ है। रत्नाकर जी ने प्रायः इस अलंकार की योजना भक्ति की रचनाओं में की है। गंगा-लहरी, यमुनाष्टक आदि रचनाओं में इसके अनेक उदाहरण हैं। एक उदाहरण देखिए:—

जाइ रतनाकर पै जम यौं दुहाई देत,
अज अखिलेस सेसनाग पै सुवैया की।
देखौ जागि जमुना कुभाय के हिलोरे आप,
पाप-नाव बोरै मम पुर के जवैया की॥
बिधिहूँ के रोष को न राखै परवाह रंच,
ऐसी भई सोख पाइ संगति कन्हैया की।
राखी मरजाद पाप पुन्य की सु राखी गनै,
साखी गनै बाप की न भाषी गनै भैया की॥

इन निंदा-सूचक शब्दों के द्वारा यमुना का महत्त्व बताया गया है।

कुछ और अलंकार देखिए।

परिवृत्तिः—

संग मैं सहेलिनि के जोबन-उमंग-रली,
बाल अलबेली चली जमुना अन्हाइ कै।

कहै रतनाकर चलाई कान्ह काँकर त्यौं,
ठठकि सुजान सखियानि सौं पछाइ कै ॥
दाएँ कर गागरि सँभारि झुकि बाईं ओर,
बाएँ कर-कंज नैंकु घूँघट उठाइ कै ।
दै गई हिये मैं हाय दुसह उदेग-दाग,
लै गई लड़ैती मन मुरि मुसुकाइ कै ॥

यहाँ अंतिम दो पंक्तियों में परिवृत्ति है ।

परिकरांकुर:—

बिन मधुसूदन के मधु की अवाई भई,
कुटिल कला हैं मधुकैटभ कुचाल की ।
कहै रतनाकर जुन्हाई चंद्रहास भई,
त्रिबिध बयारि फुफुकारि फनि-जाल की ॥
आनन कौ रंग उड़ै उड़त अबीर संग,
रंग-धार होति अंग-झार ज्वाल-माल की ।
किरच मुकेस की करद ह्वै करेजैं लगै,
दरद-दरेरे देति गरद गुलाल की ॥

प्रत्यनीक:—

धारि कै हिमंत के सजीले स्वच्छ अंबर कौं,
आपने प्रभाव कौ अडंबर बढ़ाए लेति ।
कहै रतनाकर दिवाकर-उपासी जानि,
पाला कंज-पुंजनि पै पारि मुरझाए लेति ॥

दिन के प्रताप औ प्रभा की प्रखराई पर,
निज सियराई-सँवराई-छबि छाए लेति।
तेज-हत-पति-मरजाद-सम ताकौ मान,
चाव चढ़ी कामिनी लौं जामिनी दबाए लेति॥

सारः—

छीर-फेन कैसी फबी अमल अटारी पर,
आई सुकुमारी प्रान-प्यारी नँद-नंद की।
मानौ रतनाकर - तरंग - तुंग-शृंग पर,
सुखमा सुहाई लसै कमला सुछंद की॥
जैसैं दीप-दीपति पै दीप मनि - दीपति है
दीपमनि पै ज्यौं दुति दामिनि अमंद की।
निखिल नछत्रनि पै चंद की प्रभा है जिमि,
चंद की प्रभा पै त्यौं प्रभा है मुख-चंद की॥

कवि ने मुद्रा, परिसंख्या आदि अलंकारों का प्रयोग प्रायः नहीं के समान किया है। केवल यही एक उदाहरण 'मुद्रा' का मिलता है जिसमें कवियों के कुछ नाम आ गए हैं:—

आवत निहारी हौं गुपाल एक बाल जाकी,
लाग्यौ उपमा मैं कबि कोबिद समाज है।
तरुन दिनेस दिव्य अरुन अमोल पाय,
छीन कटि केहरि औ गति गजराज है॥
संभु कुच मुख पदमाकर दिमाक देव,
तापै घन - आनँद घनेरौ कच-साज है।

छबि की तरंग रतनाकर है अंग मुस-
कानि रस-खानि बानि आलम निवाज है ॥

अधिक (अंतिम पंक्तियों में):—

रूप-रस पीवत अघात ना हुते जौ तब
सोई अब आँस ह्वै उबरि गिरिबौ करैं।
कहै रतनाकर जुड़ात हुते देखैं जिन्हैं
याद किएँ तिन कौं अवाँ सौं घिरिबौ करैं ॥
दिननि के फेर सौं भयौ है हेर-फेर ऐसौ
जाकौं हेरि फेरि हेरिबौई हिरिबौ करैं।
फिरत हुते जू जिन कुंजनि मैं आठौं जाम
नैननि में अब सोई कुंज फिरिबौ करैं ॥

काव्यार्थापत्ति (अंतिम पंक्ति में):—

मानि कासिका कौं सुभ-सासिका बस्यौ हौं आनि
जानि सरनागत कौं स्वगत सुखारे देति।
कहै रतनाकर लखात सही सो तौ सबै
बिबिध बिनोद मोद तन मन वारे देति ॥
पर अब जान्यौ जन भावत न नैंकु याहि
पूँजी ही बिलोकि रोकि आनँद सहारे देति।
जनम अनेकनि की करम - कमाई छीनि
आप की कहै को तीनि लोक सौं निकारे देति ॥

प्रायः उद्धृत उदाहरणों में अनेक अलंकार प्राप्त होते हैं। पर केवल प्रासंगिक अलंकारों का संकेत किया गया है। अत्युक्ति अलं-

कार का प्रयोग रत्नाकर जी ने कुछ स्थानों पर किया है। पर जैसी अस्वाभाविक अत्युक्तियाँ उर्दू साहित्य में मिलती हैं तथा जिनकी परंपरा का कुछ प्रभाव बिहारी आदि हिंदी कवियों की रचनाओं पर भी लक्षित होता है, वैसी रत्नाकर जी की रचनाओं में अधिक नहीं प्राप्त होतीं। जो कवि भाव-व्यंजना की स्वाभाविक भूमि को छोड़ 'बात की करामात' की ओर भटके वही आकाश पाताल को एक करनेवाली कल्पनाओं की सृष्टि करना चाहेगा। पर रत्नाकर जी ऐसे रससिद्ध कवि उधर जाते ही नहीं। विरह-वेदना की व्यंजना करते समय अवश्य कुछ अत्युक्तियाँ की गई हैं:—

दाबि-दाबि छाती पाती-लिखन लगायौ सबै
ब्यौंत लिखिबे कौ पै न कोऊ करि जात है।
कहै रतनाकर फुरति नाहिं बात कछू
हाथ धरयौ ही-तल थहरि थरि जात है॥
ऊधौ के निहोरैं फेरि नैंकु धीर जोरैं पर
ऐसौ अंग-ताप कौ प्रताप भरि जात है।
सूखि जाति स्याही लेखिनी के नैंकु डंक लागैं
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है॥

उद्धव शतक में ऐसी ही एक-आध अत्युक्तियाँ और मिलती हैं। देखिए नीचे कैसी अत्युक्ति की गई है। भगवान् गज की पुकार सुन कर ही उसकी सहायता को गए थे। यहाँ ऐसा वर्णन हुआ है कि भगवान् आधे मार्ग तक पहुँच चुके थे तो उन्होंने गज की पुकार सुनी। गज का उद्धार कर इतनी शीघ्रता से लौट भी गए कि

पच्छिराज जो कि शीघ्र गति से उनके पीछे ही आ रहा था, उनको लौटते समय मार्ग में मिलाः—

> रमत रमा के संग आनँद-उमंग-भरे,
> अंग परे थहरि मतंग अवराधे पै।
> कहै रतनाकर बदन-युति औरै भई,
> बूँदैं छुईं छलकि दृगनि नेह-नाधे पै॥
> धाए उठि बार न उबारन मैं लाई रंच,
> चंचला हू चकित रही है बेग-साधे पै।
> आवत बितुंड की पुकार मग आधैं मिली,
> लौटत मिल्यौ त्यौं पच्छिराज मग आधे पै॥

रस-परिपाटी के भीतर श्रृंगार आदि रसों के रंग कल्पित कर लिए गए हैं। यह कल्पना साधारण अनुभूति तक नहीं पहुँचती। इनके ऊपर काव्योक्तियों को निर्भर करने से उनकी प्रासादिकता तथा बोधगम्यता नष्ट हो जाती है। रत्नाकर जी ने कुछ स्थानों पर ऐसा किया है। देखिएः—

> चहुँ दिसि तैं घन घोरि घेरि नभ-मंडल छाए,
> घूमत, झूमत, झुकत औनि अतिसय नियराए।
> दामिनि दमकि दिखाति, दुरति पुनि दौरति लहरैं,
> छूटि छबीली छटा-छोर छिन-छिन छिति छहरैं॥
> मानहु संचि सिंगार हास के तार सुहाए,
> धूपछाँह के बीनि बितान अतन तनवाए॥

तथा

स्रम-जल-कन अति अमल आनि अलकनि अधिकाने।
मनु सिंगार कैं तार हास-मुकता मन - माने॥

जो लोग रस-पद्धति से परिचित हैं वे, संभव है, इस प्रकार की उक्तियों को अच्छा समझें, पर साधारण भावुकों के हृदय पर ऐसी उक्तियाँ अधिक प्रभाव डालने में समर्थ नहीं होतीं। विद्वान् लोग भी श्रृंगारादि के कल्पित रंगों को जानते तो हैं पर उनके सामने भी किसी रस का नाम लेने से उसका रंग प्रत्यक्ष-वत् खड़ा नहीं हो जाता। अनुराग का लाल रंग अपने साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। तुलसी, सूर, बिहारी आदि ने अपने काव्यों में इसका उपयोग किया है। बिहारी के इस दोहे का भाव अनुराग का लाल रंग मानने ही से लग सकेगाः—

तजि तीरथ हरि-राधिका-तनु-दुति करु अनुराग।
जेहि ब्रज केलि-निकुंज-मग पग पग होत प्रयाग॥

पर इस पद्धति को भी बहुत काव्योपयोगी नहीं माना जा सकता। रत्नाकर जी ने भी इसके अनुसार कुछ रचनाएँ की हैं:—

इत-उत ललित लखाति चटक-रँग बीरबधूटी,
मनहु अमल अनुराग राग की उपजी बूटी।

अलंकार योजना की धुन में कुछ स्थानों पर त्रुटियाँ भी रह गई हैं। ऐसे स्थान अधिक नहीं हैं। पर कुछ लोगों के संतोष के लिए उनका भी उल्लेख आवश्यक है। एक उदाहरणः—

देखत-देखत भए सकल जरि छार छनक मैं।
दारु-पुत्तलनि माहिं लगी मनु आगि तनक मैं॥

लकड़ी की पुतलियों में आग लग तो शीघ्र ही जाती है, पर वे देखते-देखते क्षण भर में राख नहीं हो जातीं। उनके सुलग-सुलग कर राख होने में कुछ समय लगता है। यहाँ यदि अति शीघ्र बल उठनेवाले किसी पदार्थ की पुतलियाँ होतीं तो अधिक संगत होता।

भाषा

कवि का परम साध्य भिन्न-भिन्न भावों की व्यंजना करना है। इस साध्य की पूर्ति के लिए उसे अनेक उपकरणों से सहायता लेनी पड़ती है जिनमें सबसे प्रधान भाषा है। किसी कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा का अध्ययन हम तीन प्रधान दृष्टियों से कर सकते हैं:—

(१) उन विधियों की दृष्टि से जिनका अनुकरण कर कवि अपनी भाव-व्यंजना की आकांक्षा की पूर्ति में सफल हुआ है।

(२) शब्दालंकारों की दृष्टि से जिनकी योजना कर कवि अपनी भाषा के बाह्य-स्वरूप को अलंकृत करने में सफल हुआ है।

(३) व्याकरण की दृष्टि से जिसके अंतर्गत शुद्धाशुद्ध-विवेचन आ जाता है।

सर्व प्रथम हम पहले विभाग को लेते हैं। जिन जिन विधियों का अनुसरण कर कवि भाव-व्यंजना की ओर अग्रसर होते हैं उनकी पूरी तालिका तो बनाई ही नहीं जा सकती क्योंकि कवि की प्रतिभा तथा कल्पना स्वतंत्र है जो नित्य नवीन लोकों की सृष्टि कर हमें चकित तथा मुग्ध किया करती है। पर किसी कवि द्वारा प्रयुक्त कुछ विशेष विधियों की ओर साधारण संकेत अवश्य किया जा सकता है जो उसकी रचनाओं के अध्ययन की ओर अग्रसर होते समय कुछ सहायता पहुँचा सकता है।

शब्दों में विचारों को व्यक्त करने तथा भावों को उद्बोधित करने

की शक्ति अवश्य है पर इस शक्ति का पूर्ण विकास उपयुक्त तथा अनुकूल परिस्थितियों की योजना पर निर्भर है। हम उपयुक्त परिस्थितियों के अंतर्गत बहुत सी बातों को ले लेते हैं। बोधव्य की हृदय-वृत्तियों की विशेषताएँ, सामयिक विशेषताएँ आदि इसीके भीतर आवेंगी। कुछ उदाहरणों से इन परिस्थितियों का काम-चलाऊ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। 'शीतल जल प्रस्तुत है' इस वाक्य को ले लीजिए। इसके भिन्न भिन्न ऋतुओं में तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ेंगे। जेठ की गर्मी में प्यास से व्याकुल व्यक्ति पर जो प्रभाव पड़ेगा वह जाड़े के दिनों में कभी न पड़ेगा। उसी प्रकार 'पानी गर्म किया जा रहा है' इस वाक्य को ले लीजिए। यदि किसी को जाड़े के दिनों में स्नान के लिए पानी की आवश्यकता है तो उसे इस वाक्य को सुन कर संतोष तथा आनंद होगा। पर इसी वाक्य का प्रभाव परिस्थितियों के परिवर्तन से परिवर्त्तित भी हो सकता है। एक रोगी महीनों से ज्वर से पीड़ित है। उसे गर्म जल दिया जाता है। उसके 'पानी लाओ' कहने पर सुनाई पड़ता है 'पानी गर्म किया जा रहा है'। यह रोगी इस समाचार से कुछ बहुत प्रसन्न न होगा। वह सोचने लगेगा कि देखो सब लोग सुराही आदि में ठंढे किए हुए जल को पी सकते हैं पर मेरे लिए 'पानी गर्म किया जा रहा है'। वह अपनी कड़वी जीभ पर उस कुरुचि-पूर्ण पानी का स्वाद अनुभव करने लगेगा।

किसी घटना से अपना संबंध होने या न होने से भी उस विषय के समाचार का प्रभाव भिन्न हो जाता है। 'युद्ध में सब

सैनिक मारे गए' इस समाचार का सब व्यक्तियों पर एक सा प्रभाव नहीं पड़ता। यदि सुननेवाले का उस सेना से कोई भी संबंध नहीं है तो वह इससे अधिक प्रभावित न होगा। यदि वह सेना सुनने-वाले के देश की है तथा वह व्यक्ति देश पर अनुराग रखनेवाला है तो वह सब सैनिकों के मारे जाने के समाचार से क्षुब्ध होगा। पर यदि उस सेना के सैनिकों में सुननेवाले का पुत्र भी रहा हो तो वह इस समाचार से अत्यंत चंचल हो उठेगा। इस प्रकार एक ही समाचार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न भिन्न प्रभाव डालता है। इन्हीं सब विशेषताओं को जिनके कारण शब्दों के या वाक्यों के रागात्मक प्रभाव में भेद पड़ता है हम परिस्थितियाँ कहते हैं। कुशल कवि अपनी पदावली को अनुकूल परिस्थितियों में सजा कर अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। इन सब का विचार किसी कवि की भाव-व्यंजना के अध्ययन के साथ साथ प्रासंगिक होता है। रत्नाकर जी की इस विषय की योग्यता का बहुत कुछ परिचय हमें रस-निष्पत्ति के अध्ययन के साथ प्राप्त हो चुका है। यहाँ कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा पर उसकी परिस्थिति-योजना की दृष्टि से पुनः विचार करना आवश्यक नहीं है। अब तो केवल कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा की मौलिक शक्ति तथा उसकी काव्योपयुक्तता की दृष्टि से विचार करना है।

रागात्मिका तथा बोधात्मिका भेद से हम भाषा की दो शक्तियाँ मान सकते हैं। जिन शब्दों में बोधात्मिका शक्ति अधिक होती है वे दर्शन, विज्ञान आदि विषयों के सूक्ष्म तथा तार्किक विवेचन के

अधिक उपयुक्त पड़ते हैं तथा जिन शब्दों में रागात्मिका शक्ति अधिक होती है वे काव्य के लिए आवश्यक सिद्ध होते हैं। वैज्ञानिक या दार्शनिक अपनी पदावली को काट-छाँट के अपने अनुकूल बनाते हैं। वे शब्दों को खराद पर चढ़ा कर ऐसा कर देते हैं कि वे नियत अर्थ से अधिक या न्यून का बोध नहीं कराते, आवश्यकता के अनुसार विचारों को ठीक-ठीक व्यक्त करते हैं। अपने कार्य में सफल होने के लिए वैज्ञानिक कुछ प्रणालियों से शब्दों का शोधन तथा संस्कार करते हैं जिन पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। पर कवि क्या करता है यह यहाँ का प्रासंगिक आवश्यक विचारणीय प्रश्न है।

जिस प्रकार बुद्धि अपने विचार-क्षेत्र के भीतर बाह्य वस्तुओं को लेती रहती है उसी प्रकार हृदय बाह्य वस्तुओं को अपने राग-क्षेत्र के भीतर लेता रहता है। अपने हृदय की रागात्मिका-वृत्ति के क्षेत्र के भीतर आनेवाली वस्तुओं के दो मोटे विभाग किए जा सकते हैं। कुछ वस्तुओं से हम सुखात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त करते हैं तथा कुछ से दुःखात्मक। यहाँ वस्तुओं के अंतर्गत हम भावों आदि को भी लेते हैं। इन दोनों सुखात्मक तथा दुःखात्मक अनुभूतियों के लिए हम एक शब्द 'संवेदन' का प्रयोग कर सकते हैं। हमारे हृदय में संवेदन को ग्रहण करनेवाली वृत्तियाँ उपस्थित हैं। बाह्य वस्तुओं के संसर्ग से ये वृत्तियाँ प्रभावित होती रहती हैं। कवि के उद्देश्य की पूर्ति इन रागात्मिका वृत्तियों को उच्छ्वसित करने में हैं। इसके लिए कवि को संवेदन के स्वरूप को मूर्त्त तथा ग्राह्य रूप में उपस्थित

करना पड़ता है। इस कार्य में लक्षणा शक्ति कवि की बहुत सहायता करती है। लक्षणा भावों को ऐसे गोचर (मूर्त्त) रूप में उपस्थित करती है कि वे सुग्राह्य होकर हमारे हृदयों से अपना रागात्मक संबंध स्थापित करते चलते हैं। किसी व्यक्ति के हृदय में कुछ अनुकूल परिस्थितियों के उपस्थित होने से आनंद हुआ है। कवि चाहता है कि श्रोता भी इस आनंद का निकटतम संवेदन प्राप्त करें। कवि के लिए उस आनंद का प्रत्यक्षीकरण करना आवश्यक है। कवि उस आनंद मग्न व्यक्ति के लिए कहता है कि उसका हृदय हरा हो गया। जब समय पर वृष्टि होने से पादपों को अनुकूल जल मिल जाता है तो वे हरे हो जाते हैं। यदि पादपों के भी हृदय मान लिया जाय तो उनका हरा-भरा होना उनके आनंद का बाह्य प्रत्यक्षीकरण या फल होगा। यद्यपि जीवधारी आनंद की अवस्था उपस्थित होने पर स्वरूपतः हरे (वाच्यार्थ के द्वारा) नहीं होते पर कवि वनस्पति जगत् में प्राप्त होनेवाले एक दृश्य का मनुष्य - जगत् में प्राप्त होनेवाले संवेदन पर आरोप करता है। ऐसे आरोप लक्षणा के द्वारा प्राप्त होते हैं तथा भाव-व्यंजना के लिए बहुत ही आवश्यक उपकरण हैं। रत्नाकर जी ने ऐसे काव्योपयोगी प्रयोगों का सदा ध्यान रखा है। वहीं, अश्वमेध के घोड़े के चोरी जाने का प्रसंग है। गणितज्ञ ग्रहों आदि की गणना कर यह फल बताते हैं:—

है मिलिबौ स्रम-साध्य दैव पर अंत मिलैहै।
ह्वैहै सुभ परिनाम आदि अति असुभ लखैहै॥

महाराज को यह आशा-जनक संवाद सुन कर अत्यंत प्रसन्नता

हुई। कवि लिखता है—

मख राखन कौ रंग पाइ नरपति हरियाने।
मानौ सूखत सालि-खेत पर घन घहराने॥

'हरियाने' कैसा सुंदर लाक्षणिक प्रयोग है। यहाँ पर कवि ने रंग शब्द का कैसा सार्थक प्रयोग किया है। शब्द श्लिष्ट (ढंग तथा रंग) होने से 'हरियाने' के चमत्कार में वृद्धि कर रहा है। 'हरियाने' का वाच्यार्थ तो 'हरा होना' ही है। हरे होने के लिए रंग की आवश्यकता है। इस आवश्यकता-पूर्ति में आभास-रूप से 'रंग' शब्द सहायक हो रहा है। ऐसे प्रयोग बड़ी सूझ तथा प्रतिभा के फल होते हैं। अपने प्रस्तुत कवि में ये गुण कितनी अधिक मात्रा में वर्त्तमान हैं।

घर में संपत्ति होने से लोगों को दूर की सूझती है। जब पास में धन नहीं रहता तो दृष्टि कुंठित-सी हो जाती है, चारो ओर अँधेरा सा लगता है। उसके घर में संपत्ति का उजेला है आदि प्रयोग प्रचलित ही हैं। पुत्र न होने से कुटुंब की आगे समृद्धि होने की आशा नहीं रहती। आशा के इस अभाव को व्यक्त करने के लिए लक्षणा हमें एक शब्द प्रदान करती है। देखिए वही गंगा-वतरण का प्रसंग है। सगर के आगे कोई पुत्र नहीं है:—

भव-बैभव कौ जदपि भूप-गृह अमित उज्यारौ।
तउ इक सुत कुल-दीप बिना सब लगत अँध्यारौ॥

यहाँ 'उज्यारौ' तथा 'अँध्यारौ' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। न वैभव से वास्तविक उजाला होता है, न पुत्र के अभाव से ऐसा

अँधेरा छाया रहता है कि दिन में भी दिया चासना पड़े। पर ये दोनों प्रयोग वर्ण्य बात को गोचर बना कर हमारे हृदय के पास तक पहुँचा देते हैं। पुत्र न होने से जो कष्ट होता है वह दिखाई नहीं पड़ता पर दीपक न होने से काला काला चतुर्दिक छाया हुआ अंधकार प्रत्यक्ष रहता है। उसी प्रकार वैभव के द्वारा प्राप्त आनंद, आशा आदि की व्यंजना 'उज्यारौ' से हो रही है। 'अँध्यारौ' के साथ 'कुल-दीप बिना' प्रयोग की संगति भी ध्यान देने योग्य है। जब दीप नहीं है तो अँधेरा होगा ही।

हमारे देश के उष्ण होने से यहाँवालों को शीतल वस्तुएँ अत्यंत प्रिय हैं। इसी से शीतलता लक्षणा द्वारा संतोष आदि की व्यंजना करने में सहायक होती है। 'छाती ठंढी होना' ऐसे प्रयोग इसी लक्षणा के फल हैं। 'हृदय जुड़ाना' आदि भी ऐसे ही प्रयोग हैं। भगीरथ के कठोर तप से प्रसन्न होकर ब्रह्मा वर प्रदान करने को उपस्थित हुए हैं। महाराज वहां एक 'चुल्लू' भर पानी माँगते हैः—

अति उदार करतार जदपि तुम सरबस-दानी।
हम लघु जाचक चहत एक चिल्लू-भर पानी॥
ताही सौं तप-ताप दूरि करि अंग जुड़ैहैं।
ताही सौं सब साप दाप पितरनि के जैहैं॥

यहाँ 'जुड़ैहैं' शब्द लाक्षणिक है। इसके द्वारा संतोष आदि की व्यंजना हो रही है। यद्यपि जुड़ाने के द्वारा वैसा कोई मूर्त्त रूप सामने नहीं उपस्थित होता जैसा 'अँधेरे' आदि के द्वारा

उपस्थित होता है, पर फिर भी यह संवेदन के स्वरूप को अधिक स्थूल बनाता है। यह विधि भी काव्य के लिए उपयोगी है। हम बाह्य संवेदन का आभ्यंतर प्रत्यक्षीकरण ज्ञानेंद्रियों के द्वारा करते हैं। पर सब ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त संवेदनों का स्वरूप एक-सा नहीं होता। कुछ ज्ञानेन्द्रियाँ संवेदन का अत्यंत सूक्ष्म स्वरूप ग्रहण करती हैं, कुछ अत्यंत स्थूल। उदाहरण के लिए उन वस्तुओं का ज्ञान हम अधिक प्रत्यक्ष-सा कर पाते हैं जिन्हें हम देख या छू सकते हैं। जिन वस्तुओं का हम स्वाद ले सकते हैं उनका भी संवेदन हमारे सामने अधिक प्रत्यक्ष हो जाता है। लक्षणा की यह प्रणाली है कि वह सूक्ष्म संवेदन को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय की अनुभूति या आस्वाद-सुख पर अधिक स्थूल या मूर्त्त संवेदन को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय के आस्वाद-सुख का आरोप करती है। उदाहरणार्थ 'मीठी बोली' प्रयोग ले लीजिए। मीठी वस्तु का ज्ञान जिह्वा से होता है कानों से नहीं। बोली कानों से सुनि जाती है। पर किसी की बोली को सुन कर जो आनंद प्राप्त होता है वह 'मीठी' विशेषण से अधिक मूर्त्त-सा हो जाता है। इसी प्रकार 'कठोर वचन' प्रयोग में। कठोरता का अनुभव हमें स्पर्श से होता है श्रवण से नहीं। पर लक्षणा संवेदन को मूर्त्त या ग्राह्य बनाने के लिए ऐसे प्रयोग करने की प्रेरणा करती है। भोला मुँह, सीधी बात, फूटा भाग्य, कुंद बुद्धि, नशीले नेत्र, ऊँचा मन, टेढ़ा प्रश्न आदि प्रयोग ऐसी ही लाक्षणिकता के प्रसाद हैं। लावण्य आदि शब्दों की उत्पत्ति के भीतर भी ऐसी ही लक्षणा छिपी है। रत्नाकर जी ने

ऐसे प्रयोगों को अपनाने का सदा ध्यान रखा है। शिशिर के अंत में ठंढक कुछ कम होने लगती है। 'गुलाबी जाड़ा' प्रयोग प्रसिद्ध ही है। देखिए इसका कैसा सुंदर प्रयोग हुआ है:—

मंजुल मकंदनि के कोंपल सचोप लखैं,
लागे गान गुनन मलिंद छिन द्वैक तैं।
कहै रतनाकर गुलाबनि मैं बौंड़ी लगीं,
औंड़ी ओप और ही अनूप इन द्वैक त॥
केसरि-कुरंगसार-लेप न सुहात अंग,
कन घनसार के मिलावैं किन द्वैक तैं।
दाबी रहै हौंसनि की हुमस न ही मैं अब,
फाबी फाब सीत पै गुलाबी दिन द्वैक तैं॥

'गुलाबी' प्रयोग केवल जाड़े की कमी की ही सूचना नहीं दे रहा है, यह फाल्गुन के प्रारंभ के दिनों के उल्लास आदि को भी प्रत्यक्ष कर रहा है। गुलाबी वस्तु का ज्ञान नेत्रों के द्वारा होता है। जाड़े की कमी नेत्रों से नहीं देखी जा सकती। पर कवि लक्षणा के सहारे शिशिर के अंत की सब अनुभूतियों को गोचर-सा कर देता है। 'हौंसनि की हुमस न ही मैं अब' के द्वारा कवि उन दिनों की उमंग के वेग की व्यंजना कर रहा है। उमंग (हौंस) रोके नहीं रुकती।

जब प्रसंग प्राप्त हो गया है तो एक अन्य विशेषता के विषय में भी विचार कर लिया जाय। यह पंक्ति देखिए:—

फाबी फाब सीत पै गुलाबी दिन द्वैक तैं।

यहाँ 'दिन द्वैक तैं' प्रयोग विचारणीय है। दो दिनों के उल्लेख

की क्या आवश्यकता थी। कवि किसी भाव को ग्रहण करने योग्य बनाने के लिए उसका कुछ आधार प्रस्तुत करता है। इस आधार पर विश्राम लेकर कल्पना और भी वेग से आगे बढ़ती है। 'दो दिन' कह कर कवि हमारी कल्पना को टिकने के लिए एक निश्चित भूमि प्रस्तुत करता है। ऐसी बातें हमारे सामने वर्ण्य वस्तुओं, दृश्यों आदि का और भी सजीव चित्र प्रस्तुत करती हैं। यही बात नीचे की पंक्तियों में कवि ने 'कछु परसौं तैं' कह कर की है:—

बिकसन लागे मुचुकुंद लवली औ लोध,
कछु परसौं तैं सरसौं हूँ दलिनी भई।
कहै रतनाकर मनोज-ओज पोषन कौं,
बन उपवन मैं प्रफुल्ल फलिनी भई॥

अब लक्षणा के प्रस्तुत प्रसंग पर आइए। अभी कहा जा चुका है कि लक्षणा की प्रेरणा ही से लावण्य आदि शब्दों की उत्पत्ति होती है। नीचे की पंक्तियों में 'सलोनी साँझ' का सुंदर प्रयोग देखिए:—

मनि-गन लागत तुम्हैं तौ उड़गन आली,
फनि मनि-माली लौं हमैं सो डरपावै है।
खेलौ हँसो जाइ जाहि भावत सलोनी साँझ,
ह्याँ तौ जरे माँझ सो लुनाई लोन लावै है॥

'सलोनी' विशेषण कितनी सूझ तथा भावुकता का फल है। सलोनी का वाच्यार्थ होता है 'नमक वाली' तथा लक्ष्यार्थ 'सुंदर'। जो संयोगिनी है उसे तो साँझ सुंदर लगती है। पर जो वियोगिनी

है उसे और भी कष्ट देती है। वियोगाग्नि से तो वह जली ही है, सलोनी साँझ से उसे और भी कष्ट पहुँचता है। जले में नमक लगता है।

जिस प्रकार शरीर पनपना, मन हरा होना आदि प्रयोगों में लक्षणा के द्वारा बाह्य जगत् की विशेषताओं का आरोप मनुष्यों की विशेषताओं पर किया जाता है उसी प्रकार मनुष्यों की विशेषताओं का आरोप भी बाह्य जगत् की वस्तुओं पर किया जाता है। 'हँसता हुआ मकान' एक बहुत ही प्रसिद्ध प्रयोग है। हँसते मनुष्य हैं पर लक्षणा मकानों को भी हँसा सकती है, कुओं को भी अंधा बना सकती है। इसी शैली पर रत्नाकर जी ने भी कुछ प्रयोग किए हैं। नीचे कदंबों के पुलकने का प्रयोग देखिए:—

> छाई सुभ सुखमा सुहाई रितु पावस की,
>
> पूरब मैं पच्छिम मैं उत्तर उदीची मैं।
>
> कहै रतनाकर कदंब पुलके हैं बन,
>
> लरजैं लवंगलता ललित बगीची मैं।

गेंद उछलती है उमगती नहीं है। पर गोपियों को कृष्ण की गेंद उमगती हुई प्रतीत हो रही है। गोपियाँ असूया-मिश्रित प्रेम की दृष्टि से देख रही हैं। कृष्ण की गेंद कितनी भाग्यवती है कि उनके हाथों का स्पर्श करती है, उन्हीं हाथों का जिन्हें पाने को गोप-वधूटियाँ तरस रही हैं। इस सौभाग्य के मद में यदि वह जड़ गेंद भी उमगने लगे तो कौन आश्चर्य! प्रेम की स्निग्धता से सिक्त-हृदय व्यक्ति संसार को यों ही न एक भिन्न रूप में देखने लगता

है। गोपियों का प्रेम उनके हृदय में ही न समा कर बाहर उमड़ पड़ा है तथा जड़ों को भी चेतन बना रहा है:—

कंदुक हूँ उमगै कर पाइ, सखी हमहीं सब भाँति अभागी।
रोकति साँसुरी पाँसुरी मैं, यह बाँसुरी मोहन कैं मुख लागी॥

'इतराना' इत्यादि क्रियाएँ निर्जीव पदार्थों में संभव नहीं हैं। पर कवि को कन्हैया का मुकुट इतराता प्रतीत होता है:—

चारु चंद्रिका फूलनि की सोहति उत भाई,
लालन की मति जाहि निरखि बिन मोल बिकाई।
सिर चढ़ि इत इतरात मुकुट त्यौं फूलनि ही कौ,
बरबस बस कार लेनहार चित चतुर लली कौ।

किसी एक ही कार्य के दो स्वरूपों को लेकर जो भिन्न-भिन्न लाक्षणिक प्रयोग प्रचलित होते हैं वे कभी कभी तो आपस में एकदम न मिल कर भिन्न ही भावों की व्यंजना करते हैं। उदाहरण के लिए किसी नदी के उमड़ कर बहने को लीजिए। इस व्यापार से केवल उमड़ने के दृश्य या स्वरूप को लेकर हृदय उमड़ना, आनंद उमड़ना आदि प्रयोग निकले। ऐसे लाक्षणिक प्रयोगों के भीतर नदी के उमड़ने का साम्य अवश्य छिपा रहता है। पर नदी के उमड़ कर बहने से गाँवों के विनष्ट होने, कृषकों की भूमि के जलमग्न होने, अनेक प्राणियों के मरने आदि के अप्रिय कार्य भी हो सकते हैं। इन सब पर ऐसे प्रयोगों में ध्यान नहीं दिया जाता। लक्षणा केवल उमड़ने के वेग पर ध्यान रख कर प्रयोग को ग्रहण कर लेती है। एक उदाहरण:—

सोभा-सुख-पुंज वा निकुंज उमड़्यौ सौ आज
ग्वाल गयौ कोऊ इमि कहत कहानी सी ।

नदी के उमड़ कर बहने से जो विनाशकारी कार्य होते हैं उन पर ध्यान रख कर 'बह जाना' प्रयोग चला । इसका एक उदाहरण देखिए:—

औसर परे पर अब रंचहू कृपाल सुनौ,
चूक जौ परी तौ हियैं हूक रहि जाइगी ।
आयौ कहूँ नीर जौ अधीर इन नैननि तौ,
एती सब साधना वृथा ही बहि जाइगी ।

यहाँ 'बह जाने' का अर्थ नष्ट होना है जो पानी आदि में बह कर नष्ट हो जाने से प्राप्त हुआ है ।

कवि प्राय: लाक्षणिक प्रयोगों की उद्‌भावना किसी न किसी प्रयोजन से करता है । इन्हें हम 'प्रयोजनवती लक्षणा' के भीतर ले सकते हैं । क्रमशः व्यवहार में आते आते ये प्रयोग रूढ़ हो चलते हैं । इन्हीं रूढ़ लाक्षणिक प्रयोगों को हम मुहावरा कहते हैं । यदि हम अन्वेषण करें तो अधिकांश मुहावरों के पीछे किसी न किसी लाक्षणिक वक्रता की शक्ति को काम करता पावेंगे । पर लोक में इन प्रयोगों के इतना प्रचलित हो जाने से हमारा ध्यान उधर नहीं जाता । लाक्षणिक प्रयोगों के लिए आवश्यक अर्थ की अनुपपन्नता या असंगति अभी भी मुहावरों में पाई जाती है । पर प्रारंभ में जब ऐसे प्रयोग चले होंगे तो लोगों ने विरोध से प्राप्त होनेवाले चमत्कार का अवश्य अनुभव किया होगा । चल पड़ना, बोल उठना, मार बैठना,

लड़ बैठना आदि अगणित प्रयोग हमारी भाषा में चल रहे हैं, जिनका अध्ययन अत्यंत मनोरंजक हो सकता है। यद्यपि अति परि-चय से लाक्षणिकता की नवीनता घिस गई है पर ऐसे प्रयोगों में साधारण प्रयोगों की अपेक्षा कुछ अधिक शक्ति अभी भी वर्त्तमान है। उदाहरण के लिए दो प्रयोगों को ले लीजिए। 'मोहन ने मुकुंद को मारा' तथा 'मोहन मुकुंद को मार बैठा'। साधारण दृष्टि से इनमें अधिक अंतर नहीं प्रतीत होता पर वास्तव में दोनों प्रयोगों के द्वारा भिन्न-भिन्न भावों की व्यंजना हो रही है। 'मोहन मार बैठा' से प्रतीत होता है कि जब उसके ऐसे बुरे काम के कर बैठने की कोई आशंका न थी तब उसने ऐसा किया, तथा दर्शकों को इस कार्य से क्षोभ हुआ। मोहन को इस काम से खेद या पश्चात्ताप कुछ नहीं हुआ, इसका भी आभास उसके निश्चिंत होकर बैठने से मिलता है। नीचे की पंक्तियों में मुहावरे की शक्ति देखिए:—

जाउँ जम-गाउँ जौ समेत अपराधनि के,
तौ पै तिहिं ठाउँ ना समाउँ उबरयौ रहौं।
कहै रतनाकर पठावौ अघ नासि जु पै,
तौ पै तहाँ जाइबे की जोगता हरयौ रहौं॥
सुकृत बिना तौ सुर-पुर मैं प्रबेस नाहिं,
पर तिन तैं तौ नित दूर ही टरयौ रहौं।
तातैं नयौ जौलौं ना निवास निरमान होइ,
तौ लौं तव द्वार पै अमानत परयौ रहौं॥

सुकृत से दूर ही टला रहता हूँ का भाव तो यही है कि मैं

पुण्य नहीं करता, पर, मुहावरे ने इस भाव में कुछ विशेषता उत्पन्न कर दी है। हम जिस वस्तु से घृणा या द्वेष करते हैं या जिससे डरते हैं उससे दूर ही रहते हैं। पुण्यों से दूर ही टले रहने का भाव हुआ कि हम पुण्यों का संपादन नहीं करते केवल इतना ही नहीं है, हमें उनसे कुछ विराग-सा तथा उनके प्रति कुछ उपेक्षा-सी है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि मुहावरे साधारण उक्तियों की अपेक्षा भावों को अधिक मार्मिकता से प्रकट करते हैं। इसका कारण उनके मूल में रहने वाली सांकेतिकता या लक्षणा है। संकेत से कही हुई बात अधिक मार्मिक होती है। रसों को इसी लिए व्यंग्य माना गया है। पर मुहावरों की सांकेतिक वक्रता जहाँ उन्हें एक ओर भावों को व्यक्त करने के योग्य बनाती है वहाँ दूसरी ओर तथ्यों की सूक्ष्म तथा सतर्क व्यंजना के अयोग्य। दार्शनिक तथ्यों को हम मोटे प्रतीकों से नहीं प्रकट करते। संकेत मार्मिक होने के साथ ही स्थूल होते हैं। अतः सूक्ष्म दार्शनिक विवेचन के लिए ये अयोग्य सिद्ध होते हैं। इसी लिए काव्यों में इनका उपयोग आवश्यक होते हुए भी विवेचनात्मक पुस्तकों के लिए अनावश्यक है।

हिंदी भाषा के पास मुहावरों की बहुत बड़ी शक्ति है। अधिकांश मुहावरों का विकास हमारी भाषा की स्वतंत्र शक्ति तथा प्रकृति से हुआ है। फ़ारसी आदि भाषाओं से आए हुए प्रयोगों की संख्या अधिक नहीं है। पर यह देख कर आश्चर्य होता है कि इनके प्रयोग का जितना आग्रह उर्दू लेखकों या कवियों को

रहा उतना हिंदी कवियों को नहीं। उर्दू की बहुत कुछ वक्रता तथा परिष्कार का श्रेय मुहावरों को है। उर्दू कविताओं में भी इनका बहुत ही सूक्ष्म तथा मार्मिकता से प्रयोग हुआ है। यद्यपि मुहावरों की विधियों के पालन के अति कठोर आग्रह ने कभी कभी भाषा के विकासोन्मुख प्रवाह का अवरोध भी किया फिर भी उर्दूवालों के मुहावरों के अनुराग से उनकी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति बहुत कुछ बढ़ी। व्रजभाषा या अवधी के पुराने कवियों ने लोकोक्तियों का तो योग समुचित किया पर मुहावरों की ओर ध्यान नहीं दिया। कविवर ठाकुर की रचनाओं में लोकोक्तियाँ कितनी सजीवता तथा स्वाभाविकता से आई हैं। व्रजभाषा के किसी कवि में यदि मुहावरों की वक्रता मिलती है तो कविवर बिहारीलाल में। खड़ी बोली के कवियों ने तो इन विधियों का बहिष्कार ही कर रखा है। कविवर रत्नाकर ने फ़ारसी, उर्दू आदि साहित्यों का अच्छा अध्ययन किया था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू में हुई थी। उच्च कक्षाओं में अँगरेज़ी के साथ साथ फ़ारसी का अध्ययन चलता रहा। ऐसी परिस्थितियों में उनका ध्यान इन भाषाओं की विशेषताओं की ओर जाना स्वाभाविक था। अपनी भाषा की स्वतंत्र प्रकृति का पूरा ध्यान रखते हुए उन्होंने भाषा में नवीनता का योग किया है। वह व्रजभाषा की उपेक्षा के दिन थे। पर रत्नाकर जी के कलापूर्ण हाथों में पड़ भाषा फिर निखर आई। उसमें नवीन आकर्षण तथा नवीन जीवन प्रतीत होने लगा। इन दिनों में भी खड़ी बोली के उग्र आंदोलन की आँधी के बीच लोगों का ध्यान एक बार फिर व्रजमाधुरी

की ओर आकर्षित हो जाने का श्रेय रत्नाकर की मँजी हुई भाषा को है। रीतिकाल के पिछले कवियों की मनमानी से भाषा बहुत कुछ विकृत हो चुकी थी। द्विजदेव तथा हरिश्चंद्र ने उसका बहुत कुछ संस्कार किया तथा रत्नाकर ने उसमें नवीनताओं की योजना कर उसे फिर नवयौवन प्रदान किया। कवि ने मुहावरों के प्रयोग में बहुत सी काव्योपयोगी विशेषताओं का योग किया है। उनमें से यहाँ कुछ का परिचय प्रासंगिक होगा।

कुछ उक्तियों का सारा चमत्कार मुहावरे की वक्रता पर ही निर्भर है। नीचे 'मन लेना' प्रयोग की सहायता से कैसी सुंदर उक्ति कही गई है। यद्यपि यहाँ लेने का अर्थ वश में करना ही है, पर कवि इसके साधारण अर्थ के सहारे शब्दों के साथ कैसी क्रीड़ा कर रहा है :—

धन धारत चोरी कौ चोर चुराइ कै, त्रासनि राखत पास नहीं।
रतनाकर पै यह रीति महा, बिपरीत ढिठाई की भाजन हीं॥
कहौ कौन के आगैं पुकारि कहैं, जब न्याव हूँ रावरैं आनन हीं।
यह चोरी नहीं बरजोरी हहा, मन लै हूँ रहौ पै बसौ मनहीं॥

जैसा कि कहा जा चुका है प्रायः मुहावरों में कुछ लाक्षणिकता होती है। अर्थ-संगति अनुपपन्न होने से श्रोता को एक चमत्कार प्राप्त होता है। कवि कभी कभी मुहावरों को ऐसी परिस्थितियों में नियोजित करता है जिनमें मुहावरे के भीतर रहनेवाली लक्षणा की संगति प्राप्त हो जाती है। यह संगति वास्तविक नहीं होती, पर इससे एक विशेष चमत्कार प्राप्त हो जाता है। 'बहने' का लक्ष्यार्थ

नष्ट होना होता है। इसकी वास्तविक संगति पानी से बह कर नष्ट होने के साथ है। पानी की अनुपस्थिति में इसका 'नष्ट होना' अर्थ संकेत से प्राप्त होता है। निम्न-लिखित पंक्तियों में 'पानी' शब्द रख देने से एक अद्भुत चमत्कार प्राप्त हो रहा है:—

बीरनि के मान औ गुमान रन - धीरनि के
आन के बिधान भट-बृंद घमसानी के।
कहै रतनाकर बिमोह अंध-भूपति के
द्रोह के सँदोह सूत-पूत अभिमानी के॥
द्रोन के प्रबोध दुरबोध दुरजोधन के
आयु-औध-दिवस जयद्रथ अठानी के।
कौरव के दाप ताप पांडव के जात बहे
पानी माहिं पारथ-सपूत की कृपानी के॥

जैसे 'बहे' का लाक्षणिक प्रयोग है वैसे ही 'पानी' का। न वहाँ वास्तविक बहना (बह जाना) है न यहाँ वास्तविक पानी। पर यह 'पानी' प्रयोग पर कैसा पानी चढ़ा रहा है।

ऐसा ही प्रयोग नीचे की पंक्तियों में हुआ है:—

ढाहैं अरि-आस के अकास तिनि सीसनि पै,
होस कौं हवा कै हवा उनकी उड़ावैं हम।
कहै रतनाकर गरजि गुरु गोबिंद यौं,
जमन-निसानी लोह - पानी सौं बहावैं हम॥
जारि जारि प्रखर प्रचंड रोष-झारनि मैं,
छार उनहीं की उन-आँखिनि पुरावैं हम।

पंच तत्त्व हूँ मैं निज भाव सत्व संचित कै,
म्लेच्छ-दल बंचक पै पंचक लगावैं हम ॥

इसी प्रकार 'ओस पड़ने' प्रयोग को ले लीजिए। 'उसकी आशाओं पर ओस पड़ गई' आदि इसके उदाहरण हैं। हेमंत ऋतु में ओस पड़ती ही है। शृंगारी रचनाओं में इस ऋतु में मानिनियों के मान-भंग होने का वर्णन किया जाता है। ऐसे वर्णनों में यदि यह कहा जाय कि हेमंत में संयोगिनियों के रोष पर ओस पड़ जाती है तो एक विशेष चमत्कार प्राप्त होगा क्योंकि मुहावरे के अंतर्गत आनेवाली 'ओस' की संगति ऋतु-सुलभ व्यापार के साथ स्वतः प्राप्त हो जायगी। देखिए:—

हेरत हिमंत के अनंत प्रभुता कौ दाप,
भानु के प्रताप की प्रभा हूँ गरिबै लगी।
कहै रतनाकर सुधाकर-किरन फेरि
काम के जिवावन कौ जोग करिबै लगी॥
बदलन बाने सब निज मनमाने लगे
चारौ ओर और ही बयार भरिबै लगी।
जोगिनि के होस पै भरोस पै बियोगिनि के
रोस पै सँजोगिनि के ओस परिबै लगी।

कुछ मुहावरे परिस्थितियों के मेल में बड़ी सूझ से जड़ दिए गए हैं। एक उदाहरण देखिए:—

दीजै गाँव पाँच ही हमारे कहैं पांडव कौं
खांडव-लौं ना तौ राज-खाज दहि जाइँगे।

कहै रतनाकर निछत्र छिति ह्वै है सबै
सूर बीर स्रोनित-नदी मैं बहि जाइँगे ॥
सूझत नहीं है तुम्हैं अब तौ सुझाएँ रंच
पाछैं पछिताएँ कहा लाहु लहि जाइँगे।
जैहैं वृथा आँखैं खुलि तब जब देखन कौं
जग मैं तिहारे ना दुलारे रहि जाइँगे ॥

'आँखें खुलने' का अर्थ कुछ क्षति उठा कर होश में आना है। पर धृतराष्ट्र की ऊपरी आँखें भी बंद हैं। ऐसी परिस्थिति में 'आँखें खुलने' प्रयोग का चमत्कार बढ़ गया है। धृतराष्ट्र के चर्म-चक्षु तो अब खुलने से रहे। हाँ, हृदय के खुल सकते हैं। पर यदि युद्ध में पुत्रों के मारे जाने पर आँखें खुलीं भी तो क्या लाभ। देखने शब्द का प्रयोग भी अद्भुत ही हुआ है:—

जैहैं वृथा आँखैं खुलि तब जब देखन कौं
जग मैं तिहारे ना दुलारे रहि जाइँगे।

कुछ मुहावरों का प्रयोग ऐसी परिस्थितियों में किया गया है जहाँ लाक्षणिकता की असंगति उपस्थित न होने पर भी लक्ष्यार्थ का चमत्कार प्राप्त हो रहा है। वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का आनंद एक साथ ही प्राप्त हो रहा है। देखिए:—

आँखि दिखावति मूड़ चढ़ी मटकावति चंद्रिका चाव सौं पागी।
त्यौं रतनाकर गुंज की माल लगी छतिया हुलसै रँग-रागी ॥
कंदुक हूँ उमगै कर पाइ सखी हमहीं सब भाँति अभागी।
रोकति साँसुरी पाँसुरी मैं यह बाँसुरी मोहन कैं मुख लागी ॥

'आँख दिखाने' का अर्थ डराना-धमकाना आदि होता है। मोर-मुकुट की चंद्रिकाएँ आँख के आकार की होती ही हैं। पर गोपियों को प्रेम के कारण वे चंद्रिकाएँ भी 'आँख दिखाती' प्रतीत होती हैं। वे कृष्ण के सिर पर चढ़ कर गोपियों को तुच्छ समझ रही हैं। मूड़ चढ़ने का अर्थ किसी की कृपा या प्रेम के भरोसे ढीठ हो जाना है। पर मोर मुकुट की चंद्रिकाएँ तो कृष्ण के सिर पर हैं ही। अतः यहाँ वाच्यार्थ के आधार पर स्थित लक्ष्यार्थ का अद्भुत चमत्कार प्राप्त हो रहा है। गुंजा तो स्वाभाविकतः रंगों से रँगी हुई हैं पर गोपियों को कृष्ण के रंग (प्रेम या अनुराग) में रँगी लगती हैं। मुँह लगने का अर्थ किसी को अपने अनुकूल पा कर धृष्ट तथा उद्धत हो जाना है। पर यह अर्थ प्रस्तुत प्रसंग में बाधा उपस्थित होने ही पर न आना चाहिए। कृष्ण तो बाँसुरी को मुँह से लगा कर बजा ही रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लाक्षणिक प्रयोगों के लिए आवश्यक प्रसंग-बाध न होने पर भी लक्षणा का आनंद मिल रहा है। यह लक्षणा भी गोपियों के हृदय की वृत्तियों की व्यंजना करने में कितना योग दे रही है।

कुछ मुहावरों का प्रयोग श्लिष्ट रूप में हुआ है। हमारी भाषा में कुछ ऐसे श्लिष्ट प्रयोग प्राप्त होते हैं जिनका एक अर्थ तो साधारण अर्थात् साक्षात् संकेतित (अभिधा से प्राप्त) होता है दूसरा लाक्षणिक अर्थात् अर्थ-संगति अनुपपन्न होने से लक्षणा शक्ति की सहायता से प्राप्त होता है। ऐसे प्रयोग भाव-व्यंजना में बहुत सहायक होते हैं। रत्नाकर जी ने ऐसे ही श्लिष्ट-रूप में कुछ मुहावरों का

प्रयोग किया है। देखिए:—

सास के नैंकु न आस गुनै न सुनै कछु सीख जौ देति जिठानी।
त्यौं रतनाकर आन धरै न तौ कान करै सखियान की बानी॥
देखन ही की सुघात मैं डोलति बोलति बात सबै बितत्तानी।
रोवत रोवत ही अब तौ गिरि बाकी गयौ अँखियान कौ पानी॥

दुःख की प्रारंभिक अवस्था में आँसू स्वाभाविक होते हैं, पर जब वेदना घर कर लेती है तो वे भी सूख जाते हैं। मानों रोते रोते सब पानी गिर कर बह जाता हो; आगे रोने के लिए अश्रु बच ही न पाते हों। एक बात और। इस प्रकार की वेदनाएँ—जिनका उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियों में है—प्रायः समाज से छिपाई जाती हैं। यद्यपि रोने से अन्य जन पीड़ा का अनुमान कर लेंगे, फिर भी, ऐसी अवस्थाओं में आँख का पानी रोक लेना हाथ की बात नहीं। इस प्रकार अश्रुपात आदि बाह्य चिह्नों से बात लोगों पर प्रकट हो जाती है। अब संकोच मिटने लगता है, धृष्टता आने लगती है। आँखों का पानी गिरना या आँखों का पानी मरना, मुहावरों का प्रयोग निर्लज्ज हो जाने के अर्थ में होता है।

कुछ श्लिष्ट शब्दों की सहायता से अनेक मुहावरे प्रयोग में और भी चमक उठे हैं। 'ज़िंदगी से हाथ धोना' प्रयोग ले लीजिए। हाथ पानी से धोए जाते हैं। ज़िंदगी के स्थान में जीवन शब्द के प्रयोग से विशिष्टता आ गई है। जीवन का एक अर्थ अर्थात् 'पानी' धोने के मेल में बैठता है, दूसरा 'ज़िंदगी' मुहावरे की विधि पूरा करता चलता है। नीचे की पंक्तियों में 'लुनाई' 'सानी' 'लौन मई'

'सील की बात' (सीलवाली हवा अथवा कुल-शील आदि की शिक्षा) 'पानी करना' आदि श्लिष्ट प्रयोगों के मेल में 'जीवन से हाथ धोना' मुहावरा कितना निखर आया है:—

मोहन-रूप लुनाई की खानि मैं, हौं नख तैं सिख लौं इमि सानी।
ह्वै रही लौन - मई रतनाकर, सा न मिटै अब कोटि कहानी॥
सील की बात चलाइ चलाइ, कहा किए डारति हौ हमैं पानी।
जानि परै मम जीवन सौं हठि, हाथ ही धोइबे की अब ठानी॥

वर्षा ऋतु में जब जल से आर्द्र वायु (सील की बात) चलती है तो नमक पसीजने लगता है। किसी के रूप पर अनुरक्ता को जब शील की शिक्षा दी जाती है तो वह संकोच से पानी पानी हो जाती है। पर संकोच में पड़ने से उधर प्राणों पर बन आने की नौबत आती है। दोहरे चमत्कार का निर्वाह आदि से अंत तक हुआ है। पर कहीं भी भाषा में बनावट या भावों में भद्दापन नहीं आने पाया। इतने मुहावरों का ऐसे योग में ऐसा निर्वाह करना साधारण क्षमता का काम नहीं है।

इसी मुहावरे का एक सुंदर प्रयोग और देखिए:—

सिख कौन कौं देति कहा सजनी, हमकौं बिष-बेलि ही बोइबौ है।
रतनाकर त्यौं कुलकानि-प्रपंचनि, लै कलकान न होइबौ है॥
उर नींदन कैं सो डराहिं भलैं, जिनकौं सुख-नींदनि सोइबौ है।
बरजौ बृथा ढारिबे सौं अँसुवा, हमैं जीवन सौं कर धोइबौ है॥

जो जीवन से इतना ऊभ गई है उसे आँसू गिराने से मना करने से क्या लाभ।

अभी पीछे की पंक्तियों में 'बात चलाना' मुहावरा आया है। बात चलना या चलाना तथा हवा (बात) चलना दो प्रसिद्ध प्रयोग हैं। बात को श्लिष्ट कर के कवि ने दोनों मुहावरों को एक में मिला कर और भी चमका दिया है। इसका अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है। एक उदाहरण देखिए:—

प्रथम भुराइ चाय-नाय पै चढ़ाइ नीकैं
न्यारी करी कान्ह कुल-कूल हितकारी तैं।
प्रेम-रतनाकर की तरल तरंग पारि
पलटि पराने पुनि प्रन-पतवारी तैं॥
और न प्रकार अब पार लहिबै कौ कछू
अटकि रही हैं एक आस गुनवारी त।
सोऊ तुम आइ बात बिषम चलाइ हाय
काटन चहत जोग-कठिन कुठारी तैं॥

पानी उतरना आदि मुहावरों का सुंदर प्रयोग यहाँ देखिए:—

रानी दुरगावती स्वतंत्रता की ठानी ठान,
देस-हित-हानी ना सुहानी छतरानी है।
कहै रतनाकर लखानी अस्त्र सस्त्र धारि,
अरि-दल मानी मैं भयंकर भवानी है॥
हेरत हिरानी लंतरानी सब आसफ की,
चलति कृपानी ना चलावत बिरानी है।
पानी सब मुख कौ उतरि हिय पानी भयौ,
पानी गयौ तेग कौ बिलाइ दृग-पानी है॥

नीचे की पंक्तियों में 'हवा होना' मुहावरे को देखिए:—

साजि सेन समर-सपूत राजपूतनि की,
बिक्रम अकूत औ अभूत प्रन ठाने हैं।
कहै रतनाकर स्वदेस पूत राखन कौं,
गाजि सहबाज के दराज साज भाने हैं॥
कुंत करवार सौं प्रचारि करि वार दारि,
केते दिये डारि केते भभरि भगाने हैं।
प्रबल प्रताप-ताप-दाप सौं हवा ह्वै सद्द,
बद्दल समान मुगलद्दल बिलाने हैं॥

हवा चलने पर घिरे हुए बादल इधर उधर निकल जाते हैं। हवा चलने का कारण उष्णता है ही। यहाँ 'प्रबल प्रताप-ताप-दाप' से हवा हुई, उसीसे बादलों के समान मुग़ल नष्ट हो गए। 'हवा होना' प्रयोग एक ओर बादलों के साथ अपनी संगति बैठाता है दूसरी ओर मुहावरे की शक्ति से मुग़लों के नष्ट होने (हवा हो जाने) की सूचना देता है।

रत्नाकर जी ने कहावतों का अधिक प्रयोग नहीं किया है, पर, जहाँ भी किया है कुछ विशेषता तथा सूझ के साथ। धृतराष्ट्र के सामने 'अंधे के आगे रोना' कहावत कैसी सटीक बैठी है। यों तो धृतराष्ट्र जन्मांध थे पर जिस समय उनके सामने ही अबला निस्स-हाया द्रौपदी नंगी की जा रही थी उस समय संभवतः उनकी 'हिये' की भी फूट गई थीं। साधारण अंधों को रोना-धोना पिघला भी

सके पर हृदय के अंधे के सामने रोनेवाले को अपने भी नेत्र खोने पड़ेंगेः—

भीषम कौं प्रेरौं करनहूँ कौ मुख हेरौं हाय,
सकल सभा की ओर दीन दृग फेरौं मैं।
कहै रतनाकर त्यौं अंधहूँ के आगैं रोइ,
खोइ दीठि चाहति अनीठहिं निबेरौं मैं॥
हारी जदुनाथ जदुनाथ हूँ पुकारि नाथ,
हाथ दाबि कढ़त करेजहिं दरेरौं मैं।
देखी रजपूती की सकल करतूति अब,
एक बार बहुरि गुपाल कहि टेरौं मैं॥

इसी प्रकार और भी अनेक स्थानों पर कवि ने कहावतों को ठीक प्रसंग के मेल में बैठाया है। सगर यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहते थे। पर उतना बड़ा विघ्न हो गया। इस प्रसंग में 'होम करत कर जर्‌यौ' उक्ति कितनी सार्थकता से आई है। बेचारे सगर का हाथ ही नहीं जला, साठ सहस्र पुत्र देखते देखते जल कर राख हो गएः—

हाय तात यह भयौ घात बिन बात तिहारौ।
होम करत कर जर्‌यौ पर्‌यौ बिधि बाम हमारौ॥
आए बाजी लेन बेचि बाजी इमि सोवत।
उठत क्यौं न पितु लखत बाट उत इत सिसु रोवत॥

अंशुमान सगर-पुत्रों की क्षार-राशि देखकर विलाप कर रहे हैं। वे यज्ञ के घोड़े का पता लगाने को आए थे। पर अब तो ऐसे निश्चिंत होकर सोए हैं जैसे प्राचीन काल के घोड़ों के व्यव-

सायी घोड़े बेच कर सोते थे। यह कहावत भी प्रसंग के मेल में ही मिल जाती है।

कभी कभी कवि एक बार उठाई हुई कहावत का निर्वाह बहुत दूर तक करता चलता है। देखिए 'अघाइ', 'पानि' 'सिरावन', 'जीवन' आदि श्लिष्ट शब्दों की सहायता से 'लोहे के चने चबाना' कहावत का कैसा सुंदर निर्वाह हुआ है:—

चाबि लोह-चनक अघाइ देस दच्छिन सौं,
पच्छिम बढ़यौ जो तृषा-ब्याधि अधिकानी है।
कहै रतनाकर गुबिंद गुरु बिंदि यहै,
लोह ही के पानि सौं सिरावन की ठानी है॥
जीवन की आस नासि सासक दिली कौ भज्यौ,
बिकल बिहाइ सान कानि गोरकानी है।
छाँड़ि असि परसु कुठार कुंत बान कहूँ,
पंचनद हू मैं जुरयौ रंचक न पानी है।

नीचे की पंक्तियों में 'चोर का जी आधा' प्रयोग का योग देखिए। इंद्र चोर था भी:—

जाके पूत सपूत होहिं तुम से बल-साली।
ताकौ हय हरि लेहि हाय कोउ कूर-कुचाली॥
देव दनुज थहरात देखि दल तात तिहारौ।
कहा बापुरौ चपल चोर आधे-जियवारौ॥

बरतनों आदि की कलई अग्नि-ताप या खटाई से उतर जाती है। किसी का मिथ्या-आडंबर दूर कर उसके वास्तविक स्वरूप

के प्रकट कर देने के लिए 'कलई खोलना' कहावत प्रसिद्ध है। नीचे तप के ऊपर तेज का आरोप तथा 'तचाइ' (गरम करना; कष्ट में डालना) क्रिया का श्लिष्ट प्रयोग कहावत की आवश्यकता-पूर्ति में कितनी सहायता दे रहा है। वही हरिश्चंद्र-काव्य का प्रसंग है। विश्वामित्र राजा हरिश्चंद्र की परीक्षा लेने जाने का विचार कर रहे हैं। इंद्र को आश्वासन दिया जा रहा है:—

> सब संसय परिहरहु परिच्छा हम अब लैहैं।
> निज तप-तेज तचाइ खोलि कलई सब दैहैं॥
> मो आगैं जाकैं तप तीन्यौ लोक तपै है।
> सो दानी ह्वै कहा कह्यौ निज सत्य निबैहै॥

मुहावरों, कहावतों, आदि के योग से कवि की भाषा बहुत ही समर्थं तथा स्वाभाविक हो गई है। कवि ने इस बात का ध्यान रखा है कि प्रायः लोग बात जीत में इनका प्रयोग अधिक करते हैं। इसी से इनकी संभाषणों की भाषा बहुत ही स्वाभाविक हुई है। बीच बीच में कुछ ऐसे शब्द भी रख देते हैं जो और भी स्वाभा-विकता संपादन में समर्थ होते हैं। हरिश्चंद्र काव्य ही से कुछ पंक्तियाँ देखिए। नारद और इंद्र की बात चीत का प्रसंग है:—

> सुनि सुरपात अति आतुरता-जुत कह्यौ जोरि कर।
> "कौन भूप हरिचंद कहौ हमसहुँ कछु मुनिबर"॥
> "सुनहु सुनहु सुरराज" कह्यौ नारद उछाह सौं।
> "ताकी चरचा करन माहिं चित चलत चाह सौं॥

कुछ समय पश्चात् इंद्र महाराज हरिश्चंद्र की परीक्षा लेने का प्रस्ताव करते हैं:—

यातैं कोउ मिस ठानि ब्यौंत ऐसो कछु कीजै।
जासौं ताके सत्यहिं परखि सहज मैं लीजै॥
सानुकूल सुभ समय सबहि सोभा सँग राखत।
पै सुबरन सोइ साँच आँच सहि जो रँग राखत॥

इस अनुचित प्रस्ताव से नारद क्रुद्ध हो उठते हैं:—

सुनि मुनि अति अनखाइ चढ़ाइ भौंह भरि भाख्यौ।
"सुमनराज यह कहा तुच्छ आसय उर राख्यौ॥
अहह जाति तव मत्सरता अजहूँ न भुलाई।
हेर फेर सौ बेर जदपि मुँह की तुम खाई"॥

देखिए हरिश्चंद्र के इस एकांत विलाप में कितनी स्वाभाविक भाषा आई है:—

भए डोम के दास बास ऐसे थल पायौ।
कफन-खसोटी काज माहिं दिन जात बितायौ॥
कौन कौन सी बातनि पै हम बारि बिमोचैं।
अपनी दसा लखैं कै दुख रानी कौ सोचैं॥
कै अजान बालक कौ अब संताप बिचारैं।
भयौ कहा यह हाय होत मन हृदय बिदारैं॥

कुछ समय में बाम अंग फरकने लगते हैं। उस समय के विचार देखिए:—

यह असगुन क्यौं होत कहा अब अनरथ ह्वैहै।
गयौ कहा रहि सेस जाहि बिधना अब ख्वैहै॥
छूट्यौ राज-समाज भए पुनि दास पराए।
ऐसी महिषीहूँ कौं उत दासी करि आए॥

इस समय के योग्य इस से अधिक स्वाभाविक भाषा हो ही नहीं सकती। ऐसो ही स्वाभाविक सरल भाषा में महारानी का विलाप देखिए:—

हाय हमारौ लाल लियौ इमि लूटि बिधाता।
अब काकौ मुख जोहि मोहि जीवै यह माता॥
पति त्यागैं हूँ रहे प्रान तव छोह-सहारे।
सो तुमहूँ अब हाय बिपति मैं छाँड़ि सिधारे॥
अबहिं साँझ लौं तौ तुम रहे भली बिधि खेलत।
औचक हीं मुरझाइ परे मम भुज मुख मेलत॥

कवि जब किसी व्यापार का वर्णन करने लगता है तो उसी के अनुकूल लोक में प्रचलित शब्द का प्रयोग करता है। शोक आदि से मूर्छित व्यक्ति को सचेत करने के लिए लोक में 'जगाना' शब्द प्रचलित है। यह 'ओझाई' की भाषा से आया है। देखिए सगर के शोक के इस वर्णन में इस शब्द का कैसा प्रसंगानुकूल प्रयोग हुआ है:—

कोउ परखत मुख मलिन हाथ छाती कोउ लावत।
अभिमंत्रित-जल-छींट छिरकि कोउ सीस जगावत॥

'तेग झारने' प्रयोग का यहाँ कैसा सटीक उपयोग हुआ है:—

उद्धत अधर्मिनि के कुटिल कुकर्मिनि के,
दास है उदास इहिं नरक न रैहैं हम।
कै तौ भूमि भारत कौं सरग बनैहैं अबै,
कैतौ तेग झारि बेगि सरग सिधैहैं हम॥

योद्धा के तलवार आदि हाथ में लेकर अजमाने के लिए तोलने शब्द का प्रयोग होता है। जब हम किसी वस्तु का बोझ जानना चाहते हैं तो कभी कभी उसे हाथ में लेकर थोड़ा थोड़ा उछालते हुए देखते हैं। इसी व्यापार से साम्य के आधार पर 'तलवार तोलना' प्रयोग चला है। देखिए:—

मृतक पती की कटि-तट की कटारी खोल,
तोलि कर ताहि बोलि तोहि अपनाऊँ मैं।

इसी प्रकार और स्थानों पर भी कवि ने उपयुक्त प्रचलित शब्दों के प्रयोग का सदा ध्यान रखा है। ऐसा करने से इनकी भाषा में स्वाभाविकता आई है।

कुछ स्थानों पर मुहावरों के प्रयोग की त्रुटियाँ भी हो गई हैं। इतनी अधिक रचनाओं के बीच उँगलियों पर गिनी जाने योग्य त्रुटियाँ नगण्य ही हैं। पर, दूसरा पक्ष छोड़ दिया गया, इस आक्षेप की आशंका से उनका भी उल्लेख कर ही देना पड़ता है।

'घात लगाने' का अर्थ किसी अनुचित युक्ति से काम साधने का प्रयत्न करना होता है। 'घात' शब्द का ही प्रयोग अच्छे अर्थ में नहीं होता। नीचे के ही उद्धरण से देखिए:—

जोगिनि की भोगिनि की बिकल बियोगिनि की
जग मैं न जागती जमातैं रहि जाइँगी।
कहै रतनाकर न सुख के रहे जौ दिन
तौ यै दुख-द्वंद की न रातैं रहि जाइँगी॥
प्रेम-नेम छाँड़ि ज्ञान-छेम जौ बतावत सो
भीति ही नहीं तौ कहा छातैं रहि जाइँगी।
बातैं रहि जाइँगी न कान्ह की कृपा तैं इती
ऊधौ कहिबे कौं बस बातैं रहि जाइँगी॥

सगर ने अश्वमेध से निवृत्त होकर गंगावतरण के लिए अनेक प्रयत्न किए। पर बात न बनी। इसी प्रसंग में 'लाई घात' प्रयोग किया है जो समीचीन नहीं प्रतीत होता:—

अस्वमेध सौं ह्वै निवृत्त नृप पुर पग धार्‌यौ।
सुरसरि आनन कौ उपाय बहु भाय बिचार्‌यौ॥
लाई घात अनेक बात नहिं कछु बान आई।
ऐसहिं सोच-बिचार माहिं नृप-आयु सिराई॥

नीचे 'पार पाने' मुहावरे का प्रयोग देखिए:—

सोच्यौ जौ यह बयस बृथा ऐसहिं चलि जैहै।
तौ उतरत दिन माहिं कठिन तप पार न पैहै॥

भगीरथ तपस्या करने को जाना चाहते हैं। सोचते हैं कि यदि यह अवस्था बीत गई तो बुढ़ापे में कठिन तप करते न बनेगा:—

तौ उतरत दिन माहिं कठिन तप पार न पैहै।

'पार पाने' का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है:—

(क) राम (हम से) पार नहीं पा सकता।

(ख) हम (राम से) पार नहीं पा सकते।

ऊपर 'पैहै' के स्वरूप को देख कर हम इस पंक्ति का अन्वय इस प्रकार कर सकते हैं: —

तौ उतरत दिन माहिं कठिन तप (हम सौं) पार न पैहै।

'पैहै' क्रिया का कर्त्ता 'तप' ही प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में अर्थ एक दम बदल जाता है। यदि 'पैहैं' होता तो तप के पीछे विभक्ति-लोप मान कर अन्वय किया जा सकता था। संभवतः 'पार पड़ना' प्रयोग के स्थान में 'पार पाना' लिखा गया है। पार पड़ने का इस प्रकार प्रयोग होता है:—

'हमसे अब पढ़ना लिखना पार न पड़ेगा'।

पछाँह की ओर 'पार पड़ने' का प्रयोग 'पटने' (निभने) के अर्थ में भी होता है जैसे 'हमारी उनसे अब पार न पड़ेगी'।

नीचे 'नैन निद्रा नहिं लागति' प्रयोग में शिथिलता आ गई है। 'निद्रा नहीं लगती' ही पर्याप्त होता:—

तउ पितरनि की दुसह-दसा-चिंता नित जागति।
परत न चल चित चैन नैन निद्रा नहिं लागति॥

वस्त्र के लिए 'फटने' शब्द का प्रयोग होता है। सूत्र आदि के लिए 'टूटना' शब्द व्यवहृत होता है। नीचे वस्त्र (पट) के लिए टूटने का प्रयोग हुआ है जो समीचीन नहीं प्रतीत होता:—

जानति नहीं हौ उर आनति नहीं हौ पीर,
मानति नहीं हौ बीर लाख बार भाष्यौ है।
बात-बल सौं ना जाइ ध्यान-पट टूटि हाय,
सोर ना करौ री चित-चोर मूँदि राख्यौ है॥

यद्यपि ध्यान के लिए टूटने का प्रयोग हो सकता है, पर यदि उस पर 'पट' का आरोप कर दिया गया तो उसी के अनुसार आगे भी प्रयोग होना चाहिए था।

'निगाह फेरने' का अर्थ अप्रसन्न हो कर अपनी कृपा या सहानुभूति से वंचित करना है। ऐसा ही प्रयोग कवि ने नीचे की पंक्तियों में किया है:—

और की न पौरि पै पठैयै मन ठैयै यहै
आप ही बनैयै सब काज अपनाए कौ।
फेरियै निगाह ना गुनाह हूँ किये पै लाख
राखियै उछाह निज बाँह दै बसाए कौ॥

निगाह के स्थान पर दृष्टि, दृग, आदि शब्दों के प्रयोग से भी वही मुहावरा रहता है। काशी प्रांत की ओर निगाह फेरने का निगाह डालने के अर्थ में भी व्यवहार होता है। यह प्रयोग प्रांतीय है। पछाँह की ओर अशुद्ध माना जाता है। पर काशी के कवियों ने इसका प्रायः प्रयोग किया है। संभवतः इस प्रयोग की उत्पत्ति झाड़ू फेरना, चूना फेरना आदि के अनुकरण पर हुई है। रत्नाकर जी ने अनेक स्थानों पर इसका प्रयोग किया है जो शिष्ट तथा ग्राह्य नहीं माना जा सकता। देखिए:—

(क) भीषम कौं प्रेरौं कर्न हूँ कौ मुख हेरौं हाय,
सकल सभा की ओर दीन दृग फेरौं मैं ।
(ख) तब सब संज्ञा पाइ दीठि जो इत-उत फेरी ।
बिस्मय लह्यौ महान जुगल-मूरति नहिं हेरी ॥
(ग) इहिं बिधि ठाटे ठाट बाट सब सानँद हेरत ।
ग्रीवा चरन उचाइ चपल चहुँघाँ चख फेरत ॥

यह भी नहीं कहा जा सकता कि संभव है कवि ने निगाह के स्थान में 'आँख' 'दृष्टि' इत्यादि शब्द रख के पूर्वी प्रांत में प्रचलित मुहावरे का अनुकरण किया हो क्योंकि सब स्थानों पर ऐसा नहीं हुआ है। कवि ने 'निगाह' के स्थान में आँख आदि शब्द रख कर भी उर्दू में प्रचलित मुहावरे की उसी अर्थ में रक्षा की है। देखिए:—

कहति पुकारि पुकारि "बत्स मैया मुख हेरौ।
बीर पुत्र ह्वै ऐसे कुसमय आँखि न फेरौ" ॥

तथाः—

चोरमिही चिनि-हार गिलानि न
मानि इतौ मन मैं अवसेरौ।
प्यारी दिवारी की रैन अहो
रतनाकर सौं इमि दीठि न फेरौ ॥

एक-आध स्थान पर शब्द-योजना पर ध्यान न देने से कुछ अश्लीलता आ गई है:—

कोउ निबटति कटि-तट समेटि चटपट गुभरौटा।
हँसति धँसति जलधार कसति कोउ कलित कछौटा॥

निबटने का भाव काशी की ओर स्नान के पहले की शौच आदि क्रियाओं से है। 'समेटि' शब्द इस निबटने की अशिष्ट ध्वनि की सहायता कर रहा है। काशी के ही होने के कारण रत्नाकर जी इस अर्थ से परिचित अवश्य रहे होंगे।

अनेक स्थानों पर प्रचलित प्रयोग से कुछ ही इधर उधर भटकने से शिथिलता सी आ गई है। 'धाक मिटाना' प्रचलित प्रयोग है। कवि ने भी अनेक स्थानों पर इसका इसी प्रकार व्यवहार किया है। एक स्थान पर इसी भाव के लिए 'धाक धोना' लिखा है जो उतना सटीक नहीं हुआ है, यद्यपि धोने का भी लाक्षणिक अर्थ मिटाना ही है। देखिए:—

पांडव कौ ताप औ प्रताप दुरजोधन कौ,
सूत-सुत हू कौ दाप सोधि सियराऊँ मैं।
कहै रतनाकर प्रतिज्ञा यह पारथ की,
द्रोन हू महारथ की धाक धोइ धाऊँ मैं॥

'धूम मचाना' प्रसिद्ध प्रयोग है। कवि ने भी लिखा है:—

अवनि अकास मैं अपूरब मची है धूम,
भूमि से रहे हैं रुचि सुरस उलीची मैं।
हिरकि रही है इत मोर सौं मयूरी उत,
थिरकि रही है बिज्जु बादर दरीची मैं॥

पर गंगावतरण में लिखा है:—

सुरसरि-आवन-धूम धाम-धामनि मैं धाई।

कुछ मुहावरों में कुछ शब्द छूटे रहते हैं। जैसे 'वह (क्रोध में) भरा बैठा था।' यहाँ 'क्रोध में' शब्द न कहने पर भी अर्थ लग जाता है। देखिए:—

सुनि मुनि अति अनखाइ चढ़ाइ भौंह भरि भाख्यौ।
"सुमन-राज यह कहा तुच्छ आसय उर राख्यौ"॥

उसी प्रकार 'बात चलाने' मुहावरे में कभी कभी बात शब्द छिप भी जाता है। जैसे 'उनकी क्या चलाना'। देखिए:—

हरित भूमि चहुँ कोद मोद-मंडित अति सोहै,
नर की कहा चलाइ देखि सुर-मुनि-मन मोहै।

इसी प्रकार 'मुँह की खाना' आदि अनेक प्रयोग हैं जिनमें कोई न कोई शब्द छिपा रहता है। पर कोई भी कवि मुहावरे के अनुरोध के बिना किसी शब्द का लोप नहीं कर सकता। यदि कवि ऐसा करने लगें तो अर्थ लगाने में भी बाधा उपस्थित होने लगे। रत्नाकर जी ने एक-आध स्थान पर ऐसा किया है। उदाहरण के लिए 'हाथ मींजना' प्रयोग ले लीजिए। इसका अर्थ दुःख से पछताना होता है। देखिए:—

पारथ कियौ जो प्रन धार ताहि तोरन कौं,
कोरि प्रान-पन सौं महारथ सकैहैं ना।
मींजि मींजि हाथ कहैं नाथ रतनाकर के,
भानुहूँ पयान माहिं बिलँब लगैहैं ना॥

पर एक स्थान पर 'मींजि' के साथ 'हाथ' शब्द छोड़ दिया है। ऐसा करने से कुछ अस्पष्टता आ गई है। देखिए:—

मींजि मन मारे फिरैं कब लौं तिहारे दास,
आस बिन पोषैं हाय कब लौं पुषी रहैं।
कहै रतनाकर रचाए बिना रंचक हूँ,
तोष की कहाँ लौं पढ़ी पद्धति घुषी रहैं॥

किसी कवि की भाषा पर विचार करते समय शब्दालंकारों पर भी विचार करना आवश्यक है। इनका उपयोग भाषा के बाह्य स्वरूप को अलंकृत करने में है। शब्दालंकारों से भाषा का स्वरूप आकर्षक तथा कर्णप्रिय हो जाता है। अर्थ को ग्रहण करने के पहले हम उच्चारण ही सुनते हैं। यदि उच्चारण भावोपयोगी है तो भावव्यंजना में बहुत सहायता मिलती है। हमारे यहाँ अर्थालंकारों का जितना गंभीर तथा विस्तृत विवेचन हुआ उतना शब्दालंकारों का न हो पाया। शाब्द चमत्कार की कुछ ही विधियों की ओर आचार्यगण ध्यान दे सके। इस दिशा में बहुत कुछ विवेचन की अभी आवश्यकता बनी ही हुई है। सबसे पहले आचार्यों ने शब्द-मैत्री की ओर ध्यान दिया। पर प्रायः देखा जाता है कि अनुप्रास के अत्यधिक आग्रह से जब बहुत दूर तक एक ही सी उच्चारण-ध्वनि का निर्वाह किया जाता है तो वह कुछ अप्रिय-सा लगता है। एक ही से अथवा एक ही उच्चारणवाले वर्णों ही में केवल मैत्री हो सकती है यह सिद्धांत ठीक नहीं है, कभी कभी भिन्न भिन्न उच्चारणों के वर्णों से संगठित शब्दों से भी भाषा के प्रवाह की रक्षा

होती है। इसकी ओर विवेचकों ने उतना ध्यान नहीं दिया। इसमें संदेह नहीं कि स्वाभाविक अनुप्रासों की योजना से भाषा का आकर्षण बढ़ जाता है, पर, जब अर्थ की उपेक्षा कर व्यर्थ के अनुप्रास का आग्रह किया जाता है तो भावों की स्थापना पर आघात पहुँचता है। हिंदी के अनेक मध्यकालीन कवियों ने शब्द-मैत्री की रक्षा के लिए भावों तथा भाषा-संस्कार तक का बलिदान कर देना अनुचित नहीं समझा। पर तुलसीदास आदि श्रेष्ठ कवि इस कुरुचि-पूर्ण प्रथा से अपने को प्रायः बचाते ही रहे। रत्नाकर जी के विषय में यह कहा जा सकता है कि इन्होंने अनुप्रासों की स्थापना के लिए भावों का बलिदान नहीं किया। कुछ स्थानों पर अनुप्रासों के दूर तक निर्वाह करने का आग्रह अवश्य लक्षित होता है। ऐसे स्थानों पर भी व्याकरण की उपेक्षा नहीं की गई है। कुछ अपवादों को छोड़ सर्वत्र बड़े स्वाभाविक ढँग से अनुप्रासों की योजना की गई है। कवि स्वाभाविक तथा श्रुति-मधुर ध्वनि की रक्षा के लिए भाषा को बड़े संयत पर साथ ही कलापूर्ण प्रवाह पर चलाता है। ऐसे मधुर प्रवाह की भाषा लिखने में बहुत ही कम कवि समर्थ हुए हैं। पद्माकर का नाम ऐसे कवियों में बड़े आदर के साथ लिया जायगा। रत्नाकर जी को छोड़ पद्माकर-सी प्रवाह-युक्त भाषा लिखने में कोई भी कवि समर्थ नहीं हो सका। पर रत्नाकर की भाषा पद्माकर की भाषा नहीं कही जा सकती। पद्माकर की भाषा हलकी पड़ती है। रत्नाकर की भाषा गंभीर है। पद्माकर की भाषा का प्रवाह एक क्षीण पहाड़ी झरने-सा है। रत्नाकर की भाषा का प्रवाह

गंभीर नदी-सा है। इस दृष्टि से रत्नाकर की भाषा बिहारी की भाषा से मिलती है। हम कह सकते हैं कि रत्नाकर की भाषा की गठन तथा गंभीरता बिहारी की भाषा से मिलती है। पद्माकर की भाषा बालकों के स्वच्छंद कलकल हास्य के समान है। रत्नाकर की भाषा किसी प्रौढ़ काव्यरसिक की साहित्यगोष्ठी की विनोद-प्रमोद-समय की भाषा से मिलती है। नीचे की पंक्तियों में देखिए अनुप्रास कितने संकोच-पूर्ण तथा भोले ढँग से आये हैं:—

पौन अति सीतल न तपत सुगंध-सने,
मंद मंद बहत अनंद देन-हारे हैं।
कहै रतनाकर सुकुसुमित कुंजनि मैं,
बैठि उठि भ्रमत मलिंद मतवारे हैं॥
छिटकति सरद-निसा की चाँदनी सौं चारु,
दीपति के पुंज परैं उचटि उछारे हैं।
स्वच्छ सुखमा के परिपूरित-प्रभा के मनौ,
सुंदर सुधा के फूटि फबत फुहारे हैं॥

घेरि लीनी आनि जानि अबला अकेली मानि,
मरक अनंग की उमंग सरसंत हैं।
कहै रतनाकर पपीहा कड़खैत लिए,
पी कहाँ कहाय चढ़ि चाय अरसत हैं॥
कंसहूँ के राज भए ऐसे ना कुकाज हाय,
जैसे आज ऊधौ दुख-साज दरसत हैं।

बादर से बीर व्योम वायु के बिमान बैठि,
बूँदनि के बान बनिता पै बरसत हैं ॥

———

चहुँ दिसि तैं घन घोरि घेरि नभ-मंडल-छाए,
घूमत, झूमत, झुकत औनि अतिसय नियराए।
दामिनि दमकि दिखाति, दुरति पुनि दौरतिं लहरैं,
छूटि छबीली छटा छोर छिन छिन छिति छहरैं ॥

जिन स्थानों पर अनुप्रासों का अधिक आग्रह प्रतीत होता है वहाँ भी व्याकरण तथा भावों की उपेक्षा लक्षित नहीं होती। कुछ उदाहरण देखिएः—

पाइ प्रसून-प्रसंग पौन परिमल बगरावत

———

करतिं चंद-दुति मंद अमल मुखचंद उजारी,
मुनि-मन-माहिं मनोज-मौज उपजावनहारी।
चंचल चपल चलाँक चुलबुली 'चेटकहाई,
चुहुल चोचले चोज चाव कैं चाक चढ़ाई।

———

चित-चोरनि चितवनि सौं चपल चितै सकुचानी,
मुसकानी मुख मोरि मंद मन की मन जानी।

———

कोउताननि के तनति तरल बहु ताना-बाना

यमक का भी एक उदाहरण देखिएः—

हारीं हाथ जोरि मानि मनत करोर हारीं,
तोरि हारीं तृन कै कछू सौं दया भीजियै।

जासौं मन-भावन कौं सुख सरसावन कौं.
जीवन जुड़ावन कौं अंक भरि लीजियै ॥
आपने अठान की रह्यो है राखि रुई कान,
करत न कानि कछू याही दुख छीजियै ।
बिधना सुनत काहू बिधि ना हमारी हाय,
बिधि ना बनति कोऊ राम कहा कीजियै ॥

बिधना तथा बिधिना के बीच का इकार-मात्र का भेद पढ़ते समय प्रतीत नहीं होता अतः अलंकार स्थापना पर ऐसा आघात नहीं पहुँचता ।

कुछ शब्द अपने उच्चारण ही से अपने भाव का आभास दे देते हैं । ऐसे शब्द भाव-व्यंजना के बहुत अनुकूल पड़ सकते हैं । ऐसे शब्दों की योजना से एक विशेष प्रकार के शब्दालंकार की सृष्टि होती है । हमारे रीति शास्त्रों में इस विशेषता को प्रकट करने के लिए कोई शब्द नहीं मिलता । अँगरेजी में इस अलंकार को 'ओनोमोटोपोइया' कहते हैं । हिंदी के अनेक श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं से इस अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं । नामकरण होना न होना दूसरी बात है, पर, भाषा में चमत्कार विधान करने की स्वाभाविक विधियों का पालन सिद्ध कवियों द्वारा स्वतः होता रहता है । देखिए यहाँ भावानुरूप शब्दों की सहायता से भाषा भाव के कितनी अनुकूल हो गई है:—

झूलत हिंडोरैं दुहूँ बोरे रस-रंग जिन्हैं,
जोहत अनंग-रति-सोभा कटि कटि जाति ।

मंजु मचकी सौं उचकत कुच-कोरनि पै,
ललकि लुभाइ रसिया की डीठि डटि जाति ॥
देखत बनै ही कछु कहत बनै न नैंकु,
बाल अलबेली जब लाज सौं सिमटि जाति ।
हटि जात घूँघट लटकि लाँबी लट जाति,
फटि जाति कंचुकी लचकि लोनी कटि जाति

यहाँ 'भूलत', 'मचकी', 'उचकत', 'ललकि', 'सिमटि', 'हटि', 'लटकि', 'फटि', 'लचकि' आदि अनेक शब्द उच्चारण ही से अर्थ का आभास देनेवाले हैं।

नीचे की पंक्तियों में बीप्सालंकार की शैली से नियोजित शब्दों में भी यही चमत्कार पाया जाता है:—

गावैं गीत सरस बजावैं मिलि ताल सबै,
छैलनि की छाती काम-तापनि तचावैं हैं।
घूमि घूमि चारौं ओर कटि-तट दूमि दूाम,
झुकि झुकि झूमि झूमि झूमर मचावैं हैं ॥

बीप्सा भी भाव-व्यंजना के लिए बहुत आवश्यक उपकरण है। कुछ भावों को हम शब्द की आवृत्ति ही करके प्रकट कर पाते हैं। हमारी भाषा में ऐसे अगणित प्रयोग प्रचलित हैं जैसेः—भोला भाला मुखड़ा, आते आते रुक जाना, नन्हें नन्हें बालक, थिरक थिरक कर नाचना, आदि। इन उदाहरणों में जो बात शब्दों की आवृत्ति के द्वारा प्रकट की गई है वह आवृत्ति के बिना न हो पाती। 'भोला' तथा 'नन्हें' की आवृत्ति से इन गुणों का आधिक्य

प्रकट होता है। 'आते आते' से आने के लिए पूर्ण रूप से प्रस्तुत होने का भाव प्रतीत होता है। थिरकने की आवृत्ति से विशेष प्रकार से नाचने की क्रिया का स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। रत्नाकर जी ने अनेक स्थानों पर इस अलंकार की भावोपयोगी योजना की है। देखिए:—

अमित अकार औ प्रकार के पयोद-पुंज,
छहरैं छबीले छिति - छोरनि छए छए।
कहै रतनाकर अनूप रूप-रंगनि के,
बदलत ढंग ढग देखत दए दए॥
बिबिध बिनोद बारि-बूँदनि के ठानै कहूँ,
पावक-प्रमोद कहूँ चपला चए चए।
निज मन-मोहन के मानौ मन मोहन कौं,
मदन खिलारी खेल खेलत नए नए॥

देखिए उद्धव शतक के इस कवित्त के प्रवाह में झूँक लेते हुए पालने का आभास मिल रहा है:—

नंद औ जसोमति के प्रेम-पगे पालन की,
लाड़ भरे लालन की लालच लगावती।
कहै रतनाकर सुधाकर-प्रभा सौं मढ़ी,
मंजु मृगनैननि के गुन-गन गावती॥
जमुना-कछारनि की रंग-रस-रारनि की,
बिपिन-बिहारनि की हौंस हुमसावती।

सुधि ब्रज-बासिनि दिवैया सुख-रासिनि की,

ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती ॥

पुनरुक्तवदाभास ऐसे अलंकारों के फेर में कवि नहीं पड़ा है, फिर भी, एक-आध उदाहरण मिल ही जाता है। देखिएः—

पारे दूरि ताप जे अमाप महि-मंडल के,

मारतंड ह्वै सो नभ-पंथ परसत हैं।

कहै रतनाकर गिरीस-सीस-सन्निधि तौ,

पाइ रजनीस सुधाधीस सरसत हैं॥

रावरे प्रभाव कौ प्रकास चहुँ पास गंग,

हेरि हिय सहित हुलास हरसत हैं।

बेधि बेधि ब्योम जो सिधारे तब तारे सोई,

बेध ब्रह्म ज्योति लै सितारे दरसत हैं॥

यहाँ रेखांकित शब्दों में पुनरुक्ति का आभास मिलता है जो अर्थ की ओर ध्यान देने से दूर हो जाता है। एक उदाहरण औरः—

ग्रीषम कौ भीषम प्रताप जग जाग्यौ भए,

सीत के प्रभाव भाव भावना भुलानी के।

कहै रतनाकर त्यौं जीवन भयौ है जल,

जाके बिना मानस सुखात सब प्रानी के॥

शब्दालंकारों में श्लेष की भी गणना है। रत्नाकर जी के इस अलंकार के कुछ उदाहरण मुहावरों के प्रसंग में आ चुके हैं। वहाँ हम देख चुके हैं कि कवि श्लिष्ट शब्दा के प्रयोग से मुहावरों को और भी काव्योपयोगी बना लेता है। अब हमें देखना है कि मुहा-

वरों आदि के बिना भी श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से भाषा की व्यंजना-शक्ति कितनी बढ़ गई है। देखिए नीचे की पंक्तियों में केवल एक श्लिष्ट शब्द के प्रयोग से व्यंजना में कितनी सहायता मिल रही है:—

पांडव कौ ताप औ प्रताप दुरजोधन कौ,
सूत-सुतहू कौ दाप सोधि सियराऊँ मैं।
कहै रतनाकर प्रतिज्ञा यह पारथ की,
द्रोनहू महारथ की धाक धोइ धाऊँ मैं॥
सिंधुराज जटिल जयद्रथ कौ जीवन लै,
आज अंधराज-हिय-आँखिनि खुलाऊँ मैं।
कृष्ण भगिनी के द्रौपदी के उत्तरा के हियैं,
सोक-बिकराल-ज्वाल जरति जुड़ाऊँ मैं॥

यहाँ सियराना, धोना (धोइ) आँख खुलाना, ज्वाल जुड़ाना आदि प्रयोग लाक्षणिक हैं। इनके बाह्य-स्वरूप अर्थात् अभिधा से प्राप्त अर्थ की पूर्ति के लिए साधारण पानी की आवश्यकता है। ताप ठंढा करने, धोने आदि के लिए साधारण जल की आवश्यकता होती है। पर लक्षणा जिन अर्थों की ओर संकेत कर रही है उनकी पूर्ति साधारण जल से नहीं हो सकती। यहाँ पांडवों के हृदय का ताप (जलन) ठंढा करना है, द्रोणाचार्य की धाक धोनी (मिटानी) है, अंधराज के हृदय की आँखें खोलनी हैं तथा द्रौपदी आदि के हृदय की शोक-ज्वाला को ठंढा करना है। इन सब की पूर्ति के लिए जयद्रथ का 'जीवन' लेना अनिवार्य है। इस प्रकार जीवन शब्द का श्लेष दोनों ओर अपना निर्वाह करता

चलता है। आँख खुलने मुहावरे का प्रयोग कुछ हानि उठा कर कुछ विपत्ति झेल कर, चेतने के अर्थ में होता है। धृतराष्ट्र, जयद्रथ आदि योद्धाओं के बल पर निर्भय बैठे हैं। पर उनके मारे जाने पर उनकी आँखें खुलेंगी। धृतराष्ट्र अंधे हैं अतः उनके चर्म-चक्षु तो खुलने से रहे। इसी लिए 'हिय' का प्रयोग किया गया। उसकी हृदय की भी फूटी थीं। अंधराज शब्द का कैसा सुंदर अर्थांतरसंक्रमित प्रयोग है। यह शब्द अभिधा से धृतराष्ट्र का बोध तो करा ही रहा है, साथ ही उनकी हठ, अज्ञता, दर्प आदि की भी व्यंजना कर रहा है।

रत्नाकर जी ने प्रायः दो दो श्लिष्ट शब्दों का एक साथ ही निर्वाह किया है। ये दोनों शब्द एक दूसरे की सहायता करते हुए आते हैं। देखिएः—

दुख-द्रुम-झाड़ काटै घाड़ काटै दोषनि की,
पातक पहाड़ काटै सब जग जानी है।
कहै रतनाकर त्यौं जम के निगड़ काटै,
करम-कुलिस-पाट काटि ना किरानी है॥
ऐसी साल नाहिं नख माहिं नर-केहरि के,
ऐसी बिकराल कालहू की ना कृपानी है।
दंग होति धारना न होति निरधार नैंकु,
गंग तव धार मैं धरयौ धौं कौन पानी है।

यहाँ धार (जलधार अथवा हथियार की धार) तथा पानी (जल अथवा काटनेवाली धार) शब्दों में श्लेष है। रत्नाकर जी के श्लेष मिथ्या चमत्कार की सृष्टि ही करने में योग नहीं देते।

यहाँ पर शब्दों के श्लेष की संगति कवित्त में प्रारंभ से अंत तक चलती है। 'काटै' शब्द के लाक्षणिक प्रयोग के लिए दोनों अर्थों की आवश्यकता है।

इसी प्रकार यहाँ 'पानी' के श्लेष के साथ 'सर' बैठाया गया है:—

ग्रीषम कौ भीषम प्रताप जग जाग्यौ भए,
सीत के प्रभाव भाव भावना भुलानी के।
कहै रतनाकर त्यौं जीवन भयौ है जल,
जाके बिना मानस सुखात सब प्रानी के।
नारी नर सकल बिकल बिललात फिरैं,
भूले नेम प्रेमहूँ की कलित कहानी के॥
ताहूँ सौं न काहू कौ हियौ है सरसात रंच,
पंच-सरहूँ के भए सर बिन पानी के।

ग्रीष्म की भीषणता से पंचसर के सरों (तालाबों अथवा बाणों) में भी पानी नहीं रह गया है।

इन पंक्तियों में 'कादर' तथा 'सूर' शब्दों के प्रयोग से व्यंजना में कितनी सहायता प्राप्त हो रही है:—

भाव दृढ़ता के कछु भरन न पाए उर,
दुख-सुख-झौरनि हिंडोरनि पले गए।
कहै रतनाकर प्रपंचनि कैं पेंच परि,
साहस न संचि सके छकित छले गए।
घेरि-घेरि ज्यौं ज्यौं मन माहिं चह्यौ राखन कौं,
फेरि फेरि त्यौं त्यौं तुम भाजत भले गए।

जानि हमैं कादर निरादर करत नाथ,
सूर के हिये सौं क्यौं न निमुकि चले गए ॥

कवि कहता है कि आप हमें कादर-भक्ति में कच्चा-समझ कर निरादर कर रहे हैं। सूरदास के हृदय से आप भी न भाग सके, क्योंकि वे भक्ति में दृढ़ थे। यहाँ 'सूर' का एक अर्थ दूसरे अर्थ का विशेषण हो गया है। ऐसे श्लेषों से रूपकों की सिद्धि में बहुत सहायता मिलती है। देखिए:—

गोकुल के गाँव की गली मैं पग पारत हीं
भूमि कैं प्रभाव भाव औरै भरिबै लगे।
ज्ञान-मारतंड के सुखाए मनु मानस कौं
सरस सुहाए घनस्याम करिबै लगे ॥

घनश्याम शब्द के दो अर्थ हैं:—श्यामघन तथा कृष्ण। एक अर्थ का रूपकालंकार की परिपाटी से दूसरे पर आरोप हुआ है। मानस शब्द के भी दो अर्थ होते हैं:—मन तथा सरोवर। यदि कवि चाहता तो इस श्लेष से भी काम ले लेता। पर मात्राओं को पूरा करने को 'मनु' लाना पड़ा।

घट शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में भी होता है जैसे, घट घट में राम रमा है। ऐसे प्रयोग प्रारंभ में लक्षणा ही से प्राप्त हुए होंगे। देखिए यहाँ इसका कैसा सुंदर उपयोग हुआ है:—

आनन हूँ मैं कछु औरै सुषमा सरसाई,
गौर-स्याम दुति माहिं अधिक आई अरुनाई।

अंग अंग के सहित उमंग मनहुँ हलकन सौं,
दाउ-घट के अनुराग प्रगट दीसत छलकन सौं।

जब घट में पानी छलकता है तो ऊपर से देखा जा सकता है। यहाँ भी अनुराग छलक रहा है। अनुराग का रंग लाल है। उस अनुराग के छलकने से मुँह पर लालिमा छा गई है।

घट का ऐसा ही सार्थक प्रयोग कवि ने इन पंक्तियों में किया है:—

तब गुरुबर धरि धीर कियौ निर्धारित मन मैं।
कोसल-पति कुसलात बनति केवल रोवन मैं।
जौ अति उबलत सोक-सलिल दृग-पथ नहिं पैहै।
भूरि भाप सौं पूरि तुरत तौ घट फटि जैहै॥

कभी कभी श्लिष्ट शब्द का चमत्कार आलंकारिक विधान से बढ़ा दिया गया है। ऐसे स्थानों पर श्लिष्ट प्रयोग तथा अलंकार परस्पर चमत्कार-वृद्धि करते हुए आते हैं। देखिए:—

मानि कामना सिद्ध जानि तूठे दुख-हारी।
भयौ भूप-मन मगन बढ़ै आनँद-नद भारी।

मग्न होने के दो अर्थ होते हैं, आनंद आदि भावों में विभोर होना तथा जल आदि में डूबना। इस दूसरे अर्थ की रक्षा के लिए आनंद को नद बनाया गया है।

आलंकारिक शैली से कभी कभी श्लिष्ट प्रयोगों का बड़ी दूर तक निर्वाह किया गया है। उद्धवशतक का यह कवित्त देखिए:—

रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।

तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
देत ना सुदर्सन हूँ यौं सुधि सिराई हैं ॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौ
भाय क्यौं अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं ।
ह्याँ तौ विषमज्वर-बियोग * की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं ॥

रेखांकित शब्द श्लिष्ट हैं । विषमज्वर में सुदर्शन नामक औषध दी जाती है। वियोग को विषमज्वर बनाया गया है । श्लेष के बल इसका निर्वाह हुआ है । सुदर्शन (सुदर्शन रस तथा दर्शन), नारिनि (नाड़ियों का तथा स्त्रियों का), अनारिनि को (नाड़ी-ज्ञान-शून्य वैद्यों का तथा मूर्खों का), पाती (पत्ती तथा चिट्ठी) आदि प्रयोगों से दोनों अर्थों की सिद्धि हो जाती है । अपने वैद्यक-ज्ञान के भरोसे रत्नाकर जी ने यह ढाँचा खड़ा किया है । हमारे कवियों की यह अवांछनीय परिपाटी रही है कि वे अपने अन्य शास्त्रों के ज्ञान का काव्य में प्रदर्शन करने से नहीं चूकते । संभवतः बहुज्ञता-प्रदर्शन के लिए ऐसा किया जाता है । रत्नाकर जी में भी यह प्रवृत्ति कभी कभी लक्षित होती है । देखिए नीचे रूपक का निर्वाह किस ज्ञान के भरोसे किया किया गया है:—

---

* यह बिनसत नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु ।
जरी विषम जुर ज्याइयै आइ सुदरसनु देहु ॥
—बिहारी

दारिद्-बाय-प्रभाय सौं, पीड़ित जाकी देह।
ताके क्लेस-निसेस कौं, चहत धनेस-सनेह॥

यहाँ 'धनेस' तथा 'सनेह' शब्द श्लिष्ट हैं। सनेह के दोनों अर्थ (प्रेम तथा तैल) प्रसिद्ध हैं। धनेस का एक अर्थ धनवान् व्यक्ति सरल ही है। दूसरे अर्थ तक वैद्य लोग ही पहुँच सकते हैं। धनेस नामक एक पक्षी होता है जो विंध्यपर्वत श्रेणी के आस पास बुंदेलखंड तथा बघेलखंड में पाया जाता है। इसका तैल पक्षाघात (लक़वा), गठिया आदि रोगों पर प्रयुक्त होता है। इस अर्थ तक साधारण पाठक कैसे पहुँच सकते हैं? वैद्यों के पास भी अर्थ लगवाने लोग तभी न जायँगे जब उन्हें ऐसे भाव होने का कुछ संदेह होगा। पर सौभाग्य से कवि ने ऐसे प्रयोग कुछ गिने हुए स्थलों ही पर किए हैं।

नीचे की पंक्तियों में कुरंग शब्द का कितनी वक्रता से प्रयोग हुआ है:—

कहत कुरंग जे न जानैं कछु रंग-ढंग
परम सुरंग ये तिरंग नैन तेरे हैं।

जो लोग नेत्रों को कुरंग कहते हैं उन्हें रंग (रस-रंग) का कुछ ढंग नहीं आता। पर तेरे नेत्र तो सुरंग है। नेत्रों को जब कुरंग कहा जाता है तो मृग ही अभीष्ट होता है। पर कवि ने दूसरे संभव अर्थ की ओर संकेत कर के एक दूसरा ही चमत्कार रच दिया है।

रत्नाकर जी अनेक स्थलों पर श्लेष के सहारे उक्ति में लाघव लाने में समर्थ हुए हैं। नीचे भुजंग शब्द के श्लेष को देखिए:—

एते दूरि देसनि सौं सखनि-सँदेसनि सौं
लखन चहैं जो दसा दुसह हमारी है।
कहै रतनाकर पै बिषम बियोग-बिथा
सबद-बिहीन भावना की भाववारी है॥
आनैं उर अंतर प्रतीत यह तातैं हम
रीति नीति निपट भुजंगनि की न्यारी है।
आँखिनि तैं एक तौ सुभाव सुनिबै कौ लियौ
काननि तैं एक देखिबै की टेक धारी है॥

भुजंग के अर्थ सर्प तथा उपपति होते हैं। यह प्रसिद्ध ही है कि सर्प नेत्रों से सुनता है। कृष्ण भी कुछ विपरीत करना चाहते हैं। गोपियों को देखने को स्वयं न आकर उद्धव को भेजा है। कानों से, सँदेशों से, देखना चाहते हैं।

अब ब्रजभाषा की दृष्टि से कवि की पदावली आदि पर भी कुछ विचार कर लेना उचित होगा। रत्नाकर जी ने ब्रजभाषा साहित्य का मनोयोग पूर्वक बहुत काल तक गंभीर अध्ययन किया था। इसी के फलस्वरूप हमें उनकी भाषा में बहुत व्यापक पदावली मिलती है। जिन जिन श्रेष्ठ कवियों में जो जो उपयुक्त शब्द मिले उन सब को कवि ने अपनाया। इसके अतिरिक्त संस्कृत से तत्समरूप में भी बहुत से शब्द ग्रहण किए। संस्कृत के बहुसंख्यक शब्द अपभ्रंशरूप में तथा अनेक शब्द तत्समरूप में ब्रजभाषा में सदा से प्रचलित रहे हैं। कुछ कवियों में शब्दों को तत्समरूप ही में ग्रहण करने का आग्रह कुछ अधिक लक्षित

होता है। विनयपत्रिका के प्रारंभ में तुलसीदास जी ने पूर्ण संस्कृतमय भाषा लिखी है। पर गीतावली में भाषा का वही प्रचलित स्वरूप ग्रहण किया है जिसमें कभी कभी आवश्यकतानुसार संस्कृत पदावलो भी आती रहती है। रत्नाकर जी की भाषा में भी अनेक स्थलों पर संस्कृत पदावलो बहुत अधिक ग्रहण की गई है। पर ऐसा सर्वत्र नहीं किया गया है, प्रायः भाषा का साधारण सहज रूप ही ग्रहण किया गया है। कवि ने संस्कृत शब्द ग्रहण करते समय उनके श्रुतिमधुर तथा काव्योपयोगी होने का सदा ध्यान रखा है। विनयपत्रिका के प्रारंभ में इसका ध्यान न रख कर तुलसीदास जी ने अपनी भाषा को जटिल कर दिया है। पर रामायण में जहाँ जहाँ संस्कृत पदावली को अधिक व्यापक रूप में ग्रहण किया है वहाँ उनके काव्यापयोगी होने का सदा ध्यान रखा है। रत्नाकर जी का आदर्श वही है जो तुलसीदास का रामायण में रहा है। कुछ उदाहरण देखिएः—

चंपा-गुंज-लवंग-मालती - लता सुहाई,
कुसुम कलित अति ललित तमालनि सौं लपटाई।
साजे हारत दुकूल फूल छाजे बनिता बहु,
निज-निज नाहैं अंक निसंक रहीं भरि मानहु॥

भंजन भव-भ्रम-काच-कुलिस-आगार मनोहर,
गंजन हिय-तम-तोम तरनि-उदयाचल सुंदर।
प्रेम-पयोधि-रतन-दायक मंदर कन जाके,
कंचन-करन हरन-कलमस पारस मनसा के॥

जहाँ पर भाषा ठेठ होने की ओर झुकने लगती है वहाँ भी संस्कृत के शब्द बीच बीच में आते रहते हैं। संस्कृत का प्रभाव और बातों पर भी पड़ा है। व्रजभाषा में लंबे समासों की परिपाटी कभी प्रचलित नहीं रही। पर रत्नाकर जी ने बहुत लंबे लंबे समासों का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देखिए:—

लहलहात है हरित-गौर-स्यामल-रंग-राँचौ,
पुलकित-तन रस-सराबोर अबिचल-व्रत साँचौ।

पत्र-बीच है झलकति कहूँ कलिंद-नंदिनी,
कोटि-कोटि-कलि-कलुष-करार-निगर-निकंदिनी॥
सकल रूप-जोबन-अनूप-गुन-गर्ब-गसीली।
जुगल-रसासव-मत्त राग-रँग-रत्त रसीली॥

जय बिधि-संचित-सुकृत-सार-सुख-सागर-संगिनि।
जय हरि-पद-अरबिंद-मंजु-मकरंद-तरंगिनि॥
जय सुर-सेवित-संभु-बिपुल-बल-बिक्रम-साका।
जय भूपति-कुल-कलस-भगीरथ-पुन्य-पताका॥

आवश्यकतानुसार संस्कृत के संधि-नियमों से भी लाभ उठाया गया है। नीचे 'स्वर्गासा' प्रयोग देखिए:—

परम आत्म-संतोष-हेत निज चरित सुधारत।
कहुँ सज्जन स्वर्गासा करि निज जनम बिगारत॥

व्रजभाषा की जन्मभूमि व्रजमंडल है। पर बहुत प्राचीन काल ही में साहित्य की सामान्य भाषा के रूप में इसका प्रचार संपूर्ण

उत्तराखंड में हुआ। रीति काल के प्रायः कवि व्रजभूमि से पूर्व के प्रांतों ही के थे। उन्हीं के द्वारा भाषा को बहुत कुछ प्रौढ़ता प्राप्त हुई। वे कवि अपने नित्य के जीवन में व्रजभाषा का प्रयोग नहीं करते थे। उनकी मातृभाषा अवध की कोई न कोई बोली थी। क्रमशः इन प्रांतीय बोलियों का प्रभाव साहित्यिक भाषा पर पड़ने लगा। यह प्रभाव पदावली ही तक सीमित न रहा। क्रियाओं के रूप तक इससे प्रभावित होने लगे। काशी प्रांत के कवियों, जैसे रघुनाथ, हनुमान आदि की भाषा पर पूर्वी अवधी का भी प्रभाव लक्षित होता है। रत्नाकर जी ने भी बड़ी स्वच्छंदता से पूर्वी प्रांतों के शब्दों को ग्रहण किया है। उनमें से बहुत से प्रयोग तथा शब्द तो काशी-प्रांत ही में प्रचलित हैं। पर कवि की मँजी हुई भाषा के बीच ये शब्द सहज लक्षित नहीं होते। यहाँ कुछ शब्द उदाहरण सहित उपस्थित किए जाते हैं:—

हिरकि=(हिरकना=पास आना, सटना)

हिरकि रही है स्याम-अंक मैं ससंक मनौ,
थिरकि रही है बिज्जु बादर-दरीची मैं।

बिसाही=(बिसाहना=मोल लेना)

पर पछिताव यहै होत कत तंदुल दै,
हाय अनचाही पती बिपति बिसाही मैं।

अहक=साध या इच्छा।

कहै रतनाकर बयारि बारि सीरे कहूँ,
पैयै नैंकु एक रहै अहक यही लगी।

उतान=चित, उलटा।

मारे किते बान सौं कृपान सा सँघारे किते,

केते कुंत तानि कै उतान करि डारे हैं।

पेसि=प्रवेश करके।

खपायौ =(खपाना =मार डालना)

ज्यौंही चह्यौ चसक चखायौ ताहि कंजर सो,

पंजर मैं त्यौंही पेसि खंजर खपायौ है।

झुरात=(झुराना=सूखना)

उरात=(उराना=उरा (य) जाना=समाप्त हो जाना)

ऐसौ भरयौ कछु पानिप नैननि

जो तन तापनि हूँ न झुरात है।

गोवत गोवत हूँ न दुरात औ

रोवत रोवत हूँ न उरात है॥

निबुकि=(निबुकना=पकड़ छुड़ा कर अंगों को संकुचित कर निकल जाना)

जानि हमैं कादर निरादर करत नाथ,

सूर के हिये सौं क्यौं न निमुकि चले गए।

घुरि=मुड़ कर

बिहँसि बिलोक लाल लोल ललचाने घुरि,

मुरि मुसकाइ सो सकोच-सरसानी सी।

झमेला=बखेड़ा, झगड़ा।

कहै रतनाकर बुलाइ अब कीजै न्याइ,
दूरि करि जेते द्रोह मोह के झमेले हैं।

गंजन=पीड़न

अंजन बिनाहू मन-रंजन निहारि इन्हैं,
गंजन ह्वै खंजन-गुमान लटे जात हैं।

लुरियाना=झुकना, ढलना, लोभवश पीछे लगे फिरना।

बूझति न रंच पंचसर के प्रपंच बाल,
लाल की ललक लखिबे कौं लुरियाति है।

लौकना=दिखाई पड़ना

ऊषा कौ प्रकास लाग्यौ लौकन अकास माहिं,
सुमन बिकास कैं हुलास भरिबै लगे।

बतास=वायु।

पाला परै आस पै न भावत बतास बारि,
जात कुम्हिलात हियौ कमल हमारौ है।

पँवारि = (पँवारना=जल में बहा देना, जल में बहा कर नष्ट कर देना)

चिंता-मनि मंजुल पँवारि धूरि-धारनि मैं,
काँच-मन-मुकुर सुधारि रखिबौ कह्यौ।

साँसति=बहुत अधिक कष्ट।

कहै रतनाकर तिहारे जोग-रोग माहिं,
तन मन साँसनि की साँसति प्रमानैं हम।

उद्वासना=उच्चाटन करना, भगाना, जलमग्न करना, नष्ट करना, उभाना।

नंद के कुमार सुकुमार कौं बसाइ यामैं
ऊधौ अब हाइ कै बिसास उद्वासैं हम।

भकुवाने=(भकुआ=मूर्ख)।

सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।

उधिराना=वायु में उड़ जाना, वायु में उड़ कर नष्ट होना, नष्ट हो जाना।

उड़ि उधिरानी किधौं ऊरध उसासनि मैं
बहि धौं बिलानी कहूँ आँसुनि की धार मैं।

तथा:—

कहै रतनाकर गँभीर सोई ऊधव कौ
धीर उधरान्यौ आनि ब्रज के सिवाने मैं।

साफी=भाँग छानने का वस्त्र, अँगौछा।

तूँबा तोरि साफी छोरि मुख बिजया सौं मोरि,
जैसे कंज गंध पै मलिंद मंजु धावै है।

विशेष—यद्यपि इस शब्द का उद्गम विदेशी है, पर इसका प्रचार काशी ही की ओर अधिक है। ब्रजमंडल में यह प्रयुक्त नहीं होता।

फटही=फटी हुई

बाध=बान, मूँज इत्यादि की पतली डोर जिससे खाटें बिनी
जाती हैं।

कहै रतनाकर प्रगट ही दरिद्र-रूप,
फटही लँगोटी बाँधि बाध सौं लगाए हैं॥

रूसना=रुष्ट होना।

कहै रतनाकर रहत न अकेले बनै,
मेले बनै रुसिहूँ तिया सौं दोषवंत कौं

विशेष—रुष्ट के दो अपभ्रंश हुए, 'रूस' तथा 'रूठ' रूसने का प्रचार पूर्व की ओर हुआ, रूठने का प्रचार पश्चिम की ओर।

सिकहर=छींका।

कहै रतनाकर न बात कहिबे कौ समै,
ठसक उठाइ ताइ दीजै सिकहर पै।

विशेष—पश्चिम में इस शब्द का 'छींका' ही रूप में प्रयोग होता है।

तिताई=मिर्च का कड़वापन।

व्यापति तिन्हैं न मान-मिरच-तिताई नैंकु,
पावति सवाद सुख ऐसौ कछु दीठी है।

गोरू=गाय, बैल।

कोउ गोरुन जल प्याइ न्हाइ परखति पनघट पर।
कोउ गागरि भरि चलति सीस धरि कोउ कटि-तट पर॥

उलरि=उछल कर।

मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाए।
लरि अति ऊँचैं उलरि गोति गुथि चलत सुहाए॥

धिरइ=धिक्कार कर, फटकार कर।

यौं कहि, धिरइ, चढ़ाइ भौंह ऋषिराइ सिधाए।
हरि सुमिरत हरिचंद हाट अति आतुर आए॥

अँगेजना=(शरीर पर) झेलना।

औ अबोध बालकहूँ कौं बिलखत सँग भेज्यौ।
इक मरिबे कौं छाड़ि कहा जो नाहिं अँगेज्यौ॥

कुछ शब्द ऐसे है जिनका मूल तो एक ही है, पर पूर्व तथा पश्चिम में भिन्न भिन्न अपभ्रंशरूप हैं। रत्नाकरजी ने ऐसे कुछ शब्दों के दोनों रूपों का व्यवहार किया है। कुछ उदाहरण देखिएः—

पूर्वी रूप	पश्चिमी रूप
अँनेस	अँदेस (अँदेसो)
सनेस	सँदेस (सँदेसो)
सुसकि (सिसक)	सिसकि

कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका उच्चारण तथा रूप एक ही हैं पर पूर्व तथा पश्चिम में भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। कवि ने कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देखिएः—

गारना— { पूर्वी अर्थः—निचोड़ना।
पश्चिमी अर्थः—नष्ट करना }

उदाहरणः—

पूर्वी अर्थ के अनुसार :—

कोउ ऊरुनि बिच दाबि बसन गीले गहि गारति।
उसरत पट कटि उरसि संक जुत बंक निहारति॥

पश्चिमी अर्थ के अनुसार :—

सारी सखी मंडली मनाइ समुझाइ थकीं
निज निज गुन के गुमान सब गारैं हैं।

तथाः—

पच्छिराज-बेग कौ गुमान गारिबे कौ गुनि,
औसर अनौसर पियादे पाय आए हैं।

चाँपि— { पूर्वी अर्थः—(दबा कर) नष्ट करना।
पश्चिमी अर्थः—दबा कर

उदाहरणः—

पूर्वी अर्थ के अनुसार :—

चपल चकत्ता की महत्ता अरु सत्ता चाँपि,
चंपत कौ नंदन अमंद कहवाऊँ मैं।

पश्चिमी अर्थ के अनुसारः—

कहै रतनाकर निहारि अध चाँपै चख,
चूमिबे कौं संभु कौ अधर फरकावै है।

चेत— { पूर्वी प्रयोगः—स्मरण, याद, (संज्ञा)
पश्चिमी प्रयोगः—सचेत होकर (क्रिया की भाँति)

उदाहरणः—

पूर्वी अर्थ के अनुसारः—

चेत चलिबे की षट मास लौं न आई इमि,

एते चंद चाहि चंद चकपक ह्वै रह्यौ।

तथा

ज्यौं ही भए बिरथ रथांग गहि हाथ नाथ,

निज प्रन भंग की रही न चित चेत है।

पश्चिमी अर्थ के अनुसारः—

कहै रतनाकर त्यौं बिटप निवासनि मैं,

द्विजगन चेति कसमस करिबै लगे।

तथा

पैठि परयौ बीरनि समेत सोमदेव धीर,

चेते कछु चकित अचेत सुरासेवी ज्यौं।

विशेष—पश्चिम में चेत [ना] का प्रयोग क्रिया की भाँति होता है। पूर्व में संज्ञा की भाँति भी।

उबरना— { पूर्वी अर्थः—शेष रहना, मात्रा से अधिक होना
पश्चिमी अर्थः—उद्धार पाना, विपत्ति से छूटना }

विशेष—पूर्व में इसके दोनों अर्थ प्रचलित हैं। पश्चिम में 'शेष' रहना अर्थ बहुत कम प्रचलित है। पूर्वी अर्थ में इसके 'उबारू' आदि अनेक रूप प्रचलित हैं।

उदाहरणः—

पूर्वी अर्थ के अनुसार :—

कहै रतनाकर त्यौं उदर उदार माहि,

सकल समानी कला एकौ उबरी नहीं।

केती मिली मुकति बधू बर के कूबर मैं
ऊबर भई जो मधुपुर मैं समानी ना।

ह्वै कै कुसमायुध के आयुध उबारू अब,
सब धरनी ही मैं धरोहर धरे रहैं।

पश्चिमी अर्थ में:—

पहुँच न पायौ पुनि बारि लौं न जौं लौं वह,
तौं लौं लियौ लपकि उबारि हरबर सौं।

कुछ मुहावरे ऐसे हैं जो पश्चिम में भिन्न रूप में प्रयुक्त होते हैं तथा पूर्व में भिन्न रूप में। कवि ने कुछ मुहावरों के पूर्वी रूप भी ग्रहण किए हैं। उदाहरणार्थ 'टर जाना' मुहावरे का काशी में 'टर देना' रूप प्रचलित है। देखिए:—

ऐसौ कछु बानक बनावति बिलच्छन कै,
जासौं डरि जम की जमाति टरि देति है।

काशी तथा काशी के आस पास एक प्रयोग 'तीन पाँच' प्रचलित है जिसका अर्थ 'प्रपंच' होता है। संभवतः इसकी उत्पत्ति तीन गुणों तथा पाँच तत्वों से हुई है। कवि ने दो स्थलों पर इसका भी प्रयोग किया है। देखिए:—

तीन गुन पाँच तत्त्व बहकि बतावत सो
जैहै तीन-तेरह तिहारी तीन-पाँच ह्वै।

पै ताकी तकि लोथ त्रिपथगा के तट ल्यावत।
नौ ह्वै ग्यारह होत तीन पाँचहिं बिसरावत॥

पूर्व में जब एक क्रिया के होने के साथ ही दूसरी क्रिया का संपादन होता है तो पहली के साथ 'मान' शब्द जोड़ देते हैं जैसे कहतमान (कहतैमान) चलतमान (चलतैमान) अर्थात् कहने के साथ ही, चलने के साथ ही। कवि ने एक स्थान पर यह प्रयोग भी किया है—

सुन्यौ गंग-गुन-ग्राम तात सुभ धाम सुहायौ।
कहतमान जिहिं लखौ छार औरै रँग छायौ॥

काशी में 'अपने' का साधारण लोग 'आपने' रूप कर देते हैं। इसका भी प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। देखिए:—

आपने चने कौ अबै बदलौ चुकाए लेत,
चपल चबाए लेत तंदुल सुदामा कौ।

हाय आपने प्रिय सुत की यह दसा निहारौ।
लुटि गई हम हाय करहिं अब कहा उचारौ॥

पूर्व में मुँह चिढ़ाने को 'मुँह बिराना' कहते हैं। देखिए:—

चंद, चतुरानन, पँचानन, षड़ानन के,
याननि के हेरि हँसि आनन बिरावैं हैं।

एक-आध स्थान पर कुछ शब्दों का मारवाड़ी भाषा के ढँग पर प्रयोग हुआ है। व्रजभाषा में घालने का अर्थ नष्ट करना होता है, मारवाड़ी भाषा में इसका अर्थ डालना होता है। देखिए यह इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है:—

घालि गयौ जब तैं कन्हैया नेह काननि मैं,
तब तैं न नैंकु कछू काहू की सुनति है।

'मेलने' का अर्थ मारवाड़ में डालना है। इसी अर्थ में 'मेले' का यहाँ प्रयोग हुआ है:—

ठेले कछु दंत सौं सकेले कछु सुंड माहिं,
मेले कछु आनन गजानन परात हैं।

मारवाड़ व्रजभूमि के पड़ोस में पड़ता है अतः बहुत से शब्दों तथा प्रयोगों का आदान-प्रदान चलता ही रहता है। कुछ प्रयोगों पर अँगरेजी लाक्षणिकता की भी छाप है। नीचे के 'चख रीतैं' प्रयोग में (Vacant look) का स्पष्ट आभास है:—

इमि बिलखत बतरात थकित चितवत चखरीतैं।

इसी प्रकार नीचे का 'मत-प्रकाश' करना प्रयोग भी नवीन शैली का है:—

"जोगिराज निज मत-प्रकास प्रथमहिं हम कीन्ह्यौ।

गंगावतरण की भाषा पर बिहारी की सतसई की भाषा का स्थान स्थान पर प्रभाव पड़ा है। सतसई के शब्द तथा वाक्यखंड ज्यों के त्यों गंगावतरण में मिलते हैं। कुछ ये हैं—मरक, कहलाने, नटसाल, दीरघ दाघ निदाघ, सुनकिरवा की आड़, ठाढ़े गाढ़े कुच, चोलरँग, भोंडरनग, गुभौरौटा। इन शब्दों के बिना भी रत्नाकर जी अपना काम चला सकते थे, पर इन्हें साहित्यिक विस्तार देने को इनका प्रयोग किया है।

तुलसीदास जी के प्रयोगों का आभास भी कभी कभी मिल जाता है। देखिए:—

किंकिन, कंकन, नूपुरकी धुनि धूम मचावति। 'हिंडोला'

कंकण, किंकिण नूपर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि

'रामायण'

घर घर नित नव मंजुल मंगल मोद प्रजा के।

'हरिश्चंद्र'

जबतें राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये।

'रामायण'

राई लोन उतारि उमगि बलि जाति जठेरी।
बिप्र-बधू कुल मान्य देतिं आसिष सुखसानी।

'गंगावतरण'

बिप्रबधू कुलमान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी॥

'रामायण'

संपति मानि सुहाग चलति जापैं उमगानी।
करत कामना कछुक सिद्धि आवति अगवानी।

'गंगावतरण'

फल अनुगामी महिपमनि, मन अभिलाष तुम्हार॥

'रामायण'

काव्य में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उचित नहीं जान पड़ता। इनसे भाषा में अप्रासादिकता आती है। पाठक का ध्यान इन शब्दों में बँट जाने से रसोद्रेक में बाधा पड़ती है। रत्नाकर जी ने एक-आध बार ही ऐसा किया है पर यह उचित नहीं हुआ है:—

(क) प्रगटत सोइ अनुभाव भाव औरै सुखकारी।
है थाई उत्साह भयौ रति कौ संचारी॥

(ख) कहुँ बिस्तर थल पाइ बारि-बिस्तार बढ़ावति।
लघु गुरु बीचि पसारि छंद प्रस्तार पढ़ावति॥

कुछ शब्दों का अपभ्रंश रूप भावोपयोगी नहीं हुआ है जैसे 'आइचर्ज' का प्रयोग।

अपभ्रंशकाल के अवाइ (अवाक) अकह (अकथ) आदि शब्दों का भी अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है।

अरबी फारसी के शब्दों का भी अपभ्रंश रूप में (तद्भवरूप में) प्रयोग हुआ है। कुछ उदाहरणः—

हौसलौ, अँदेसौ, महल, गरक, दाग, जुलम, गौर, बहम, सुलह, नजर, निगाह, फकीर, इलाज आदि।

कुछ शब्दों का प्रयोग ग्राम्य सा लगता है जैसेः—नार (गला) फरिया (लड़कियों का छोटा लहँगा) आदि।

'आनि' क्रिया का अर्थ लाकर होता है। पर सूरदास आदि कुछ प्राचीन कवियों ने इसका प्रयोग 'आकर' के अर्थ में भी किया है। रत्नाकर जी ने भी अनेक स्थानों पर प्राचीन ढंग का प्रयोग रखा है। प्राचीन प्रयोगों को धीरे-धीरे छोड़ते रहने से भाषा में नवीनता की रक्षा होती है। बीच बीच में कुछ प्राचीन प्रयोग अस्पष्टता या भ्रम ही उत्पन्न करते हैं। इस 'आनि' का प्रयोग देखिएः—

आनि (आकर):—

(१) तब भूपति-ढिग आनि व्यवस्था बिषम बखानी।
(२) सुंदरबन मैं भरति भूरि सुठि सुंदरताई।

सगर-सुतनि-हित मानि आनि सागर समुहाई ॥

आनि (लाकर):—

करि कुबेर सौं जुद्ध आनि धन सुद्ध चुकैहैं ।

इसके साथ ही 'आइ' का भी प्रयोग किया है । देखिए:—

कपिल-धामढिग आइ धाइ चहुँ ओर उमाही ।

'अनेक' विशेषण में संख्या का भाव छिपा है । इसीसे 'अनेक मनुष्य' प्रयोग अच्छा लगता है । 'अनेक पानी' प्रयोग अच्छा नहीं लगता । जहाँ इसका विशेष्य छिपा रहता है तथा यह स्वयं 'कर्ता' बन बैठता है वहाँ भी इसके बहुवचन होने का प्रभाव क्रिया पर भी पड़ना चाहिए । पर बँगला भाषा में 'अनेक जल' ऐसे प्रयोग भी साधु समझे जाते हैं । रत्नाकर जी ने भी कुछ स्थानों पर ऐसा ही प्रयोग किया है । देखिए:—

(क) **नैंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,**
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ।

(ख) **लाई घात अनेक बात नहिं कछु बनि आई ।**

कुछ शब्दों का प्रयोग कभी एक वचन में किया गया है, कभी बहुवचन में । उदाहरण के लिए पाय (पैर) शब्द ले लीजिए । देखिए:—

एक वचन में:—

ग्राम-देवतनि पूजि दान बहु भाँतिनि कीन्यौ ।
नाइ ईस कौं सीस पाय पुर-अंतर दीन्यौ ।

बहुवचन में:—

मुनि-नाथहिं सिर नाइ पाय अंतः पुर धारे ।

छंद तथा तुक के आग्रह से कुछ स्थानों पर क्रियाओं के वचनों के अशुद्ध प्रयोग हुए हैं। देखिए:—

दुख-दुर्मति-दुर्भाग्य-दुरित-रेखा हठि मेटीं।
साठ-सहस सब छार-रासि निज अंक समेटीं॥

छार-रासि के लिए 'समेटी' ही होना चाहिए था, पर ऊपर की 'मेटीं' के आग्रह से 'समेटीं' कर दिया गया है।

ऐसी ही लिंग की कुछ त्रुटियाँ कुछ स्थानों पर रह गई हैं।

देखिए:— (१)

फिर यह आनन कहाँ कहाँ यह नैन अभागी।
यौं कहि बिलखि निहारि नृपति-रुख रोवन लागी॥

नेत्र पुंलिंग है अतः 'अभागी' अशुद्ध है।

(२)

फिरयौ अस्व चहुँओर छोर छिति की सब छानी।

छोर शब्द पुंलिंग है। यहाँ बहुबचन भी है। अतः 'छानी' प्रयोग अशुद्ध हुआ है।

प्राण शब्द का ब्रजभाषा में भी बहुवचन में प्रयोग होता है। कवि ने एक स्थान पर एक वचन में प्रयोग किया है:—

अरे प्रान किहिं आस रह्यौ अब बेगि नसत ना।

कुछ क्रियाओं के प्रयोग पर भी पूर्वी भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। नीचे 'समुझात' प्रयोग देखिए:—

साँचहिं अब समुझात बात हम अनुचित कीन्ही।

नीचे का 'पुकारी' प्रयोग भी देखिए:—

सबहिं मैं सेवक सेवत को निकसि पुकारी।

ब्रजभाषा के अनुसार 'तेहि रोइ पुकारे' प्रयोग होना चाहिए था।

प्राचीन काल में कुछ शब्दों से भी विभक्तियों का काम चलाया जाता था। इसके कुछ उदाहरण हमारी भाषा में आज भी मिलते हैं। रत्नाकर जी ने भी कुछ ऐसे प्रयोग किए हैं। देखिए:—

(१) पत्र-बीच ह्वै झलकति कहुँ कलिंद-नंदिनी।

(२) गोपिन के नैन-नीर ध्यान-नलिका ह्वै धाइ
दृगनि हमारैं आइ छूटत फुहारे हैं।

(३) लाइ सुमन बहु भाँति पाँति करि रचे कँगूरे।

कवि ने संज्ञा तथा सर्वनाम के रूपों तथा क्रिया के कालों का प्रयोग बड़ी व्यवस्था से किया है। भाषा का समुचित अध्ययन करके इन्हों ने अपने लिए कुछ सिद्धांत निर्धारित कर लिए थे जिनका पालन अपनी भाषा में सर्वत्र किया है। ब्रजभाषा के प्रायः कवियों की भाषा में जो अस्थिरता तथा अव्यवस्था मिलती है वह इनकी भाषा में कहीं नहीं प्राप्त होती।

उद्धव शतक

श्रीरामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों ने शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति-मार्ग की दृढ़ स्थापना की। इन आचार्यों ने किसी नवीन धर्म का प्रतिपादन नहीं किया। इनके सिद्धांतों के आधार-भूत ग्रंथ पहले से उपस्थित थे। इनका कार्य केवल समन्वय पूर्वक सिद्धांतों का प्रतिपादन था। इसके लिए इन्हें खंडन-मंडन की भी आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार आचार्यों का कार्य कुछ कुछ पूरा हुआ। अब जनता तक भक्ति के सिद्धांतों को पहुँचाने की आवश्यकता हुई। शास्त्रीय तर्क-वितर्क साधारण जनता के सम्मुख कैसे उपस्थित किए जा सकते थे? इस कार्य का पूरा भार भक्त कवियों ने अपने ऊपर उठा लिया। यदि वे कोरे कवि ही रहे होते तो इनका उतना प्रभाव न पड़ता। ये स्वयं भक्त थे। इन्होंने उपदेश और उदाहरण दोनों उपस्थित किए। उपदेश इनकी रससिक्त वाणी थी, उदाहरण ये स्वयं थे। इनके द्वारा भक्ति का बहुत व्यापक प्रचार हुआ। साधारण जनता के नित्य के व्यवहार तक इतने गंभीर तथा सूक्ष्म सिद्धांतों को पहुँचाने का श्रेय इन्हीं भक्त कवियों को है। किसी भी देश की जनता ने ऐसे ऊँचे सिद्धांतों को इतने व्यापक रूप में कभी नहीं ग्रहण किया।

इन भक्त कवियों ने भक्ति के व्यावहारिक सिद्धांतों के प्रतिपादन के साथ ही साथ ज्ञान-मार्ग की अव्यावहारिकता प्रदर्शित

की। उपनिषदों आदि में प्राप्त ज्ञान-मार्ग के खंडन की उतनी आवश्यकता न थी। पर इन सगुणोपासक भक्त कवियों के पहले कुछ ऐसे उपदेशक जनता के सामने आ चुके थे जिन्होंने गंभीर मुद्राएँ धारण करके ज्ञान की कोरी बातें बना कर लोगों को वेदों और शास्त्रों से विमुख करने का प्रयत्न किया था। अवतार, प्रतीकोपासना, आचार तथा वेदों और शास्त्रों का तुमुल ध्वनि से खंडन तो किया गया पर जनता के सामने अपने भी कुछ ठोस नवीन सिद्धांत उपस्थित न किए गए। संक्षेप में ये 'ज्ञानी' कहानेवाले सब कुछ छीनने ही आए थे इनके पास देने को कुछ न था। भक्त कवियों ने इन उपदेशकों के विनाशकारी स्वरूप को पहचाना। तुलसीदास आदि ने तो नाम ले ले कर कुछ ज्ञानियों को खरी-खोटी भी सुनाई। इन भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में भक्ति के प्रचार के साथ ही कोरे ज्ञान का खंडन भी प्रारंभ किया। इसका सबसे अच्छा अवसर कृष्णोपासक कवियों को मिला। गोपियों और उद्धव के संवाद द्वारा इन्होंने ज्ञान की अव्यावहारिकता सिद्ध कर दी। जो कार्य आचार्यों ने भाष्यों के द्वारा पूरा किया वही इन लोगों ने भ्रमरगीतों के द्वारा। इस विषय पर प्रायः सब कृष्ण-भक्त कवियों ने कुछ न कुछ लिखा है। यह विषय कितना सर्वप्रिय हो रहा था यह इसीसे समझा जा सकता है कि तुलसीदास ऐसे अनन्य रामोपासक कवि ने भी अपनी कृष्णगीतावली में इस पर कुछ रचनाएँ की हैं। सूरदास के सूरसागर के अंतर्गत आनेवाला भ्रमरगीत बहुत ही प्रौढ़ रचना है। उसके टक्कर की इस विषय को दूसरी रचना हिंदी में

नहीं है। नंददास का भ्रमरगीत भी एक छोटी सी सुंदर रचना है। रीतिकाल के कवियों की रचनाओं में भी यह विषय आता रहा। इन रचनाओं के आधार ग्रंथ श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि हैं। पर भागवत में यह अंश बहुत छोटा है। इस ग्रंथ में उद्धव उस रूप में नहीं मिलते जिस रूप में वे सूरदास आदि की रचनाओं में मिलते हैं। भागवत के उद्धव ज्ञानोपदेश के द्वारा भक्ति या प्रेम से विमुख करने नही आते। कृष्ण गोपियों को समझाने को अपने सखा को भेज देते हैं। वे उनसे कहते हैं कि तुम गोपियों को जाकर यह उपदेश दो कि मैं सर्वात्मा हूँ अतः तुमसे मेरा वियोग हो ही नहीं सकता। कृष्ण कुछ दिनों में आकर दर्शन देने का संदेश भी भेजते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है कि कृष्ण स्वप्न के द्वारा ब्रजभूमि गए और नंद-यशोदा तथा गोप-गोपियों को दर्शन देकर शान्त किया। सूरदास आदि की रचनाओं में उद्धव का जो स्वरूप मिलता है वह बहुत कुछ कवियों की कल्पना है। यह कल्पना भी सोद्देश है। उद्देश वही है, कोरे ज्ञानवाद का खंडन करना। उद्धव इन ज्ञानियों के प्रतिनिधि रूप में उपस्थित किए गए हैं। कवियों ने अपना सारा क्षोभ गोपियों के बहाने प्रकट किया है। अब रत्नाकर जी के उद्धव शतक के अध्ययन की ओर अग्रसर हुआ जाय। इस विषय पर इतनी अधिक रचनाएँ हो चुकी थीं कि पिछले कवियों की रचनाओं में पिष्ट-पेषण मात्र रह गया था। पर रत्नाकर जी ने अपनी रचना में विषय को फिर नवीन सा कर दिया है। इतने पुराने विषय को लेकर भी उन्हें जो आश्चर्यजनक सफलता

मिली है वह उनकी प्रतिभा तथा शक्ति का प्रमाण है।

एक दिन कृष्ण यमुना स्नान करने आते हैं। वहाँ एक बहता हुआ कमल देखते हैं। उसे देख कर उन्हें राधा का स्मरण हो आता है। कमल को देख कर कमलवदनी का स्मरण हो आना अस्वाभाविक नहीं। उसमें कुछ और भी विशेषता थी:—

पाइ बहे कंज मैं सुगंध राधिका कौ मंजु
ध्याय कदली-बन मतंग लौं मताए हैं।

यह पंक्ति कुछ आलोचकों की दृष्टि से आक्षेप योग्य है क्योंकि इसमें उन्हें अस्वाभाविकता मिलती है। इसमें विवाद-ग्रस्त अंश है 'सुगंध राधिका कौ'। इसका भाव इस भाँति समझा जाता है। राधा ने उस कमल को सूँघ कर फेंक दिया होगा। वह बहता बहता मधुपुरी में पहुँच गया। राधा के सूँघने से उसमें राधा को सुगंध आ गई। इस प्रकार अर्थ करके आक्षेपों की लड़ी बाँध दी जाती है। पर कवि का यह तात्पर्य ही नहीं है। उस कमल में जैसी सुगंध है वैसी ही राधा के शरीर में रही होगी। कृष्ण को इस सुगंध से उसका स्मरण हो आता है। 'कौ' का भाव 'वही' से नहीं है, 'की-सी' से है। सदृश वस्तु के देखने, सूँघने आदि से सदृश का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है। हमारे यहाँ की काव्य-रीति से परिचित लोगों के लिए तो इसमें कोई ऐसी चौंकने की बात नहीं। 'स्मरण' में ऐसी ही योजना प्रायः होती ही रहती है। यहाँ भाव और अलंकार दोनों मिल गए हैं।

आक्षेप का दूसरा स्थल नीचे की पंक्तियाँ हैं:—

न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात

जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।

कहा जाता है कि कवि ने मुरझाए कमल की योजना कर सौंदर्य तथा कला की उपेक्षा की है। यदि रखना ही था तो सुंदर नव-कुसुमित पुष्प रखते। पर कवि मुरझाए कमल से कृष्ण के वियोग में मुरझाई हुई राधा की ओर संकेत करना चाहता है। कृष्ण राधा को एकदम से भूल नहीं गए थे। पर अनेक कार्यों में व्यस्त रहने से उतना ध्यान राधा की वियोग-व्यथा की ओर नहीं जाता था। मुरझाए कमल ने इस वियोग-व्यथा ही का ध्यान दिलाया है। यह कार्य्य खिले हुए नवीन पुष्प से न हो पाता। मुरझाए पुष्प से प्रेम एक बार नया हो जाता है:—

कान्ह गए जमुना नहान पै नए सिर सौं

नीकैं तहाँ नेह की नदी मैं न्हाइ आए हैं।

उद्धव को अपने धीर सखा की यह अवस्था देख कर आश्चर्य हुआ। कृष्ण से इस विषय में पूछा। पर उन्हें इस प्रेम-कहानी का पूरा ब्यौरा सुनाने में कुछ आगा पीछा हुआ। सबसे पहले तो संकोच ने बाधा उपस्थित की। जब तक पूरा विवरण न उपस्थित किया जाय जब तक उद्धव क्या समझ पावेंगे। यही सब सोचते-विचारते कृष्ण प्रेम-मग्न हो गए। नेत्रों से आँसू बहने लगे। यद्यपि मुँह से कुछ नहीं कहा पर नेत्रों ने बात कुछ कुछ प्रकट कर दी:—

कहा कहैं ऊधौ सौं कहैं हूँ तौ कहाँ लौं कहैं

कैसे कहैं कहैं पुनि कौन सी उठानि तैं।

तौलौं अधिकाई तैं उमगि कंठ आई भिंचि
नीर है बहन लागी बात अँखियानि तैं ॥

आगे अनेक कवित्तों में कृष्ण की विरह-वेदना का बहुत ही मार्मिक वर्णन है। इस प्रसंग में कुछ विचारणीय है। सूरदास, नंददास आदि ने कृष्ण की व्याकुलता का उतना वर्णन नहीं किया है। इसका रहस्य भक्ति-भाव की कुछ विशेषताओं में है। इसको समझने के पहले प्रेम के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है। हमारे यहाँ प्रेम में तुल्यानुराग ही आदर्श रहा। नायिका तथा नायक परस्पर एक दूसरे के भावों के आलंबन होते रहे। पुरुषों में बुद्धि का कुछ अधिक उत्कर्ष मानते हुए उनके प्रेम को कुछ संयत रूप में उपस्थित किया जाता था। स्त्रियों को अधिक भावुक तथा स्नेह-पूर्ण मानते हुए उनकी भावनाओं को अधिक वेग-पूर्ण चित्रित किया जाता था। पर इस साधारण भेद का प्रेम-कथाओं पर कोई ऐसा प्रभाव नहीं पड़ा। जब भक्ति के अधिक भाव-पूर्ण रूप को प्रेम का नाम दिया गया तो प्रेम के साधारण आदर्शों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। भक्ति श्रद्धा से प्रारम्भ होती है, अनुराग से होकर आगे बढ़ती है। श्रद्धा कुछ दूर रहती है, अनुराग अधिकाधिक निकट पहुँचता जाता है। श्रद्धा के भीतर कुछ भय भी छिपा रहता है। अनुराग में कुछ धृष्टता आने लगती है। अनुराग श्रद्धा की अपेक्षा और भी सुकुमार हृदय-वृत्तियों के व्यायाम का फल है। इसी क्रम से आगे बढ़ते बढ़ते भक्ति को प्रेम का नाम प्राप्त हुआ। अपनी ओर से तो भक्त इतना आगे बढ़ आया। पर दूसरी

ओर का क्या पता ? भक्त भगवान् को प्रेम करता है। पर भगवान् के प्रेम का क्या प्रमाण ? भगवान् की कृपा का तो भरोसा किया जा सकता है। संभव है प्रेमी भक्त की त्रुटियों को देख कर भगवान् उसकी ओर उन्मुख ही न हों। ऐसी अवस्था में तुल्यानुराग वाले प्रेम को अवसर ही नहीं रह जाता। अब प्रेम का आदर्श बदलने लगा। एकांगी प्रेम का महत्त्व प्रतिपादित किया जाने लगा। रसखान ने आदर्श प्रेम को एकांगी ही बताया है:—

इक अंगी, बिनु कारनहिं, इकरस, सदा प्रमान।
गनै प्रियहिं सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥

तुलसीदास जी ने भी चातक को आदर्श प्रेमी के रूप में उपस्थित किया। यही प्रेम भक्तों का भी आदर्श हुआ। चातक अपनी लगन में सच्चा रहता है। प्रिय भी इस प्रेम से प्रभावित होता है या नहीं इससे सच्ची प्रीति कोई संबंध नहीं रखती। यदि प्रेम के बदले में प्रिय से तिरस्कार ही प्राप्त हो तो भी कोई चिंता नहीं:—

बरसि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुकटूक।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक॥
उपल बरसि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

इसी प्रेम को ध्यान में रख कर भक्तों ने गोपियों के अनुराग तथा विरह-वेदना का जितना वर्णन किया है उतना कृष्ण की व्याकुलता आदि का नहीं। भक्ति पक्ष में तो यह ठीक ही है। पर प्रेम पक्ष में यह उतना सुंदर तथा स्वाभाविक नहीं। जिस प्रकार भक्तों

के लिए प्रभु परोक्ष रहते हैं उसी प्रकार गोपियों के लिए कृष्ण नहीं थे। गोपी-कृष्ण के प्रेम ने तो अपने सब अंगों में पूर्णता प्राप्त की थी। वहाँ तो मान को भी स्थान था। कृष्ण राधा को 'कन्हैयाँ' भी चढ़ाते थे। राधा को अपने मनमोहन पर जितना अधिकार था उससे अधिक किसी भी प्रेयसी का अपने प्रिय पर न रहा होगा। कभी कभी तो वे बड़ी अनहोनी कर बैठती थीं। तनिक तनिक सी छाछ के लिए कन्हैया को नचाती थीं। प्रभु भी अपने को भूले हुए नाचते फिरते थे। केवल दाम्पत्य प्रेम के अंतर्गत ही नहीं वात्सल्य में भी यही दशा थी। एक दिन कहीं थोड़ी सी मट्टी खा ली। बस, फिर क्या था, मैया यशोदा आपे से बाहर हो गई। कन्हैया को रस्सी से बाँध कर एक ओर खड़ा कर दिया। हाथ में एक छड़ी ले ली। उस भोले सुकुमार कन्हैया पर मैया को कुछ भी छोह न आया। छोटा सा अबोध बालक छड़ी देख कर सहम उठा। डरते काँपते माँ से कहा 'मैया मैंने मट्टी नहीं खाई है'। इतने ही से नहीं, मुँह खोल कर दिखाना पड़ा। यह सब थी लीला। भगवान् अपने आनंदांश की आह्लादिनी शक्ति का समाश्रयण करके लीला करते हैं। भक्ति के लिए ऐश्वर्य्य भाव का तिरोभाव तथा माधुर्य्य भाव का आविर्भाव आवश्यक है। इसके बिना भक्त में धृष्टता नहीं आती। बिना धृष्टता के लीला हो ही नहीं सकती। उधर भक्त भी अभेद ज्ञान हो जाने पर भी लीलोपयोगी भेद बनाए रखते हैं। इन सब बातों का प्राप्त प्रसंग से इतना ही संबंध है कि कृष्ण के अनुराग में भी उतनी ही

गंभीरता दिखाने की आवश्यकता है जितनी गोपियों के प्रेम में। सूरदास आदि ने सिद्धांत प्रतिपादन पर अधिक ध्यान देकर इसकी कुछ उपेक्षा कर दी है। रत्नाकर जी ने कृष्ण तथा गोपियों के तुल्यानुराग का वर्णन कर भक्ति को वास्तविक प्रेम-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। सूर ने भी कहीं कहीं बड़ी मार्मिकता से कृष्ण के प्रेमोद्गारों को चित्रित किया है:—

हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपँगसुत मोहिं न बिसरत ब्रजबासी सुखदाई।
यह चित होत जाउँ मैं अबहीं, यहाँ नहीं मन लागत।
गोप सुग्वाल गाय बन चारत अति दुख पायो त्यागत।
कहँ माखन चोरी? कहँ जसुमति 'पूत जेंव' करि प्रेम।
सूर स्याम के बचन सहित सुनि व्यापत आपन नेम॥

नंददास ने भी कृष्ण के प्रेम का वर्णन किया है:—

सुनत सखा के बैन नैन आए भरि दोऊ।
बिबस प्रेम-आवेस रही नाहिन सुधि कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै गईं साँवरे गात।
काम-तरोवर साँवरो ब्रज-बनिता ही पात॥

पर सूरसागर में ब्रज-वल्लभियों के प्रेमोद्गारों के सामने कृष्ण का भाव कुछ दब सा जाता है। रत्नाकर जी ने दोनों को समान भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। कृष्ण ब्रजभूमि का इन मार्मिक शब्दों में स्मरण करते हैं:—

गोकुल की गैल-गैल गैल-गैल ग्वालनि की
गोरस कैं काज लाज-बस कै बहाइबौ।
कहै रतनाकर रिझाइबौ नवेलिनि कौं
गाइबौ गवाइबौ औ नाचिबौ नचाइबौ॥
कीबौ स्रमहार मनुहार कै बिबिध बिधि
मोहिनी मृदुल मंजु बाँसुरी बजाइबौ।
ऊधौ सुख-संपति-समाज ब्रजमंडल के
भूलैं हूँ न भूलैं भूलै हमकौं भुलाइबौ॥

नंद औ जसोमति के प्रेम-पगे पालन की
लाड़-भरे लालन की लालच लगावती।
कहै रतनाकर सुधाकर-प्रभा सौं मढ़ी
मंजु मृगनैनिनि के गुन-गन गावती॥
जमुना-कछारनि की रंग-रस-रारनि की
बिपिन-बिहारनि की हौंस हुमसावती।
सुधि ब्रजबासिनि दिवैया सुख-रासिनि की
ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती॥

कृष्ण को मधुपुरी में प्राप्त होनेवाला विभव नहीं सुहाता। ब्रज वासी सदा याद आते रहते हैं। इन पंक्तियों की मार्मिक व्यंजना देखिए:—

मोर के पखौवनि कौ मुकुट छबीलौ छोरि
क्रीट मनि - मंडित धराइ करिहैं कहा।

कहै रतनाकर त्यौं माखन-सनेही बिनु
षट्-रस व्यंजन चबाइ करिहैं कहा ॥
गोपी ग्वाल बालनि कौं झोंकि बिरहानल मैं
हरि सुर - बृंद की बलाइ करिहैं कहा ।
प्यारौ नाम गोबिंद गुपाल कौ बिहाय हाय
ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहैं कहा ॥

वल्लभियों के हाथ का नवनीत प्रिय लगता था। षट्रस व्यंजन कैसे लगते हैं यह 'चबाइ' प्रयोग ही से समझा जा सकता है। अपने प्रिय व्यक्ति के हाथ से दी हुई वस्तु में अधिक स्वाद होता है। प्रेमी के हृदय की मिठास मानों वस्तु के साथ लिपटी चली आती हो। षट्रस व्यंजन परोसनेवालों के हृदय में वह स्निग्धता नहीं। देवताओं की विपत्ति दूर करने को तो कर्त्तव्य की प्रेरणा से अवतार लिया था। इधर कर्त्तव्य का कठोर आग्रह है उधर गोपी तथा ग्वाल-बालों का स्नेह है। यदि ये स्नेही जन वियोगाग्नि में जलते रहे तो देवताओं की रक्षा करने ही से क्या लाभ हुआ। न नंद-यशोदा ही कृष्ण का नाम कुछ अधिक आदर से लेते थे न गोपियाँ ही। गोविंद, गुपाल, कन्हैया बस ऐसे ही नामों से पुकारे जाते थे। पर इन छोटे नामों में जो आनंद था वह त्रिलोक के ठाकुर कहे जाने में भी नहीं।

उद्धव अपने ज्ञानोपदेश के द्वारा कृष्ण का मोह दूर करना चाहते हैं। पर फल कुछ नहीं होता। कृष्ण के नेत्रों के आँसू नहीं रुकतेः—

सीतल करत नैंकु हीतल हमारौ परि
बिषम-बियोग ताप समन पुचारे है।

गोपिनि के नैन-नीर ध्यान-नलिका है धाइ
दृगनि हमारें आइ छूटत फुहारे हैं ॥

कृष्ण जब गोपियों की दशा का ध्यान करते हैं तो अति दुखी होते हैं। उद्धव के बहुत प्रयत्न करने पर अंत में उनका व्रज जाना निश्चित होता है:—

आवौ एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि
तब इहिं नीति की प्रतीति करि लैहैं हम।
मन सौं, करेजे सौं, स्रवन-सिर-आँखिनि सौं
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम ॥

कृष्ण ने सोचा कि यहाँ हम इनको कितना भी समझावेंगे ये समझनेवाले नहीं। जब प्रेम-मूर्त्ति गोपिकाओं तथा रम्य व्रजभूमि को देखेंगे तो स्वयं प्रेम से प्रभावित होंगे। कृष्ण तथा गोपियों के प्रेम में रमणीय वृंदावन की भूमि का भी बहुत कुछ हाथ था। हमारी मानसिक वृत्तियाँ जिस प्रकार चर सृष्टि के संपर्क से प्रभावित होती हैं उसी प्रकार अचर सृष्टि के संपर्क से। यदि साहित्य शास्त्र में प्रयुक्त शब्दों के प्रयोग का आग्रह हो तो हम कहेंगे कि किसी भाव को उद्दीप्त करने में आलंबन के साथ ही उद्दीपनों का भी महत्त्व है। इन उद्दीपनों के अंतर्गत प्रदेश की अनुकूल विशेषताएँ, ऋतुओं की विशेषताएँ तथा समय की विशेषताएँ आदि आ जाती हैं। कृष्ण और गोपियों के प्रेम में वृंदावन की रम्य वसुंधरा, यमुना के हरी घास से आच्छादित विस्तृत कछार, कोकिल कूजन, चंद्रोदय आदि ने भी सहायता पहुँचाई थी। गोपियों के प्रेम को समझने के

लिए इन परिस्थितियों का समझना भी आवश्यक है। रत्नाकर जी ने सबसे पहले उद्धव को इन्हीं से प्रभावित किया है। उनके ज्ञान-गर्व का बहुत सा भाग तो वृंदावन में पहुँचते ही छू मंतर हो गया—

हरैं-हरैं ज्ञान के गुमान घटि जान लगे
जोग के विधान ध्यान हूँ तैं टरिबै लगे।
नैननि मैं नीर रोम सकल सरीर छयौ
प्रेम-अद्भुत-सुख सूझि परिबै लगे॥
गोकुल के गाँव की गली मैं पग पारत हीं
भूमि कैं प्रभाव भाव औरै भरिबै लगे।
ज्ञान-मारतंड के सुखाए मनु मानस कौं
सरस सुहाए घनस्याम करिबै लगे॥

कृष्ण के भेजे उद्धव के आने का समाचार सुन कर सब गोपियाँ आ कर इकट्ठी होने लगीं। पहले तो कुछ पूछने का साहस ही नहीं पड़ाः—

आँस रोकि साँस रोकि पूछन-हुलास रोकि
मूरति निरास की सी आस-भरी ज्वै रहीं।

उद्धव मन-भावन की 'पाती' लिए बीच में खड़े थे। चारों ओर से उन्हें गोपियाँ घेरे थीं। पर न इनसे कुछ कहते बनता था न उनसे कुछ पूछते। कुछ देर बाद गोपियों ही से न रहा गयाः—

उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगीं।

हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा

हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं ॥

ऐसे समय का यह स्वाभाविक प्रश्न है। इसके द्वारा उनकी उत्कंठा तथा प्रेम की कैसी व्यंजना हो रही है। उद्धव ने कृष्णचंद्र की कुशल कह सुनाई तथा उनकी पूछी। आगे कुछ कहते न बना। हाँ अपने मौन के द्वारा योग का कुछ आभास अवश्य दिया:—

देखि देखि आतुरी बिकल ब्रज-बारिनि की

ऊधव की चातुरी सकल बहि जाति हैं।

कहै रतनाकर कुसल कहि पूछि रहे

अपर सनेस की न बातैं कहि जाति हैं ॥

मौन रसना ह्वै जोग जदपि जनायौ सबै

तदपि निरास-बासना न गहि जाति हैं।

साहस कै कछुक उमाहि पूछिबै कौं ठाहि

चाहि उत गोपिका कराहि रहि जाति हैं ॥

फिर भी, उद्धव ने साहस कर अपना उपदेश प्रारंभ किया:—

सोई कान्ह सोई तुम सोई सबही हैं लखौ

घट-घट-अंतर अनंत स्यामघन कौं।

कहै रतनाकर न भेद-भावना सौं भरौ

बारिधि औ बूँद के बिचारि बिछुरन कौं ॥

अबिचल चाहत मिलाप तौ बिलाप त्यागि

जोग-जुगती करि जुगावौ ज्ञान-धन कौं।

जीव आतमा कौं परमातमा मैं लीन करौ
छीन करौ तन कौं न दीन करौ मन कौं ॥

गोपियाँ इस महत्त्वपूर्ण उपदेश को सुना-अनसुना करके अपने काम की बात पूछती हैं:—

ऊधौ कहौ सूधौ सौ सनेस पहिलैं तौ यह
प्यारे परदेस सौं कबै धौं पग पारिहैं।

प्रेम-व्यापार के भीतर 'उराहने' की मिठास अनोखी ही होती है। जब प्रेमी को दूसरे पक्ष पर भरोसा होता है तभी इसकी सृष्टि होती है। कोई उराहना सुननेवाला भी तो हो। गोपियाँ कहती हैं:—

बैननि उचारिहैं उराहनौ कबै धौं सबै
स्याम कौ सलोनौ रूप नैननि निहारि हैं।

श्याम ने इतने दिनों तक न आकर अपराध अवश्य किया है। पर इस अपराध से वे अप्रिय नहीं हुए हैं। उनके सलोने रूप को देखने की कामना बनी है। इतने दिनों तक अनुपस्थित रह कर आनंद की धारा का जो अवरोध किया गया है उसकी पूर्ति उराहनों की मिठास से होगी।

इसके पश्चात् गोपियाँ एक एक करके उद्धव के सब सिद्धांतों का खंडन करती हैं। बीच बीच में उनकी प्रेम-भावना के भी दर्शन होते चलते हैं। उद्धव को भी 'बनाने' का प्रयत्न होता रहता है। साथ ही कुब्जा पर भी व्यंग किए जाते हैं, जिसे गोपियाँ सारे उत्पात की जड़ समझती हैं।

उद्धव ब्रह्म को अव्यक्त तथा अगोचर बताते हैं। गोपियाँ कहती

हैं कि ऐसे ब्रह्म की उपासना से तो हमारा जीवन ही सूना हो जायगा। हम ब्रह्म का केवल चिंतन नहीं करना चाहतीं, उसे अपने नित्य के जीवन में चारो ओर देखना चाहती हैं, विश्व की व्यापक व्यक्त विभूतियों में उसका साक्षात्कार करना चाहती हैं। लोक व्यवहार से परे जो ब्रह्म है उससे हमारा काम कैसे चलेगा। हमारे ऊपर विपत्ति पड़ती है, हम अपने कन्हैया को टेर लेती हैं। अभी उसी दिन उस भयानक वृष्टि से उन्होंने गोवर्धन धारण कर हमारी रक्षा की थी। यदि ऐसे अवसर फिर उपस्थित हों तो हम तुम्हारे वेपते के अनोखे ब्रह्म को कहाँ खोजने जायँगी ?

कर-बिनु कैसैं गाय दुहिहै हमारी वह
पद-बिनु कैसैं नाचि थिरकि रिझाइहै।
कहै रतनाकर बदन-बिनु कैसैं चाखि
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइहै॥
देखि सुनि कैसैं दृग-स्रवननि बिना हीं हाय
भोरे ब्रज-बासिनि की बिपति बराइहै।
रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म
ऊधौ कहौ कौन धौं हमारैं काम आइहै॥

ब्रह्म को अगोचर बताते हुए भी उद्धव उसका ध्यान करने को कहते हैं। इसे गोपियाँ असंगत प्रलाप समझती हैं। वे कहती हैं कि जब इतने बड़े दृश्य जगत् में तुम्हें ईश्वर न दिखाई पड़ा तो त्रिकुटी में कैसे दिखाई पड़ सकता है:—

रूप-रस-हीन जाहि निपट निरूपि चुके
ताको रूप ध्याइबौ औ रस चाखिबौ कहौ।
एते बड़े बिस्व माहिं हेरैं हूँ न पैयै जाहि,
ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदि लखिबौ कहौ॥

ज्ञानयाग से कल्याण होता है। पर यदि जगत् ही मिथ्या है तो वह कल्याण किस काम आवेगा ? यदि आधारभूत दीवारें गिर-पड़ीं तो उन्हीं पर आश्रित छतें स्वयं नष्ट हो जायँगी। यदि जगत् ही मिथ्या सिद्ध हो गया तो उपदेश की आवश्यकता कब पड़ेगी:—

प्रेम-नेम छाँड़ि ज्ञान-छेम जो बतावत सो
भीति ही नहीं तौ कहा छातैं रहि जाइँगी।

रह गया जगत् के स्वप्न होने का प्रश्न। सो, गोपियों को तो जगत् सत्य प्रतीत होता है। केवल उद्धव को स्वप्न-सा प्रतीत होता है। इससे प्रकट है कि वे सो रहे हैं और नींद में स्वप्न देख रहे हैं:—

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हैं
तातैं तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की
जोई मुँह आवत सो बिबस बयात हौ॥

जिसने प्रभु की रचना की इन प्रत्यक्ष विभूतियों की उपेक्षा कर दी वह सो ही रहा है। ऐसे का उपदेश कैसे सुना जा सकता है ?

उद्धव ब्रह्म तथा जीव का पारमार्थिक एकत्व प्रतिपादित करते हैं, गोपियाँ इससे भी प्रभावित नहीं होतीं। मान भी लिया जाय कि जीव और ब्रह्म तत्वतः एक ही हैं, पर, इससे भक्तों को क्या लाभ।

ब्रह्मानंद का नाम तो सुना जाता है पर जीव के भी ब्रह्म हो जाने पर उस आनंद का अनुभव कौन करेगा। आनंद के अनुभव के लिए तो द्वैतभाव ही आवश्यक है। भक्त प्रभु नहीं होना चाहते, उन्हें सेवक बने रहने ही में परम संतोष है। सूर ने एक स्थान पर इसी बात को बड़े सुंदर ढंग से कहा है:—

सोहत लोह परसि पारस ज्यों सुबरन बारहबानि।
पुनि वह चोप कहाँ चुंबक ज्यों लटपटाय लपटानि॥

लोहा पारस के स्पर्श से सोना हो सकता है: पर फिर उसमें वह लगन कहाँ रह जाती है। भक्त इस लगन को ही सब कुछ समझते हैं। अपने प्रभु के भरोसे मोक्ष को भी उपेक्षा कर विचरते हैं। देखिए गोपियाँ अद्वैतभावना का कैसा तिरस्कार कर रही हैं:—

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौहूँ हमैं भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

तथा:—

कहै रतनाकर बिलाइ ब्रह्म-काय माहिं
आपने सौं आपुनपौ आपुनौ नसावै कौन।

गीता में भगवान् ने विश्व की सब विभूतियों को अपना अंश बताया है:—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम्॥

गोपियाँ भी प्रभु की दृश्य विभूतियों की उपेक्षा नहीं करना चाहतीं:—

हम परतच्छ में प्रमान अनुमानैं नाहिं
तुम भ्रम-भौंर मैं भलैं हीं बहिबौ करौ।
कहै रतनाकर गुबिंद-ध्यान धारैं हम
तुम मनमानौ ससा - सिंग गहिबौ करौ॥

वे भक्ति-योग को सीधा मार्ग बताती हैं:—

ऊधौ यह ज्ञान कौ बखान सब बाद हमैं
सूधौ बाद छाँड़ि बकबादहिं बढ़ावै कान।

ज्ञान-मार्ग कष्टसाध्य है। योग-रत्नाकर में जब साँस रोक कर डुबकी लगाई जाय तो शायद मुक्ति-मुक्ता हाथ लगे। पर इस कठिन साधना के समय मन की क्या व्यवस्था की जाय। मन चंचल है, वह विषयों की ओर दौड़ता रहता है। योगी इसके लिए अभ्यास और वैराग्य का मार्ग बताते हैं। इन सब के होते हुए भी यदि मन चंचल हो गया तो योग-भ्रष्ट हुए। पर भक्ति मार्ग में ये सब कठिनाइयाँ नहीं हैं। भक्त मन के सामने अनंत माधुर्य्य तथा लावण्य के धाम अपने प्रभु को रखता है। मन उन पर स्वाभाविकत: मुग्ध हो जाता है। प्रेम में अनन्यता स्वयं आ जाती है। जब प्रभु अच्छे लगे तो सब फीके हो जायँगे:—

जो मोहिं राम लागते मीठे
तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।

इसी विधि से भक्त अपना कार्य सिद्ध करता है। देखिए गोपियाँ अपना सीधा मार्ग बताती हैं:—

जोग-रतनाकर मैं साँस घूँटि बूड़ै कौन
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं।
मुक्ति-मुकता कौ मोल माल ही कहा है जब
मोहन लला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं॥

मुक्ति के मोती की प्राप्ति के लिए योग-रत्नाकर में साँस का अवरोध कर डूबना आवश्यक है। पर जो मोहन लला पर माणिक्य ऐसी वस्तु न्यौछावर कर चुकी वह साधारण मोती के लिए इतना परिश्रम क्यों करने लगी। सत्त्व-गुण का रंग श्वेत माना जाता है। मोक्ष सत्त्वोद्रेक से प्राप्त होती है। इसी से मुक्ति को मुक्ता कहा गया है। माणिक्य का रंग लाल होता है। राग का रंग भी लाल माना जाता है। मन रागों की निवास-भूमि है। अतः मन को माणिक्य कहा गया है। मन ही बंधन का कारण है। जब मोहन लला पर मन न्यौछावर कर दिया गया तो रागों का अंत हो गया। रागातीत अवस्था होने पर मुक्ति स्वतः प्राप्त है। मन-माणिक्य को बिना न्यौछावर किए कठिन साधना की आवश्यकता थी। कृष्ण के 'मोहन' होने से मन न्यौछावर करने में कुछ कष्ट भी नहीं हुआ। मन स्वतः उन पर अनुरक्त हो गया।

ब्रजचंद को पाकर भक्त ब्रह्मानंद को भी तुच्छ समझता है:—

एक ब्रजचंद - कृपा-मंद-मुसकानि ही मैं
लोक परलोक कौ अनंद जिय जानैं हम

जाके या बियोग-दुखहू मैं सुख ऐसौ कछू
जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू मैं दुख मानैं हम ॥

यदि चित्त-वृत्तियों के निरोध ही के लिए ज्ञान-मार्ग की आवश्यकता है तो गोपियों का प्रेमयोग ही इस कार्य को और भी उत्तमता से कर लेगा। प्रिय के वियोग में वृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं। प्रेमी को कुछ भी नहीं सुहाता। वियोगी पूरा विरागी हो जाता है। ज्ञानयोगियों की साधना मिथ्या आडंबर भी हो सकती है। पर झूठा विरह-वेदना का कोई आडंबर नहीं रचता। योगी वस्त्र रँगा लेते हैं, पर मन नहीं रँगाते। प्रेमी अपने मन को रँगता है। योगी साधना तथा तप के बाह्य आडंबरों का पालन करने के लिए शरीर में भस्म रमाते हैं। वियोगी वियोगाग्नि में अपने ही को दग्ध करते रहते हैं। योगी प्राणायामादि साधनाओं से अपनी आयु बढ़ाते हैं। उन्हें संसार में रहने की कामना है तभी न आयु बढ़ाने के साधनों का अनुष्ठान करते हैं। पर वियोगी को प्रिय से वियुक्त रहने पर जीना ही नहीं सुहाता। योगियों से वियोगी कम नहीं हैं:—

वे तौ बस बसन रँगावैं मन रंगत ये
भसम रमावैं वे ये आपुहीं भसम हैं।
साँस-साँस माहिं बहु बासर बितावत वे
इनकैं प्रतेक साँस जात ज्यौं जनम हैं ॥
ह्वै कै जग-भुक्ति सौं बिरक्त मुक्ति-चाहत वे
जानत ये भुक्ति मुक्ति दोऊ बिष-सम हैं।

करिकै बिचार ऊधौ सूधौ मन माहिं लखौ

जागी सौं बियोग-भोग-भोगी कहा कम हैं ॥

ज्ञानी भी मोक्ष की कामना करते हैं। यह कामना ही बंधन का मूल है। पर सच्चे भक्त स्वर्ग, मोक्ष आदि की भी उपेक्षा करते हैं:-

सरग न चाहैं अपबरग न चाहैं सुनौ

भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं बिरक्ति उर आनैं हम।

वास्तविक निष्कामावस्था या अनासक्ति भक्ति में ही प्राप्त होती है। यह अवस्था प्राप्त होने पर पाप-पुण्य का बंधन भी टूट जाता है। फिर न यम का भय रहता है न स्वर्ग की कामना:—

हम जमराज की धरावति जमा न कछू

सुर-पति-संपति की चाहति न ढेरी हैं।

योगी अपने वस्त्रों को लाल रंग (भगवा=गेरुआ) से रँगते हैं। पर यह रँग बाह्य वेश (भेख-रेख) का है। प्रलोभनों को देख कर नहीं ठहरता। पर काले रंग पर और कोइ रंग नहीं चढ़ता। हम भी एक काले (कृष्ण) पर मुग्ध हो गई हैं, अब, हम पर संसार के दूसरे रंग नहीं चढ़ सकते:—

स्याम-रंग-राँचे साँचे हिय हम ग्वारिनि कैं

जोग की भगौंहीं भेष-रेख रचिहै नहीं।

श्याम (कृष्ण, काला) तथा भगौंहीं (भगवा रंग की, भाग जानेवाली) शब्दों के श्लेष से कवि ने कितना लाघव किया है।

उद्धव वियोग-दुःख दूर करने आए हैं। पर इसे केवल प्रिय ही आकर दूर कर सकता है। दूसरी युक्तियों से इसे दूर कराने को

कौन-सा प्रेमी प्रस्तुत हो सकेगा ? गोपियाँ अपने विरह पर भी मुग्ध हैं। कृष्ण के अभाव में यही तो उनका भरोसा है:—

जब ब्रजचंद कौ चकोर चित चारु भयौ

बिरह-चिंगारिनि सौं फेरि डरिबौ कहा।

इस वियोग-दुःख में भी कुछ ऐसी मिठास है कि इसके आगे वे ब्रह्म-सुख को भी तुच्छ समझती हैं:—

जाके या बियोग दुख हू मैं सुख ऐसौ कछू

जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू मैं दुख मानैं हम।

मोक्ष यदि कन्हैया को रुचे तो उसकी अभिलाषा की जा सकती है। यदि नहीं, तो गोपियों को उसकी क्या आवश्यकता:—

ऊधौ मुक्ति-माल बृथा मढ़त हमारे गरैं

कान्ह बिना तासौं कहौ काकौ मन मोहैगी।

भक्त अपने प्रभु के चरणों पर अपना सब कुछ समर्पित कर चुका। अब किसी वस्तु की अभिलाषा किस लिए? यदि अपने प्रिय को वह मुक्ति-माल (मोतियों की माला) रुचे तो उसके लिए साधना की जाय।

कृष्ण पर उनकी अनन्य भावना है। मुक्त होकर ब्रह्म होना तो दूर रहा वे स्त्री ही बनी रहना चाहती हैं क्योंकि इसी वेश में उन्होंने अपने प्रियतम से 'लौ' लगाई है:—

ब्रह्म हूँ भए पै नारि ऐसियै बनी जो रहैं

तौ तौ सहैं सीस सबै बैन जो तिहारे हैं।

यह अभिमान तौ गवैहैं ना गए हूँ प्रान
हम उनको हैं वह प्रीतम हमारे हैं ॥

यदि उद्धव का ज्ञान-योग कन्हैया से मिला सके तो वे सारी साधनाओं को करने को प्रस्तुत हैं:—

पाँच-आँचि हूँ की झार झेलिहैं निहारि जाहि
रावरौ हू कठिन करेजौ हिलि जाइगौ।
सहिहैं तिहारे कहैं साँसति सबै पै बस
एती कहि देहु कै कन्हैया मिलि जाइगौ ॥

पर मोक्ष तो एक विपत्ति हो जायगी। फिर तो कृष्ण के मिलने की कोई आशा ही न रह जायगी। कृष्ण यदि इस जन्म में न मिले तो किसी न किसी जन्म में तो अवश्य मिल रहेंगे:—

काहू तौ जनम मैं मिलैंगी स्यामसुंदर कौं
याहू आस प्रानायाम-साँस मैं उड़ावै कौन।
परि कै तिहारी ज्योति-ज्वाल की जगाजग मैं
फेरि जग जाइबे की जुगति जरावै कौन ॥

इस प्रकार अपने मत का प्रतिपादन कर वे उद्धव की ओर झुकती हैं। कृष्ण और ब्रह्म को भिन्न मानना भी तो घोर अज्ञान है। कृष्ण को वास्तविक रूप में देखने के लिए आँखें चाहिएँ। ऐसे तो बहुतेरे आँखवाले हैं पर उनकी आँखें मोर पंख की आँखों के समान व्यर्थ हैं। जब तक हृदय में स्निग्धता न हो तब तक कृष्ण पर अनुराग नहीं हो सकता। बिना अनुराग के उनका वास्तविक रूप पहचाना ही नहीं जा सकता:—

अगुन-सगुन-फंद-बंद निरवारन कौं
धारन कौं न्याय की नुकीली नखियाँ चहैं।
मोर-पँखियाँ कौ मौर-धारौ चारु चाहन कौं
ऊधौ अँखियाँ चहैं न मोर-पँखियाँ चहैं॥

उद्धव ब्रह्म ज्ञान ही का बखान करने में लगे हैं, इससे स्पष्ट है कि उन्होंने कृष्ण को पहचाना नहीं है:—

ऊधौ ब्रह्म-ज्ञान कौ बखान करते ना नैंकु
देख लेते कान्ह जो हमारी अँखियानि तैं।

गोपियाँ तो यह भी नहीं मानतीं कि उद्धव को ब्रह्मज्ञान के विषय में भी कुछ विशेष अनुभव है:—

सुनीं गुनीं समभीं तिहारी चतुराई जिती
कान्ह की पढ़ाई कबिताई कुबरी की हैं।

यह सोच कर गोपियों की परिहास-वृत्ति जाग्रत हो उठती है। फिर तो, उन्हें कुछ 'बनाने' का भी प्रयत्न होता है। सबसे पहले वे उद्धव के कहे हुए कुछ शब्दों को लेती हैं जिन्हें वे अर्थ-ज्ञान के बिना योंहीं रटा हुआ मानती हैं। उद्धव 'योग' सिखाने आए हैं। योग का अर्थ है मिलाना। पर वे तो वियोग (अलग करना) की शिक्षा देने लगे:—

आप हौ सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तो पै
ऊधौ ये बियोग के बचन बतरावौ ना।

उद्धव कहते हैं कि ब्रह्म 'रंग-रूप-रहित' है। गोपियाँ कहती हैं कि यह कौन-सी बड़ी बात है। कृष्ण के रूप-रंग के सामने तो हमें कोई भी रूपवाला नहीं लगता:—

रंग-रूप-रहित लखात सब ही हैं हमैं
वैसौ एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा।

उद्धव अपने ब्रह्म को अंग रहित (अनंग) बताते हैं। गोपियाँ इस शब्द का भी दूसरा अर्थ (कामदेव) लेकर उनकी हँसी उड़ाती हैं:—

एक ही अनंग साधि साध सब पूरीं अब
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा॥

पर उद्धव का उपदेश चलता ही रहता है। गोपियाँ क्षुब्ध हो उठती हैं और कुछ भला बुरा भी कह बैठती हैं:--

चुप रहौ ऊधौ सूधौ पथ मथुरा कौ गहौ
कहौ ना कहानी जौ बिबिध कहि आए हौ।
कहै रतनाकर न बूझिहैं बुझाएँ हम
करत उपाय बृथा भारी भरमाए हौ॥

जब कृष्ण यहाँ थे तब तो कभी उन्होंने योग की शिक्षा नहीं दी। हाँ प्रेम-पाठ पढ़ा कर हमें कुल-शील से अवश्य अलग कर दिया:—

प्रथम भुराइ चाय-नाय पै चढ़ाइ नीकैं
न्यारी करी कान्ह कुल-कूल हितकारी तैं।

अब मथुरा में जाकर योग सीख गए हैं। संभवतः इसके लिए कूबरी को गुरु बनाया होगा! अच्छा उद्धव जी! यह तो बताइए आप उनके गुरु हैं या शिष्य:—

वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरी कौ जोग
आप कहैं उनके गुरु हैं किधौं चेला हैं।

ऐसा तो नहीं है कि कहीं कूबरी ही ने तुम्हें सिखा पढ़ा कर भेज दिया होः—

रसिक-सिरोमनि कौ नाम बदनाम करौ
मेरी जान ऊधौ कूर-कूबरी पठाए हौ।

गोपियाँ अपने कृष्ण के स्वभाव से परिचित हैं। वे नहीं मान सकतीं कि ऐसे रसिक-हृदय व्यक्ति में इतनी क्रूरता आ जायगी। जो कृष्ण अपने हाथों से गोपियों की बेणी गूँथते थे वे अब ऐसे क्या हो जायँगे कि भस्म रमाने की शिक्षा दें:—

चोप करि चंदन चढ़ायौ जिन अंगनि पै
तिनपै बजाइ तूरि धूरि दरिबौ कहौ।
रस-रतनाकर स-नेह निरवारयौ जाहि
ता कच कौं हाय जटा-जूट करिबौ कहौ॥

कृष्ण के प्रेम का स्मरण करते ही उनकी याद आ जाती है। उद्धव कहते हैं कि कृष्ण अब महाराज हो गए हैं। आने जाने वाले और लोगों ने भी ऐसे ही समाचार दिए हैं। गोपियों का स्थान तो कूबरी ने ले लिया। पर मैय्या यशोदा का स्थान कौन ले सका होगा? अब तो राजसी भोजन करते होंगे। पर उसमें क्या वह स्वाद आता होगा जो मैय्या के नवनीत में मिलता था। अब तो लोग 'महाराज' कह कर संबोधन करते होंगे। पर ऐसे संबोधनों के पीछे भय, विराग, दिखाव आदि छिपे रहते हैं। इनमें वह मिठास कहाँ जो यशोदा के 'लला' या 'मोहन' शब्दों में थी। माना कि उन्हें अब सम्मान मिलता है पर वहाँ लाड़-प्यार नहीं मिल सकताः—

षट-रस-व्यंजन तौ रंजन सदा ही कर

ऊधौ नवनीत हूँ स-प्रीति कहूँ पाव हैं।

कहै रतनाकर बिरद तौ बखानैं सबै

साँची कहौ केते कहि लालन लड़ावैं हैं॥

कृष्ण ने भी चलते समय उद्धव से कहा था:—

जसुमति मैया की मलैया अरु माखन कौ

कामधेनु-गोरस हूँ गूढ़ गुन पावै ना।

गोकुल की रज के कनूका औ तिनूका सम

संपति त्रिलोक की बिलोकन मैं आवै ना॥

अब तो उनके काम भी महाराजों ऐसे होते होंगे। पुरानी लीलाएँ तो भूल गए होंगे। पर गोपियों ने अपना हृदय एक गोपाल ही को दिया था किसी महाराज को नहीं। उनका महाराज हो जाना गोपियों के लिए कोई आकर्षण नहीं रखता। वे तो अपने कन्हैया को उसी रूप में देखना चाहती हैं। कहीं ऐसा न हो कि अब कृष्ण बाँसुरी बजाना ही भूल गए हों। वे पूछती हैं:—

रतन सिंहासन बिराजि पाकसासन लौं

जग-चहुँ-पासनि तौ सासन चलावैं हैं।

जाइ जमुना-तट पै कोऊ बट-छाँहि माहिं

पाँसुरी उमाहि कबौं बाँसुरी बजावैं हैं॥

अंत में गोपियाँ कहती हैं कि अच्छा जो हुआ सो हुआ। हमें तो तुम उपदेश कर चुके, पर, कृपा कर कहीं बरसाने की ओर जा कर राधिका को अपना योग मत सुनाना:—

फैली बरसाने में न रावरी कहानी यह
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावै ना।

उद्धव के लौट कर जाने पर संभव है कृष्ण गोपियों के विषय में कुछ पूछें। गोपियाँ कहती हैं कि देखो बिना पूछे कुछ मत कहना। यदि उनका प्रेम बना है तो हमारी कुशल सुनाना उचित है, यदि नहीं, तो व्यर्थ है। हम पर जैसी पड़ेगी झेल लेंगी। अपनी ओर से निबाहे चलेंगी। उनके प्रेम का पता हमारे विषय में उनकी उत्सुकता ही से चल जायगा। एक बात और करना। हमारे सँदेसे को कृपा कर अवसर प्राप्त होने ही पर कहना। राज-सभा में अथवा जहाँ कुब्जा देवी बैठी हों वहाँ हमारी चर्चा मत चलाना। रह गई सँदेसे की बात, सो, हमें कुछ कहना नहीं है। यदि तुम से बन पड़े तो जो दशा तुम देखे जाते हो वही उन्हें करके (अनुकरण से) दिखा देना:—

औसर मिलै औ सरताज कछु पूछहिं तौ
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ।
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू
कहिबे कौं चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ।

अपनी व्यथा के साथ ही गोपियों का ध्यान कृष्ण की ओर जाता है। वे सोचने लगती हैं कि कहीं यहाँ के समाचार से कृष्ण को और भी कष्ट न पहुँचे। यह आशंका भी कृष्ण के प्रेम ही के भरोसे है। यद्यपि उनके कुछ व्यवहारों से कुछ उपेक्षा-सी प्रतीत होती है, पर, ऐसा नहीं हो सकता कि उनका-सा अनुरागी जीव गोपियों को भूल सके। गोपियाँ कृष्ण को तनिक भी दुखी नहीं करना

चाहतीं चाहे वह अपने दुखों के समाचार ही से हो। स्वयं दुखी हैं; रहने दो। पर उस दुःख से कृष्ण ऐसे प्रिय को क्यों दुखी किया जाय। इतना त्याग बहुत ही निष्काम प्रेम भावना के बीच संभव है। भौतिक प्रेम में यह त्याग संभव ही नहीं। जिनके वियोग में जीवन ही भार हो गया है उनको बुलाने की एकमात्र युक्ति अर्थात् उनके पास अपनी विरह-व्यथा का समाचार भेजने तक के विचार को गोपियाँ छोड़ देती हैं। केवल इसीलिए कि इससे उनके प्रियतम के दुखी होने की आशंका है:—

कहै रतनाकर कहति सब हा हा खाइ
हाँ के परपंचनि सौं रंच न पसीजियौ ॥
आँस भरि ऐहै औ उदास मुख ह्वैहै हाय
ब्रज-दुख-त्रास की न तातैं साँस लीजियौ ॥

हाँ एक बात कर देना। संभव है महत्त्व के कार्यों में लगे रहने से उन्हें हमारा ध्यान न आता हो। इसलिए:—

नाम कौ बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ।

यदि उन्हें हमसे प्रेम है—जिसका हमें पूर्ण विश्वास है—तो ग्राम का नाम सुनते ही हमारा स्मरण हो जायगा। उसी समय तुम हमारी 'राम राम' कह देना।

पीछे कहा जा चुका है कि इस प्रेम में स्थानीय विशेषताओं (उद्दीपनों) का भी बहुत कुछ हाथ था। इसी से गोपियाँ ग्राम का नाम जता देने को कहती हैं। जिससे कृष्ण गोपियों का स्मरण सारी

परिस्थितियों के मेळ में कर सकें। माम के नाम में कितनी विशेषता है इसका आभास 'जताइ' प्रयोग ही से मिल रहा है:—

अंत में एक छोटा-सा समाचार भी कहती हैं:—

कहै रतनाकर असीम रावरी तौ छमा
छमता कहाँ लौ अपराध की हमारी है।
दीजै और ताजन सबै जो मन भावै पर
कीजै ना दरस-रस-बंचित बिचारी हैं॥
भली हैं बुरी हैं औ सलज्ज निरलज्ज हू हैं
जो कहौ सो हैं पै परिचारिका तिहारी हैं।

संभव है कृष्ण की उपेक्षा का कारण गोपियों का कोई अपराध हो। पर उनकी भावना अनन्य है। उनका त्याग नहीं किया जा सकता। हाँ दंड अवश्य दिया जा सकता है। इसे सहने को वे प्रस्तुत हैं। वे आवें, स्वयं आकर जो चाहे सो दंड दें। इस अनन्यता से अनन्य भक्ति का पूर्ण निदर्शन होता है। भक्त को अपने प्रभु को छोड़ और किसी की तनिक भी आशा नहीं करना चाहिए। तुलसीदास जी ने कहा है:—

जैसो हौं तैसो हौं, राम रावरो हौं।

तथा:—

जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे।

अब गोपियाँ कृष्ण के पास भेजने को कुछ वस्तुएँ लाती हैं। वे ही वस्तुएँ उपस्थित की जा रही हैं जो कृष्ण को उन दिनों इतनी प्यारी थीं। इन्हीं के भूल जाने से तो इतनी बड़ी विपत्ति खड़ी होगई।

इन्हें पाकर कृष्ण की पुरानी भावना फिर नवीन हो जायगी। जिस माखन के लिए घर-घर चोरी करते डोलते थे तथा पकड़े जाने पर उतना अपमान सहते थे, वह भी यशुमति ले आई हैं। एक गोपी सजाव दही लेकर उपस्थित है। राधा जी को संदेह है कि बाँसुरी के बिना कृष्ण अपने सब रास-रंग भूल गए हैं, इसी से अब ज्ञान सूझता है। अतः यही अपने मोहन के पास भेजती हैं। इसी के बिना न कृष्ण बेसुरे हो रहे हैं। इसमें यह संदेश भी छिपा है कि हमें तुम्हारा सूखा ज्ञान नहीं चाहिए, हम तो सीधी रीति से तुमको भजना चाहती हैं:—

कहै रतनाकर मयूर-पच्छ कोऊ लिए
कोऊ गुंज-अंजली उमाहै प्रेम-आँसुरी।
भाव-भरी कोऊ लिए रुचिर सजाव दही
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीत पट नंद जसुमति नवनीत नयौ
कीरति-कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी॥

अब उद्धव को अपना ज्ञान भूल गया है। ज्ञान के गर्व में फूले हुए आए थे। पर अब आँखें नीची हो गई हैं:—

आए लौटि लज्जित नवाए नैन ऊधौ अब
सब सुख साधन कौ सूधौ सौ जतन लै।

पहले वैराग्य की तूमड़ी लेकर आए थे। पर वह खाली थी। वैराग्य में सब ओर से मन को हटाया जाता है। विषयों के बहिष्कार से मन को एकदम रिक्त किया जाता है। गोपियों ने इस शून्य मन में प्रेम-रस भर दिया। अब कोई उपाधिभूत वस्तु इसमें

नहीं रखी जा सकती। विषयों से शून्य मन की हर समय चौकसी करनी पड़ती है। पर अब भक्त निश्चिंत हो गया:—

प्रेम-रस रुचिर बिराग-तूमड़ी मैं पूरि
ज्ञान-गूदड़ी मैं अनुराग सौ रतन लै।

ज्ञान गूदड़ी के समान है। ज्ञानी 'यह भी मिथ्या' 'वह भी मिथ्या' कह कर प्रभु की संपूर्ण सृष्टि को गूदड़ी कर डालता है। भगवान् का अनुराग रत्न है। प्रभु चिंतामणि हैं। चिंतामणि के प्राप्त होने से विषयों की चिंता (आसक्ति) स्वयं छूट जाती है।

उद्धव कृष्ण को अपने ज्ञान की जो दशा हुई वह सुनाते हैं:—

लै कै पन सूछम अमोल जो पठायौ आप
ताकौ मोल तनक तुल्यौ न तहाँ साँठी तैं।
कहै रतनाकर पुकारे ठौर-ठौर पर
पौरि बृषभानु की हिरान्यौ मति नाठी तैं॥
लीजै हेरि आपुहीं न हेरि हम पायौ फेरि
याही फेर माहिं भए माठी दधि-आँठी तैं।
ल्याए धूरि पूरि अंग अंगनि तहाँ की जहाँ
ज्ञान गयौ सहित गुमान गिरि गाँठी तैं॥

उद्धव अपने लौट कर आने का उद्देश्य बताते हैं:—

होतौ चित चाव जौ न रावरे चितावन कौ
तजि ब्रज-गाँव इतै पाँव धरते नहीं।

उद्धव शतक में योग शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। इसके विषय में कुछ विचार करने की आवश्यकता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण

के कृष्णजन्म खंड में कृष्ण ने उद्धव को भेजते समय कहा है "प्रबोधयाध्यात्मिकेन मद्दत्तेन" अर्थात् उन्हें मेरे दिए हुए आध्यात्मिक ज्ञान से समझाना। इस पुराण को तथा गीता आदि ग्रंथों को देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि कृष्ण ने अपने अनासक्ति-योग की शिक्षा देने ही को भेजा था। पर सूरदास, नंददास, तथा रत्नाकर जी ने योग के साथ भस्म रमाने, जटा बढ़ाने, पंचाग्नि तापने आदि को भी सम्मिलित कर लिया है। पातञ्जल योगसूत्र में भी योग को "चित्तवृत्तिनिरोधः" ही माना है तथा इस निरोध की प्राप्ति के लिए वही अभ्यास और वैराग्य का मार्ग बताया है जिसका उपदेश गीता में भी किया गया है। श्रीमद्भागवत में भी गोपियों ने पंचाग्नि आदि का उल्लेख नहीं किया है। भागवत में अष्टांग योग के वर्णन में प्राणायामादि की चर्चा हुई है पर पंचाग्नि आदि नहीं आए हैं। भागवत का योग गीता के योग से मिल जाता है। यों तो अभ्यास के लिए गीता में भी प्राणायाम आदि का कुछ वर्णन मिलता है। भागवत में योगी के लिए ग्राम्य धर्म से निवृत्ति तथा मोक्ष धर्म में रति रखने का उपदेश किया गया है। "सर्व भूतेषु चात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि" का भी उपदेश दिया गया है। ऐसी अवस्था में हिंदी कवियों ने पंचाग्नि आदि का क्यों उल्लेख किया है? तपस्वी और योगी भिन्न हैं। गोरख पंथ ऐसे पंथों के प्रचार से इन दोनों को एक समझा जाने लगा। हठ-योग के भीतर साधना आ भी जाती है। इसी भ्रम का प्रभाव हिंदी कवियों पर पड़ा है।

गंगावतरण

वेदों तथा शास्त्रों के आधार पर अपने सिद्धांतों को प्रतिपादित करनेवाले आर्यधर्म के तीन मुख्य संप्रदाय हैं। शैव, शाक्त तथा वैष्णव। ये कम से कम इतने प्राचीन अवश्य हैं जितने कि पुराण। अपने सिद्धांतों के सामने दूसरे के सिद्धांतों को भ्रमपूर्ण मानने की परिपाटी भी बहुत प्राचीन है। पक्षपात-पूर्ण भाव से अपने इष्टदेव को बढ़ा कर अन्य देवताओं को नीचा दिखाने की मनोवृत्ति भी पुराणों में मिलती है। वैष्णव पुराणों जैसे ब्रह्मवैवर्त पुराण, विष्णु-पुराण आदि में विष्णु ही सब कुछ हैं। उसी प्रकार देवी भागवत में शक्ति के समान कोई भी नहीं दिखाई देता। पर इन तीनों संप्रदायों में गंगा का महत्त्व है। विष्णुपुराण भी गंगा के गुणगान करता है, देवी भागवत भी। गंगा के तट पर आकर सब अपने अपने भेदभावों को भूल जाते हैं। गंगा तीनों संप्रदायों को एक स्थान पर कुछ काल के लिए मिलानेवाली है। गंगा का वर्णन भी बहुत प्राचीन काल से मिलता है। वेदों तक में गंगा उपस्थित हैं। भिन्न भिन्न अवतारों की पूजा प्रारंभ होने के पहले से ही गंगा की पूजा होती आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि पीछे से चलनेवाले सब संप्रदायों ने गंगा को अपने भीतर लेने का प्रयत्न किया।

प्रायः सभी पुराणों में गंगा का वर्णन है। विष्णुपदी स्तोत्र नाम का एक स्तोत्र है। यह अविकल रूप में अनेक पुराणों में पाया

जाता है। गंगा की उत्पत्ति के विषय में सब पुराण एकमत नहीं हैं। सब ने भिन्न भिन्न कथाएँ लिखी हैं। कुछ पुराण जैसे ब्रह्म-वैवर्त पुराण (कृष्ण जन्म खंड) तथा देवी भागवत बहुत अंशों में मिलते हैं। इस भेद का कुछ कारण है। सब पुराणों ने अपने संप्रदाय के अनुकूल बना कर गंगा का वर्णन करना चाहा है। इसी सांप्रदायिकता के कारण कथाओं में इतनी भिन्नता आ गई है। गंगा प्रारंभ में इसी लोक की थीं। पर ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि इसे गोलोक ले गए। ज्यों ज्यों माहात्म्य बढ़ता गया त्यों त्यों पुराणों में भी गंगा देवी ऊपर चढ़ती गईं। गंगा के इस उत्कर्ष विधान के लिए कुछ कथाओं की आवश्यकता हुई। सब ने अपने अनुकूल सृष्टि करली। पीछे के पुराणों के अनुसार गंगा स्वर्ग से मर्त्यलोक में आती हैं। पर आदि काव्य वाल्मीकि के अनुसार वे मर्त्यलोक से स्वर्ग को जाती हैं। रामायण में गंगा के हिमवान सुता, हैमवती नाम आए हैं।

वा० रामायण के अनुसार गंगा की उत्पत्ति देखिए:—

शलेंद्रो हिमवान्नाम धातूनामाकरो महान्।
तस्य कन्याद्वयं राम रूपेणाप्रतिमं भुवि॥
या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा।
नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया।
तस्यां गंगेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता।
उमा नाम द्वितीयाभूत्कन्या तस्यैव राघव।

३५ सर्ग, बालकांड।

वा० रामायण में रूपक का पर्दा भी नहीं रखा गया है। स्पष्ट कह दिया गया है कि गंगा नदी थी। हिमवान को पिता, मेना को माता तथा गंगा को सुता कह कर कवि आलंकारिक शैली पर बढ़े हैं। पर उन्होंने भ्रम नहीं बना रहने दिया है। इससे यह भी पता लगता है कि उमा भी कोई नदी है। हिमालय से निकलनेवाली यह कौन सी नदी हो सकती है, इस विषय पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। देखिए गंगा के सरिता होने का उल्लेखः—

एते ते शैलराजस्य सुते लोकनमस्कृते।
गंगा च सरितां श्रेष्ठा उमा देवी च राघव॥

पीछे देवता गंगा को स्वर्ग ले गएः—

अथ ज्येष्ठां सुराः सर्वे देवकार्यचिकीर्षया।
शैलेंद्रं वरयामासुर्गंगां त्रिपथगां नदीम्॥
ददौ धर्मेण हिमवांस्तनयां लोकपावनीम्।
स्वच्छंदपथगां गंगां त्रैलोक्यहितकाम्यया॥
प्रतिगृह्य त्रिलोकार्थं त्रिलोकहितकांक्षिणः।
गंगामादाय तेऽगच्छन्कृतार्थेनांतरात्मना॥

सर्ग ३६, वा० रामायण।

तनया, सुता आदि कहने के साथ ही नदी, सरिता आदि भी कहा गया है। साथ ही गंगा के माहात्म्य का भी वर्णन हुआ है। लोकपावनी आदि विशेषण भी माहात्म्य की सूचना देते हैं। पीछे के वैष्णव पुराणों में जितना माहात्म्य मिलता है उतना वा० रामा-

यश में नहीं मिलता। देवी भागवत में भगवान् गंगा से कहते हैं:—

त्वत्स्पर्शवायुना पूता यास्यन्ति मम मन्दिरम्।

इतना ही नहीं:—

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च।
जन्मसंख्यार्जितान्येव कामतोऽपि कृतानि च।
तानि सर्वाणि नश्यंति मौसलस्नानतो नृणाम्।

उसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी:—

गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्व पापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति।

इस प्रकार क्रमशः माहात्म्य बढ़ता ही गया। एक प्रश्न विचारणीय है। गंगा का इतना माहात्म्य होने पर भी गांगेय संप्रदाय क्यों नहीं चल सका। इसका कारण यही है कि वैष्णव धर्म में जितना उपासना के योग्य आधार है उतना यहाँ नहीं है। केवल मोक्ष का प्रलोभन ही भक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। विष्णु भगवान् भी जब तक लक्ष्मीनारायण बने हुए वैकुंठ में विराजते रहे तब तक जनता उनकी ओर उतना न बढ़ी। पर उन्हें अपने ही बीच में, अपने ही से मनुष्य रूप में पाकर जनता कैसे उल्लास से टूट पड़ी। वैष्णवों को भी कृष्ण का स्मरण करने में जितना आनंद मिलता है उतना कच्छप भगवान् का करने में नहीं। मनुष्य भगवान् को बहुत दिनों से मनुष्य रूप में ही देखना चाहते थे। उनकी यह कामना अवतारों में पूर्ण हुई। गंगा देवी स्वर्ग की ही बनी रहीं। लोक में नारी रूप में कभी नहीं देखी गईं। एक बात और है। जिस प्रकार

कृष्णचंद्र आदि आर्त प्राणियों के दुःख दूर करने को उत्सुक तथा व्याकुल सुने गए उस प्रकार गंगा देवी कभी नहीं सुनी गईं। दुर्गा सप्तशती के द्वारा दुर्गा आदि देवियाँ भी जनता के हृदय के जितना पास आ सकीं, गंगा उतना भी न आ पाईं। इन्हीं सब कारणों से इतना माहात्म्य होते हुए भी गांगेय संप्रदाय न चल सका।

अब कविवर रत्नाकर जी प्रणीत गंगावतरण ग्रंथ का आधार देख लिया जाय। चतुर्थ सर्ग को छोड़ कर, जिसमें गोलोक में गंगा की उत्पत्ति का वर्णन है, और सब सर्गों का आधार वा० रामायण के बालकांड के ३९ से ४४ वें सर्ग तक की कथा है। यहाँ संक्षेप में दिया जाता है कि रामायण के किस सर्ग की कथा गंगावतरण के किस सर्ग में ली गईः—

गंगावतरण	वाल्मीकि रामायण, बालकांड
प्रथम सर्ग	३९ वाँ सर्ग।
द्वितीय सर्ग	३९ वाँ तथा ४० वाँ सर्ग।
तृतीय सर्ग	४१ वाँ सर्ग
चतुर्थ सर्ग	अन्य आधार
पंचम सर्ग	४१ वाँ तथा ४२ वाँ सर्ग।
षष्ठ सर्ग	४२ वाँ तथा ४३ वाँ सर्ग।
सप्तम सर्ग	४३ वाँ सर्ग
अष्टम सर्ग	,, सर्ग
नवम से त्रयोदश सर्गों तक	४४ सर्ग

रामायण में कथा बहुत संक्षेप में वर्णित है। कवि ने थोड़े से

आधार को लेकर पर्याप्त विस्तार किया है। पंचम सर्ग में बावन छंद हैं। इनका आधार रामायण के केवल सोलह श्लोक हैं। नवम से लेकर त्रयोदश सर्ग के वर्णन का आधार केवल एक श्लोक है:—

जगाम च पुनर्गंगा भगीरथरथानुगा।
सागरं चापि संप्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा॥

इतने थोड़े से संकेत का कवि ने पाँच लंबे सर्गों में विस्तार किया। इन सर्गों के (नवम से त्रयोदश तक) वर्णन पर नीलकंठ कवि के संस्कृत में लिखे गंगावतरण काव्य का प्रभाव पड़ा है।

रामायण के अनेक स्थलों का कवि ने अविकल अनुवाद कर दिया है। कुछ प्रसंग देख लेना आवश्यक है।

प्रथमसर्गः—

हिम-गिरि कैं प्रस्रवन-पार्स्व मुनिजन-मन-हारी।
सुर- किन्नर - गंधर्व - सिद्ध - चारन-सुख-कारी॥
दोउ भामिनि लै संग भूप भृगु-आस्रम आए।
करि तप उग्र सहर्ष वर्ष सत सतत बिताए॥११॥

'गंगावतरण'

ताभ्यां सह महाराजः पत्नीभ्यां तप्तवांस्तपः।
हिमवंतं समासाद्य भृगुप्रस्रवणे गिरौ॥

'वा० रामायण'

लहै केसिनी पूत एक कुल-संतति-कारी।
साठ सहस सुत सुमति बिपुल-बल-बिक्रम-धारी॥

'गंगावतरण'

एका जनयिता तात पुत्रं वंशकरं तव ।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि अपरा जनयिष्यति ॥

'वा० रामायण'

सुमति सलोनी जनी एक तूँबी अति अद्भुत ।
निकसे जासौं साठ सहस लघु बीज सरिस सुत ॥१४॥

'गंगावतरण'

सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुंबं व्यजायत ।
षष्टिः पुत्र सहस्राणि तुंबभेदाद्विनिःसृता ॥

'वा० रामायण'

दीरघ घृतघट घालि पालि ते धाइ बढ़ाए ।
समय-संग सब-अंग रूप जोबन अधिकाए ॥१५॥

'गंगावतरण'

घृतपूर्णेषु कुंभेषु धाऽयस्तान्समवर्धयन् ।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥

'वा० रामायण'

द्वितीय सर्गः—

रैहैं आहुति देत भए दीच्छित हम तब लौं ।
करिहौ पूरन जज्ञ पाइ बाजी नहिं जब लौं ॥११॥

'गंगावतरण'

दीक्षितः पौत्रसहितः सोपाध्यायगणस्त्वहम् ।
इह स्थास्यामि भद्रं वो यावत्तुरगदर्शनम् ॥

'वा० रामायण'

जोजन जोजन बाँटि खोदि जोजन महि लागे।
सूल-कुदाल-कराल-जाल लै सब जग जागे ॥१७॥

गंगावतरण।

योजनायामविस्तारमेकैको धरणीतलम्।
बिभिदुः पुरुषव्याघ्रा वज्रस्पर्शसमैर्भुजैः॥

'वा० रामायण'

सगर-सुवन सुख-दुवन भुवन खोदे सब डारत।
जलचारी बहु सिद्ध संत मारे अरु मारत ॥१८॥

'गंगावतरण'

भगवन्पृथिवी सर्वा खन्यते सगरात्मजैः।
बहवश्च महात्मानो वध्यंते जलचारिणः॥

'वा० रामायण'

इहै कियौ मख-भंग इहै हरि लियौ तुरंगम।
यौं कहि हिंसत सबहिं लहैं जासौं जहँ संगम ॥१९॥

'गंगावतरण'

अयं यज्ञहरोऽस्माकमनेनाश्वोऽपनीयते।
इति ते सर्वभूतानि हिंसंति सगरात्मजाः॥

'वा० रामायण'

लखि देवनि की भीति प्रीति-जुत कह्यौ बिधाता।
धरहु धीर महि-पीर बेगि हरिहै जगत्राता॥
सोइ प्रभु करुना-पुंज मंजु माहषी यह जाकी।
कपिल-रूप धरि करत रहत रच्छा नित याकी ॥२०॥

इहिं बिधि करत कुचाल जबै पाताल सिधैहैं।
कपिल-कोप-बिकराल-ज्वाल सौं सब जरि जैहैं ॥२१॥

'गंगावतरण'

यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः।
महिषी माधवस्यैषा स एव भगवान्प्रभुः॥
कापिलं रूपमास्थाय धारयत्यनिशं धराम्।
तस्य कोपाग्निना दग्धा भविष्यंति नृपात्मजाः॥

'वा० रामायण'

निश्चय जानि अजान कपिलदेवहिं हय-हर्ता।
जज्ञ-बिघन कौ मूल सकल निज स्रमकौ कर्ता॥
धरि धरि सूल कुदाल सैल बिटपनि की साषा।
धाए बुद्धि-बिरुद्ध क्रुद्ध जलपत दुर्भाषा ॥३६॥

'गंगावतरण'

ते तं यज्ञहनं ज्ञात्वा क्रोधपर्याकुलेक्षणाः।
खनित्रलांगलधरा नानावृक्षशिलाधराः॥
अभ्यधावंत संक्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रुवन्।
अस्माकं त्वं हि तुरगं यज्ञियं हृतवानसि॥

'वा० रामायण'

पीछे कहा जा चुका है कि गंगावतरण के चतुर्थ सर्ग का आधार वाल्मीकि रामायण नहीं है। कृष्ण के विग्रह से उत्पन्न होने की कथा देवी भागवत के नवम स्कंध के बारहवें अध्याय में मिलती है। एक स्थान पर श्रीनारायण से नारद पूछते हैं कि भगीरथ ने

गंगा की किस प्रकार स्तुति की। उसी प्रसंग में आया हैः—

कृष्णविग्रहसंभूतां कृष्णतुल्यां परां सतीम्।
वह्निशुद्धांशुकाधानां रत्नभूषणभूषिताम्॥

इसी प्रसंग में विष्णुपदी स्तोत्र मिलता है जो एक ही रूप में ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्ण जन्म खंड में तथा और भी अनेक पुराणों में पाया जाता है। इस स्तोत्र से देखिएः—

शिवसंगीतसंमुग्धश्रीकृष्णांगसमुद्भवाम्।
राधांगद्रवसंयुक्तां तां गंगां प्रणमाम्यहम्॥

कृष्णजन्म खंड ही में शिव के संगीत का उल्लेख है। यहाँ यह भी लिखा है कि शिव-संगीत से देवगण भी द्रवीभूत हो गए। उनके शरीर का द्रव भी गंगा जल में मिला। देखिए:—

शरीरजा सुराणां सा बभूव सुरनिम्नगा।

इन्हीं पुराणों के आधार पर कवि ने चतुर्थ सर्ग लिखा है।

कवि ने इन भिन्न-भिन्न ग्रंथों से कथा लेकर अपने ग्रंथ की रचना की है। अपनी ओर से अधिक कल्पना नहीं की है। गोलोक के रास की कथा को वाल्मीकि रामायण की कथा के साथ बड़ी सफलता से मिलाया गया है। गरुड़ से मिलने की कथा तो रामायण में भी मिलती है। कवि ने गरुड़ जी का ही उपयोग कर अपना काम चलाया है। गरुड़जी गंगा का कुछ माहात्म्य कहते हैं। अंशुमान और आगे सुनने की उत्कंठा प्रकट करते हैं:—

स्रद्धा बढ़ी अपार अपर वृत्तांत सुनन की।
तब आनन सौं चुवत चारु सुभ सुमन चुनन की॥

कुँवर की विनय सुन कर गरुड़ जी का भी मन आगे की कथा सुनाने को होता है:—

हरिजानहु हिय हुलसि कहन-स्रद्धा सरसानी।
इमि मुख-मग ह्वै अति उदार बानी उमगानी॥

इस प्रकार दोनों कथाओं को मिलाने से कवि की प्रबंध-कल्पना की पटुता भी सूचित होती है।

इस ग्रंथ को लिखते समय कवि का उद्देश्य गंगा की भक्ति का प्रचार करना अवश्य रहा होगा। पर ग्रंथ में भक्ति का पोषण करनेवाली उतनी सामग्री नहीं प्राप्त होती। रत्नाकर जी की ही गंगा लहरी इस दृष्टि से अधिक सफल रचना कही जा सकती है। पर इसमें कवि का कोई दोष नहीं है। वह पौराणिक कथानक को एकदम परिवर्तित नहीं कर सकता था। किसी भी देवता में भक्ति का आलंबन होने के लिए कुछ आकर्षण चाहिए। इष्ट की ओर से भक्तों को धाढ़स बँधाने योग्य कुछ आश्वासन अवश्य मिलना चाहिए। पर गंगा इस विषय में पूर्ण उदासीन हैं। उन्हें भक्तों के प्रति कोई अनुराग नहीं। आकाश से उतरते समय के उनके उग्र रूप को देख कर भक्तों को भय ही लगेगा—

गंग कह्यौ उर भरि उमंग तौ गंग सही मैं।
निज तरंग-बल जौ हर-गिरि हर-संग मही मैं॥
लै स-बेग-बिक्रम पताल-पुरि तुरत सिधाऊँ।
ब्रह्मलोक कौं बहुरि पलटि कंदुक इव आऊँ॥

गंगा का ऐसा रूप उपस्थित करके कवि ने अपने कार्य में बाधा

डाली है। यदि इस समय गंगा का ध्यान संसार के आर्त्त प्राणियों की ओर जाता तथा वे दुखी प्राणियों का उत्साह बढ़ानेवाले कुछ वचन कहतीं तो भक्ति के अधिक उपयुक्त हुआ होता। ग्रंथ के अंतिम सर्ग में कवि ने गंगा की कृपा का कुछ उल्लेख किया है पर वह पर्य्याप्त नहीं हुआ। भगीरथ की बिनती सुन कर देवी प्रसन्न होती हैं:—

> नृप-अस्तुति सुनि उठी गंग-उर कृपा-फुरहरी।
> जल-तल पर लहरान लगी आनँद की लहरी॥
> यह धुनि मंजुल मधुर धार-कलकल तैं आई।
> धन्य भगीरथ भूप धन्य तव पुन्य-कमाई॥

इस समय यदि गंगा प्रकट हो जातीं तो अधिक उचित हुआ होता। उनको गुप्त ही रख कर कवि ने उन्हें भक्तों से कुछ दूर ही रहने दिया है। गंगा से वर माँगने की आज्ञा पाकर भगीरथ पापियों के उद्धार की प्रार्थना करते हैं:—

> पापी पतित स्वजाति-त्यक्त सौ सौ पीढ़िनि के।
> धर्म-बिरोधी कर्म-भ्रष्ट च्युत स्रुति-सीढ़िनि के॥
> तव जल स्रद्धा-सहित न्हाइ हरि नाम उचारत।
> ह्वै सब तन-मन सुद्ध होहिं भारत के भारत॥

नवम सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक गंगा की पर्वतों से लेकर गंगा-सागर तक की यात्रा का वर्णन है। इस वर्णन का कवि ने अनावश्यक बहुत विस्तार किया। काव्य के आदर्श की रक्षा नहीं हुई है। वे ही बातें उभादेनेवाली पुनरुक्तियों में कही गई हैं। गंगा की

धारा के ऊपर अनेक वस्तूत्प्रेक्षाएँ की गई हैं। स्त्रियों के नहाने के विस्तृत वर्णन हैं। कुछ वर्णन तो भक्ति काव्य की संयत मर्यादा का उल्लंघन कर गए हैं। देखिएः—

उचकावति कुच पीन खीन लंकहिं लचकावति।
अधर दबाइ हलाइ ग्रीव अंगनि मचकावति॥
सस्मित भृकुटि-बिलास करति करि त्रिकुटि तनेनी।
गावति मंगल चली संग सुर-सुंदरि-स्रेनी॥

ऐसी ही कुछ स्त्रियां को कवि ने कमला भी बनाया हैः—

भरि भरि गागरि चलति नवल नागरि सुख-दैनी।
ललकि लचावति लंक बंक चितवनि करि पैनी॥
धरि कमला बहु बपुष सुधा-निधि सों मनु आई।
सुधा निदरि भरि गंग बारि पेंड़ति छबि-छाई॥

कथा के रोचक बनाने के लिए कवि ने अन्य रसों की भी बीच बीच में योजना की है। वीर, करुण, शृंगार आदि मुख्य हैं। वात्सल्य तथा हास्य का भी हलका सा पुट मिलता है। गोलोक स्थित राधाकृष्ण का वणन बहुत प्रभाव डालनेवाला हुआ है। ऐसे वर्णन हमारे साहित्य में कम प्राप्त होते हैं। शंकर आदि की भाव-मुद्राओं का बहुत सुंदर चित्रण किया गया है। कवि को दृश्यों के चित्रण की स्थान स्थान पर आवश्यकता पड़ी है। कवि ने वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार की सहायता से दृश्यों के चित्रण किए हैं। यह अलंकार इस काव्य में बहुत सफल रहता है।

हिंदी में पद्माकर की गंगा लहरी को छोड़ इस विषय का और कोई ग्रंथ न था। गंगा लहरी भी स्तोत्र रूप में लिखी गई है, इसमें क्रमबद्ध कथा नहीं मिलती। इस विषय पर एक ग्रंथ की आवश्यकता थी। रत्नाकर जी ने गंगावतरण लिख कर उसकी पूर्ति की।

Krishnashanker Shukla
Kaviver Ratnaker